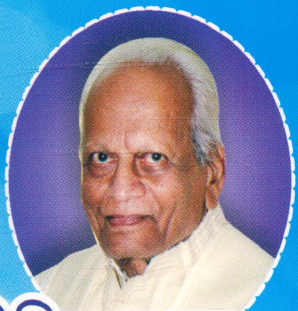
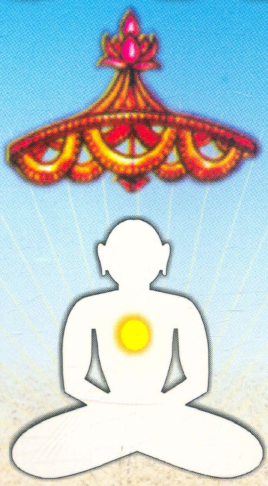
प्राच्य विद्यापीठ ग्रन्थमाला–64

डॉ. सागरमल जैन आलेख संग्रह भाग–4



जैन साहित्याकाश के अलोकित नक्षत्र

प्राचीन जैनाचार्य



डॉ. सागरमल जैन

प्रकाशक : प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र.)

समर्पण



प. पू. मालव सिंहनी
श्री वल्लभकुँवरजी म.सा.



प. पू. सेवामूर्ति
श्री पानकुँवरजी म.सा.



प. पू. सुप्रसिद्ध व्याख्यात्री
श्री हेमप्रभाश्रीजी म.सा.



प.पू.अध्यात्म रसिका
श्री मणिप्रभाश्रीजी म.सा.

प्राच्य विद्यापीठ ग्रंथमाला क्रमांक - 64
सागरमल जैन आलेख संग्रह भाग - 4

जैनधर्म के प्राचीन आचार्य

लेखक
डॉ. सागरमल जैन, एम.ए., पीएच.डी.
निदेशक- प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर

प्रकाशक - प्राच्य विद्यापीठ शाजापुर (म.प्र.)

प्राच्य विद्यापीठ ग्रंथमाला क्रमांक - 64
डॉ. सागरमल जैन आलेख संग्रह भाग - 4

जैनधर्म के प्राचीन आचार्य

लेखक :
डॉ. प्रो. सागरमल जैन

प्रकाशक - प्राच्य विद्यापीठ, दुपाड़ा रोड, शाजापुर (म.प्र.)
फोन नं. 07364 - 22218
email - sagarmal.jain@gmail.com

प्रकाशन वर्ष 2016

कापीराइट - लेखक डॉ. सागरमल जैन

मूल्य - रुपए 200/-

सम्पूर्ण सेट (लगभग 25 भाग) - 5000/-

मुद्रक – आकृति ऑफसेट, नई पेठ, उज्जैन (म.प्र.)

प्रकाशकीय

डॉ. सागरमल जैन जैन विद्या एवं भारतीय विद्याओं के बहुश्रुत विद्वान हैं। उनके विचार एवं आलेख विगत 50 वर्षों से यत्रतत्र विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं और संस्कृत, प्राकृत एवं हिन्दी के विभिन्न ग्रंथों की भूमिकाओं के रूप में प्रकाशित होतेरहेहैं। उन सबको एकत्रित कर प्रकाशित करने के प्रयास भी अल्प ही हुए हैं। प्रथमतः उनके लगभग 100 आलेख सागरमल जैन अभिनंदन ग्रंथ में और लगभग 120 आलेख - श्रमण के विशेषांकों के रूप में 'सागर जैन विद्या भारती' में अथवा 'जैन धर्म एवं संस्कृति' के नाम से सात भागों में प्रकाशित हुए हैं। किंतु डॉ. जैन के लेखों की संख्या ही 320 से अधिक हैं। साथ ही उन्होंने संस्कृत एवं प्राकृत तथा जैन धर्म और संस्कृति से सम्बंधित अनेक ग्रंथ की विस्तृत भूमिकाएं भी लिखी हैं। उनका यह समस्त लेखन प्रकीर्ण रूप से बिखरा पड़ा है। विषयानुरूप उसका संकलन भी नहीं हुआ है, उनके अनेक ग्रंथ भी अब पुनः प्रकाशन की अपेक्षा रख रहे हैं, किंतु छह-सात हजार पृष्ठों की इस विपुल सामग्री को समाहित कर प्रकाशित करना हमारे लिए सम्भव नहीं था- साध्वीवर्या सौम्यगुणा श्री जी का सुझाव रहा कि प्रथम क्रम में उनके वीकीर्ण आलेखों को ही एक स्थान पर एकत्रित कर प्रकाशित करने का प्रयत्न किया जाए। उनकी यह प्रेरणा हमारे लिए मार्गदर्शक बनी और हमने डॉ. सागरमल जैन के आलेखों को संग्रहित करने का प्रयत्न किया। कार्य बहुत विशाल है, किंतु जितना सहज रूप से प्राप्त हो सकेगा- उतना ही प्रकाशित करनेका प्रयत्न किया जाएगा। अनेक प्राचीन पत्र-पत्रिकाएं पहले हाथ से ही कम्पोज होकर प्रिंट होती थी, साथ ही वे विभिन्न आकारों और विविध प्रकार के अक्षरों से मुद्रित होती थी, उन सब को एक साइज में और एक ही फॉण्ट में प्रकाशित करना भी कठिन था- अतः उनको पुनः प्रकाशित करने हेतु उनका पुनः टंकण एवं प्रुफरीडिंग आवश्यक था। हमारे पुनः टंकण के कार्य में सहयोग किया श्री दिलीप नागर ने एवं प्रुफ संशोधन के कार्य में सहयोग किया- श्री चैतन्य जी सोनी एवं श्री नरेन्द्र जी गौड़ ने हम इनके एवं मुद्रक आकृति ऑफसेट उज्जैन के आभारी हैं।

नरेंद्र जैन

एवं

ट्रस्ट मण्डल प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर

अनुक्रमणिका

क्र.	विषय सूचि	पेज क्र.
1.	आचार्य भद्रबाहु	1
2.	आचार्य उमास्वाति	27
3.	आचार्य धरसेन	49
4.	पुष्पदन्त और भूतबलि और उनका ग्रंथ षट्खण्डागम	55
5.	आचार्य कुन्दकुन्द	66
6.	आचार्य सिद्धसेन दिवाकर	77
7.	शिवार्य और उनकी भगवती आराधना	99
8.	समदर्शी आचार्य हरिभद्र	109
9.	जटासिंहनन्दी और उनका वरांगचरित्र	169
10.	अपभ्रंश के महाकवि स्वयम्भू	182
11.	यतिवृषभ और उनके कसायपाहुड के चूर्णिसूत्र और तिलोयपण्णति	191
12.	पाल्यकीर्ति शाकटायन और उनका व्याकरण	202
13.	आचार्य हेमचंद्र : एक युगपुरुष	208

1- आचार्य भद्रबाहु

(ईस्वी पूर्व 3री शती)

चरम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु जैन धर्म की सभी परंपराओं के द्वारा मान्य रहे हैं। कल्पसूत्र स्थविरावली के प्राचीनतम उल्लेख से लेकर परवर्ती ग्रंथों के संदर्भों के आधार पर उनके व्यक्तित्व और कृतित्व को लेकर आधुनिक युग में पर्याप्त उहापोह या विचार-विमर्श हुआ है, किन्तु उनके जीवनवृत्त और कृतित्व के संबंध में ईसा पूर्व से लेकर ईसा की पन्द्रहवीं शती तक लिखित विभिन्न ग्रंथों में जो भी उल्लेख प्राप्त होते हैं, उनमें इतना मतवैभिन्न्य है कि सामान्य पाठक किसी समीचीन निष्कर्ष पर पहुँच नहीं पाता है। भद्रबाहु के चरित्र लेखकों ने उनके संबंध में जो कुछ लिखा है, वह अनुश्रुतियों एवं स्वैर कल्पनाओं का ऐसा मिश्रण है, जिसमें से सत्य को खोज पाना एक कठिन समस्या है। आर्यभद्र या भद्रबाहु नामक विविध आचार्यों के संबंध में जो कुछ अनुश्रुति से प्राप्त हुआ, उसे चतुर्दश पूर्वधर और द्वादशांगी के ज्ञाता श्वेताम्बर परंपरा के अनुसार भगवान् महावीर के सप्तम पट्टधर और दिगंबर परंपरा के अनुसार अष्टम पट्टधर चरम श्रुतकेवली आर्य भद्रबाहु के साथ जोड़ दिया गया है। यही कारण है कि उनके जीवनवृत्त और कृतित्व के संबंध में एक भ्रमपूर्ण स्थिति बनी हुई है और अनेक परवर्ती घटनाक्रम और कृतियाँ उनके नाम के साथ जुड़ गई हैं।

ज्ञातव्य है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर परंपराओं में आर्य भद्रबाहु अथवा आर्यभद्र नामक अनेक आचार्य हुए हैं। परवर्ती लेखकों ने नाम साम्य के आधार पर उनके जीवन के घटनाक्रमों और कृतित्व को भी चरम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु के साथ जोड़ दिया। मात्र यही नहीं, कहीं-कहीं तो अपनी साम्प्रदायिक मान्यताओं को परिपुष्ट करने के लिये स्व- कल्पना से प्रसूत अंश भी उनके जीवनवृत्त के साथ मिला दिये गये हैं। इस संबंध में आचार्य हस्तीमलजी ने अपने ग्रंथ **'जैन धर्म का मौलिक इतिहास'** भाग-2, पृष्ट 327 पर जो कुछ लिखा है, वह निष्पक्ष एवं तुलनात्मक दृष्टि से इतिहास के शोधार्थियों के लिये विचारणीय है।

वे लिखते हैं- ''भद्रबाहु के जीवन-चरित्रविषयक दोनों परंपराओं के ग्रंथों का समीचीनतया अध्ययन करने से एक बड़ा आश्चर्यजनक तथ्य प्रकट होता है कि न श्वेताम्बर परंपरा के ग्रंथों में आचार्य भद्रबाहु के जीवन-चरित्र के संबंध में मतैक्य है और न दिगम्बर परंपरा के ग्रंथों में ही। भद्रबाहु के जीवन संबंधी दोनों परंपराओं के

विभिन्न ग्रंथों को पढ़ने में एक निष्पक्ष व्यक्ति को स्पष्ट रूप से ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवतः दोनों परंपराओं के अनेक ग्रंथों में भद्रबाहु नाम वाले दो-तीन आचार्यों के जीवन-चरित्रों की घटनाओं को गड्ड-मड्ड करके अंतिम चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु के जीवन चरित्र के साथ जोड़ दिया गया है। पश्चात्वर्ती आचार्यों द्वारा लिखे गये कुछ ग्रंथों का, उनसे पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा लिखित ग्रंथों के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने पर स्पष्टरूपेण आभासित होता है कि भद्रबाहु के चरित्र के पश्चात्वर्ती आचार्यों ने अपनी कल्पनाओं के आधार पर कुछ घटनाओं को जोड़ा है। उन्होंने ऐसा अपनी मान्यताओं के अनुकूल वातावरण बनाने के अभिप्राय से किया अथवा और किसी अन्य दृष्टि से किया, यह निर्णय तो तुलनात्मक अध्ययन के पश्चात् पाठक स्वयं ही निष्पक्ष बुद्धि से कर सकते हैं ।[1]

आचार्य भद्रबाहु के जीवनवृत्त एवं उनके नाम से प्रचलित कृतियों के संबंध में समीक्षात्मक दृष्टि से अध्ययन करने का श्रेय जिन पाश्चात्य भारतीय विद्याविदो को जाता है, उनमें प्रोफेसर हर्मन जाकोबी प्रथम हैं। उन्होंने सर्वप्रथम यह प्रतिपादित किया कि पाइन्न (प्राच्य) गोत्रीय श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु को नियुक्तियों का कर्त्ता मानना भ्रांति है, क्योंकि निर्युक्तियाँ वीर निर्वाण संवत् 584 से 609 के बीच रचित हैं, जबकि श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु तो वीर निर्वाण संवत् 162 (दिगंबर मान्यता) अथवा वीर निर्वाण संवत् 170 (श्वेताम्बर मान्यता) में स्वर्गस्थ हो चुके थे ।[2] इस संबंध में समीक्षात्मक दृष्टि से जिन भारतीय विद्वानों ने चिंतन किया है, उनमें मुनिश्री पुण्यविजयजी, मुनिश्री कल्याणविजयजी, पं. सुखलालजी, पं. दलसुखभाई, आचार्य हस्तीमलजी, आचार्य महाप्रज्ञजी, साध्वीवर्या संघमित्राजी आदि प्रमुख हैं। दिगंबर परंपरा के विद्वान् डॉ. राजारामजी ने भी रइधूकृत भद्रबाहु चरित्र (*पंद्रहवीं* शती) की भूमिका में समीक्षात्मक दृष्टि से विचार किया है, फिर भी उन्होंने अपनी दृष्टि को, दिगंबर स्त्रोतों को प्रामाणिक मानते हुए, उन्हीं पर विशेष रूप से केन्द्रित रखा है, जबकि आचार्य हस्तीमलजी, मुनिश्री कल्याणविजयजी और साध्वी संघमित्राजी ने दोनों परंपराओं के मूलस्त्रोतों का अध्ययन कर अपना समीक्षात्मक चिंतन प्रस्तुत किया है।

विशेष रूप से निर्युक्तियों के कर्त्ता के प्रश्न को लेकर प्रो. हर्मन जाकोबी, मुनि पुण्यविजयजी, आचार्य हस्तीमलजी, आचार्य महाप्रज्ञजी, समणी कुसुमप्रज्ञाजी एवं स्वयं मैंने भी समीक्षात्मक विवेचन प्रस्तुत किये हैं, इनमें समणी कुसुमप्रज्ञाजी को

छोड़कर शेष सभी इस संबंध में एकमत हैं कि निर्युक्तियाँ प्राच्य गोत्रीय आचार्य भद्रबाहु की कृतियाँ नहीं हैं, किन्तु वे किसकी कृतियाँ हैं, इस सम्बन्ध में इन सभी के बीच भी मतवैभिन्य है। इसकी विस्तृत चर्चा हम आगे भद्रबाहु के कृतित्व के संबंध में विचार करते समय करेंगे।

आचार्य भद्रबाहु का जीवनवृत्त

श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु प्रथम के दीक्षा पर्याय के पूर्व के जीवन-वृत्त के संबंध में प्राचीन आगमिक प्रमाण प्रायः अनुपलब्ध हैं। कल्पसूत्र एवं नंदीसूत्र की स्थविरावली में उनका जो निर्देश मिलता है, उसमें कल्पसूत्र में उनके गुरु के रूप में यशोभद्र का, शिष्यों के रूप में गोदास, अग्निदत्त, जिनदत्त और सोमदत्त का उल्लेख है। साथ ही, भद्रबाहु के शिष्य गोदास से गोदासगण प्रारंभ होने और उसकी ताम्रलिप्तिका, कोटिवर्षीया, पौण्डवर्द्धनिका और दासीखर्बटिका नामक चार शाखाएँ होने का निर्देश हैं।[3] यहाँ उनके गृही जीवन से संबंधित दो ही तथ्य उपलब्ध होते हैं- एक तो यह कि उनका गोत्र पाइत्र था, क्योंकि कल्पसूत्र, नंदीसूत्र और दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति- तीनों में ही उनके गोत्र को 'पाइन्न' कहा गया है। इस उल्लेख की प्रामाणिकता के संबंध में कोई भी शंका नहीं की जा सकती है, क्योंकि उपलब्ध सूचनाओं में ये निर्देश प्राचीनतम और सभी ईसा की पांचवीं शती के पूर्व हैं, फिर भी 'पाइन्न' का जो अर्थ पूर्ववर्ती और परवर्ती आचार्यों एवं विद्वानों ने किया है, वह मुझे समुचित प्रतीत नहीं होता है। प्रायः सभी ने इसका संस्कृत रूपांतरण 'प्राचीन' माना है, जिसका अर्थ पुरातन होता है और इसी आधार पर आचार्य हस्तीमलजी ने तो यह सिद्ध करने का भी प्रयत्न किया है कि "किसी परवर्ती भद्रबाहु की अपेक्षा पूर्ववर्ती होने से उन्हें प्राचीन कहा गया है"[4], किन्तु मेरी दृष्टि में 'पाइन्न' का अर्थ पौर्वात्य अर्थात् प्राची या पूर्व दिशा का निवासी करना चाहिये। मध्यप्रदेश के ब्राह्मणों में आज भी औदीच्य नामक एक वर्ग है, जो अपने को पूर्व दिशा से आया हुआ मानता है। सरयूपारीय, पुरवइयां आदि भी पौर्वात्य ब्राह्मण जातियाँ हैं, इससे यह भी फलित होता है- भद्रबाहु भारत के अथवा बिहार के पूर्वीय प्रदेश बंगाल के निवासी थे। उनकी शिष्य परंपरा में कोटिवर्षीया, पौण्डवर्द्धनिका और ताम्रलिप्तिका आदि जो शाखाएँ बनी हैं, वे उन्हीं नगरों के नाम पर हैं, जो बंगाल में विशेष रूप से उसके पूर्वी भाग में स्थित हैं, अतः भद्रबाहु के पाइन्न नाम गोत्र का फलितार्थ यह है कि वे पौर्वात्य ब्राह्मण थे।

भद्रबाहु के जन्म-स्थान को लेकर उनसे संबंधित परवर्ती कथानकों में वैविध्य एवं विसंवाद की स्थिति है। कल्पसूत्र, नंदीसूत्र, दशाश्रुतस्कंध की निर्युक्ति, तित्थोगालीपइन्ना, गच्छाचारपइन्ना आदि प्राचीन स्तर के श्वेताम्बर ग्रंथों में उनके जन्म स्थान का कोई उल्लेख नहीं है - परवर्ती श्वेताम्बर ग्रंथों - गच्छाचार की दोघट्टीवृति और प्रबंधकोश[5] में उन्हें प्रतिष्ठानपुर (वर्त्तमान पैठन, महाराष्ट्र) का निवासी बताया है। प्रबन्धचिन्तामणि में यद्यपि भद्रबाहु के निवास स्थान का तो कोई उल्लेख नहीं है, किन्तु उनके तथाकथित भाई वराहमिहिर को पाटलिपुत्र का निवासी कहा गया है।[6] ज्ञातव्य है कि प्रतिष्ठानपुर जहाँ दक्षिण महाराष्ट्र में है, वहाँ पाटलीपुत्र (पटना) उत्तर बिहार में है, इस प्रकार जन्म स्थान को लेकर श्वेताम्बर स्त्रोतों में विप्रतिपत्ति है। दिगंबर परंपरा के ग्रंथ भावसंग्रह में उन्हें उज्जैन के साथ जोड़ा गया है।[7] पुन्नाटसंघीय यापनीय हरिषेण ने अपने ग्रंथ बृहत्कथाकोष (ई. 932) में भद्रबाहु के जीवनवृत्त का उल्लेख किया है- उनके अनुसार, प्राचीन काल में पुण्डवर्धन राज्य में कोटिपुर नगर (देवकोट्ट) में राजपुरोहित सोमशर्मा की धर्मपत्नी सोमश्री की कुक्षि से भद्रबाहु का जन्म हुआ, किन्तु उन्होंने भी इस कोटिपुर को उर्ज्जयन्त पर्वत (गिरनार) के मार्ग में कहीं गुजरात में स्थित मान लिया है- जो भ्रांति है।[8] वस्तुतः, यह कोटिपुर न होकर कोटिवर्ष था, जो बंगाल में पुण्डवर्धन के समीप स्थित रहा होगा। कोटिवर्ष के भद्रबाहु के जन्म स्थान होने की संभावना हमें सत्य के निकट प्रतीत होती है, क्योंकि आगमों में भद्रबाहु के शिष्य गोदास से प्रारंभ हुए गोदासगण की दो शाखाओं का नाम कोटिवर्षीया और पौण्डावर्द्धनिका के रूप में उल्लिखित है। रत्ननंदी ने अपने भद्रबाहुकथानक में जन्म स्थान और माता-पिता के नाम आदि के संबंध में प्रायः हरिषेण का ही अनुसरण किया है। रइधू ने अपने भद्रबाहुकथानक में माता-पिता और राजा आदि के नाम तो वही रखे, किन्तु कोटिपुर को कउत्तुकपुर (कौतुकपुर) कर दिया है।[9]

जन्म-स्थल एवं निवास क्षेत्र के इन समस्त उल्लेखों की समीक्षा करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वस्तुतः पाइन्न गोत्रीय श्रुतकेवली भद्रबाहु का जन्म-स्थल पौण्डवर्धन देश का कोटिवर्ष नगर ही रहा है, किन्तु हरिषेण ने उसे जो गुजरात में स्थित माना, वह भ्रांतिपूर्ण है। वस्तुतः, यह नगर बंगदेश के उत्तर-पूर्व में और चम्पा (आधुनिक भागलपुर) से दक्षिण-पूर्व में लगभग 100 किलोमीटर की दूरी पर स्थित था। श्वेताम्बर आचार्यों ने प्रबंधकोश आदि में जो उसे प्रतिष्ठानपुर से समीकृत किया

है, वह भी भ्रांत है। उसका संबंध नैमित्तिक भद्रबाहु, जो वराहमिहिर के भाई थे, से तो हो सकता है, किन्तु श्रुतकेवली भद्रबाहु से नहीं हो सकता है।

जहाँ तक भद्रबाहु के विचरण क्षेत्र का प्रश्न है- श्वेताम्बर परंपरा के अनुसार उनका विचरण क्षेत्र उत्तर में नेपाल के तराई प्रदेश से लेकर दक्षिण बंगाल के ताम्रलिप्ति तक प्रतीत होता है। उनके द्वारा 12 वर्ष तक नेपाल की तराई में साधना करने का उल्लेख तित्थोगालीपइन्ना (तीर्थोद्गालिक प्रकीर्णक-लगभग 5वीं-6ठी शती) एवं आवश्यक चूर्णी (7वीं शती) आदि अनेक श्वेताम्बर स्त्रोतों से प्राप्त होता है।[10] यद्यपि दिगंबर स्त्रोतों से इस संबंध में कोई सङ्केत उपलब्ध नहीं होता है, फिर भी इसकी प्रामाणिकता संदेहास्पद नहीं लगती है।

जहाँ तक उनकी दक्षिण यात्रा का प्रश्न है- इस संबंध में श्वेताम्बर स्त्रोत प्रायः मौन हैं, दिगंबर स्त्रोतों में भी अनेक विप्रतिपत्तियाँ हैं। भाव संग्रह में आचार्य विमलसेन के शिष्य देवसेन ने श्वेताम्बर मत की उत्पत्ति के प्रसंग में निमित्तशास्त्र के पारगामी आचार्य भद्रबाहु द्वारा उज्जयिनी में बारह वर्षीय दुष्काल की भविष्यवाणी का उल्लेख किया है, जिसके परिणामस्वरूप अनेक गणनायकों ने अपने-अपने शिष्यों के साथ विभिन्न प्रदेशों में विहार किया। शांति नामक आचार्य सौराष्ट्र देश के वल्लभी नगर पहुँचे- जहाँ विक्रम की मृत्यु के 136 वर्ष पश्चात् श्वेताम्बर संघ की उत्पत्ति हुई।[11] इस प्रकार इस कथानक में भद्रबाहु के दक्षिण देश में बिहार का और चन्द्रगुप्त की दीक्षा का कोई उल्लेख नहीं है। पुनः, इसमें जिन नैमित्तिक भद्रबाहु का उल्लेख है, उनका सत्ताकाल विक्रम की दूसरी शताब्दी मान लिया गया है, जो भ्रांत प्रतीत होता है। आचार्य हरिषेण के बृहत्कथाकोश में भद्रबाहु द्वारा बारह वर्षीय दुष्काल की भविष्यवाणी करने, उज्जयिनी के राजा चंद्रगुप्त द्वारा दीक्षा ग्रहण कर भद्रबाहु से दस पूर्वों का अध्ययन करने तथा विशाखाचार्य के नाम से दक्षिणपथ के पुन्नाट देश (कर्नाटक) जाने और रामिल्ल, स्थूलाचार्य और स्थूलिभद्र के सिन्धु सौवीर देश जाने का निर्देश किया है, किन्तु उन्होंने आचार्य भद्रबाहु द्वारा उज्जयिनी के समीपवर्ती भाद्रपद देश (संभवतः वर्त्तमान मंदसौर का समीपवर्ती प्रदेश) में अनशन करने का उल्लेख किया है।[12]

इस प्रकार न केवल श्वेतांबर स्त्रोतों में, अपितु हरिषेण के बृहत्कथाकोश,[13] श्रीचंद्र के अपभ्रंश भाषा में ग्रंथ कहाकोसु (वि. 12वीं शती) और देवसेन के

भावसंग्रह में भी भद्रबाहु के दक्षिण देश जाने का कोई उल्लेख नहीं है। बृहत्कथाकोश आदि में उनके शिष्य विशाखाचार्य के दक्षिण देश में जाने का उल्लेख है,[14] किन्तु स्वयं उनका नहीं। उनके स्वयं दक्षिण देश में जाने के जो उल्लेख मिलते हैं, वे रामचंद्र मुमुक्षु के पुण्यास्रवकथाकोश[15] (12वीं शती), रइधू के भद्रबाहुकथानक[16] (15वीं शती) और रत्ननंदी के भद्रबाहुचरित्र[17] (16वीं शती) के हैं। इनमें भी जहाँ पुण्यास्रवकथाकोश में उनके मगध से दक्षिण जाने का उल्लेख है, वही रत्ननंदी के भद्रबाहुचरित्र में अवंतिका से दक्षिण जाने का उल्लेख है। इन विप्रतिपत्तियों को देखते हुए ऐसा लगता है कि कथानक 10वीं से 16वीं शती के मध्य रचित होने से पर्याप्त रूप से परवर्ती हैं और अनुश्रुतियों या लेखक की निजी कल्पना पर आधारित होने से काल्पनिक ही अधिक लगते हैं। यद्यपि डॉ. राजरामजी ने इसका समाधान करते हुए यह लिखा है कि 'यह बहुत संभव है कि आचार्य भद्रबाहु अपने विहार में मगध से दुष्काल प्रारंभ होने के कुछ दिन पूर्व चले हों और उच्छकल्प (वर्त्तमान-उचेहरा, जो उच्चैर्नागर शाखा का उत्पत्ति स्थल भी है) होते हुए उज्जयिनी और फिर वहाँ से दक्षिण की ओर स्वयं गये हों, या स्वयं वहाँ रुककर अपने साधु-संतों को दक्षिण की ओर जाने का आदेश दिया हो,[18] किन्तु मेरी दृष्टि में जब मगध से पूर्वी समुद्रीतट से ताम्रलिप्ति होते हुए दक्षिण जाने का सीधा मार्ग था, तो फिर दुष्कालयुक्त मध्य देश में उज्जयिनी होकर दक्षिण जाने का क्या औचित्य था? यह समझ में नहीं आता।

मेरी दृष्टि में इन कथानकों में संभावित सत्य यही है कि चाहे दुष्काल की परिस्थिति में भद्रबाहु ने अपने मुनि संघ को दक्षिण में भेजा हो, किन्तु वे स्वयं तो मगध में या नेपाल की तराई में ही स्थित रहे, क्योंकि वहाँ उनकी ध्यान साधना के जो निर्देश हैं, वे तित्थोगाली[19] (लगभग 5वीं शती) और चूर्णि साहित्य[20] (लगभग 7वीं शती) के होने से इन कथानकों की अपेक्षा न केवल प्राचीन हैं, अपितु प्रामाणिक भी लगते हैं। पुनः, ध्यान साधना का यह उल्लेख बारह वर्षीय दुष्काल के पश्चात् पाटलिपुत्र की स्थूलिभद्र की वाचना के समय का है, अतः श्रुतकेवली भद्रबाहु के दक्षिण जाने के उल्लेख प्रामाणिक नहीं हैं। इसमें सत्यांश केवल इतना ही प्रतीत होता है कि भद्रबाहु तो अपनी वृद्धावस्था के कारण उत्तर भारत के मगध एवं तराई प्रदेश में स्थित रहे, किन्तु उन्होंने अपने शिष्य परिवार को अवश्य दक्षिण में भेजा था।

निर्ग्रन्थ मुनिसंघ की लंका एवं तमिल प्रदेश में ई.पू. में उपस्थिति के

अभिलेखीय एवं बौद्ध साहित्य के संकेत भी इस तथ्य की पुष्टि करते हैं।[21] पुनः, वड्डमाणु (आंध्रप्रदेश) में हुई खुदाई में गोदासगण का अभिलेखीय साक्ष्य[22] भी इस तथ्य की पुष्टि अवश्य करता है कि भद्रबाहु की शिष्य परंपरा या तो ताम्रलिप्ति से जलमार्ग द्वारा या फिर बंगाल और उड़ीसा के स्थल मार्ग से आंध्रप्रदेश होकर लंका एवं तमिलनाडु पहुँची थी।

यहाँ इसी प्रसंग में श्रवणबेलगोला स्थित चंद्रगिरि पर्वत एवं पार्श्वनाथ वसति के अभिलेखों की प्रामाणिकता की चर्चा करना भी अपेक्षित है। श्रवणबेलगोला के चन्द्रगिरि परर्वत पर शक संवत् 572 अर्थात् विक्रम संवत् 707 ईस्वी सन् 650 का शिलालेख है,[23] उसमें भद्रबाहु और चंद्रगुप्त के उल्लेख हैं। जहाँ तक चंद्रगिरि के अभिलेख का प्रश्न है, उसमें न तो भद्रबाहु को श्रुतकेवली कहा है और न चंद्रगुप्त को मौर्यवंशीय। अतः, यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है कि इसमें उल्लेखित भद्रबाहु को श्रुतकेवली भद्रबाहु और चंद्रगुप्त को चंद्रगुप्त मौर्य माना जाये या भद्रबाहु को वराहमिहिर के भाई भद्रबाहु और चंद्रगुप्त को चंद्रगुप्त नामक कोई गुप्तवंशीय राजा माना जाये।

पार्श्वनाथवसति के इससे भी 50 वर्ष पूर्व शक संवत् 533 या ई. सन् 600 के एक अभिलेख में स्पष्ट रूप से श्रुतकेवली भद्रबाहु और नैमित्तिक भद्रबाहु-ऐसे दो भद्रबाहु का उल्लेख है।[24] इसमें श्रुतकेवली भद्रबाहु के पश्चात् विशाख आदि सात आचार्यों का उल्लेख करके फिर गुरु परंपरा के क्रम से भद्रबाहु स्वामी का उल्लेख है और उनके आदेश से सर्वसंघ का उज्जैन से दक्षिण पथ जाने का निर्देश है- इससे ऐसा प्रतीत होता है, ये भद्रबाहु वराहमिहिर के भाई नैमित्तिक भद्रबाहु होंगे। वराहमिहिर के पंचसिद्धान्तिका नामक ग्रंथ की प्रशस्ति के आधार पर उनका काल शक संवत् 437 (ई. सन् 505) विक्रम सं. 562 सिद्ध होता है,[25] अतः ये अभिलेखीय उल्लेख नैमित्तिक भद्रबाहु से संबंधित हो सकते हैं और इसमें उल्लेखित चंद्रगुप्त, चंद्रगुप्त मौर्य न होकर चंद्रगुप्त नामक कोई अन्य राजा होगा। अभिलेखों एवं नैमित्तिक भद्रबाहु की कालिक समानता भी इसका प्रमाण है।

ज्ञातव्य है कि रइधू ने अपने भद्रबाहुचरित्र में जिस चंद्रगुप्त के भद्रबाहु से दीक्षित होने की बात कही है, उसे चंद्रगुप्त मौर्य न मानकर उसके पौत्र अशोक का पौत्र बताया है।[26] कुछ दिगंबर विद्वानों ने इसकी पहचान सम्प्रति से की है, किन्तु न तो, सम्प्रति का नाम

चंद्रगुप्त था- ऐसा कोई प्रमाण मिलता है और न श्रुतकेवली भद्रबाहु से अशोक के पौत्र चंद्रगुप्त की समकालिकता ही सिद्ध होती है। अतः, इस कथानक में स्वैर कवि-कल्पना ही अधिक परिलक्षित होती है।

श्वेताम्बर प्रबंधों में भी नैमित्तिक भद्रबाहु को प्रतिष्ठानपुर (पैठण-दक्षिण महाराष्ट्र) का निवासी माना गया है, अतः इनका संबंध दक्षिण में कर्नाटक की यात्रा से हो सकता है। पुनः, श्रुतकेवली भद्रबाहु के संबंध में ये अभिलेख इसलिये भी प्रामाणिक नहीं लगते हैं कि ये उनके स्वर्गवास से एक हजार वर्ष बाद के हैं, अतः श्रुतकेवली भद्रबाहु के संबंध में इनकी प्रामाणिकता एक अनुश्रुति से अधिक नहीं मानी जा सकती है। हाँ, यदि ये नैमित्तिक भद्रबाहु से संबंधित हैं, तो इनकी प्रामाणिकता एवं विश्वसनीयता काफी बढ़ जाती है, क्योंकि दोनों के काल में मात्र 150 वर्ष का अंतर है। इस चर्चा से यह भी ज्ञात हो जाता है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु और नैमित्तिक भद्रबाहु में लगभग 800 वर्षों का लंबा अंतराल है।

श्वेताम्बर परंपरा के ग्रंथों में श्रुतकेवली भद्रबाहु के कार्यों में उनके द्वारा महाप्राण नामक ध्यान की साधना करने एवं स्थूलिभद्र को 14 पूर्वों की वाचना देने की संपूर्ण घटना का विवरण आवश्यकनिर्युक्ति (लगभग 3री शती) एवं तित्थोगालीपइण्णा[27] (तीर्थोद्गालिक प्रकीर्णक-लगभग 5वीं शती) में मिलता है। संक्षेप में, द्वादशवर्षीय दुष्काल के बाद श्रमण संघ पाटलीपुत्र में एकत्रित हुआ था। अंग साहित्य को व्यवस्थित करने हेतु आगमों की इस प्रथम वाचना का आयोजन हुआ- उसमें ग्यारह अंगों का पुनः संकलन किया गया, किन्तु दृष्टिवाद एवं पूर्वों का संकलन नहीं हो सका, क्योंकि उस वाचना में इनको संपूर्ण रूप से जानने वाला कोई भी श्रमण उपस्थित नहीं था। उस समय दृष्टिवाद और 14 पूर्वों के संपूर्ण ज्ञाता मात्र भद्रबाहु ही थे, जो नेपाल में महाप्राण ध्यान की साधना कर रहे थे। श्रमण संघ के प्रतिनिधि के रूप में कुछ मुनि पाटलीपत्तन (पटना) से नेपाल की तराई में गये और उनसे वाचना देने की प्रार्थना की, भद्रबाहु ने अपनी ध्यान साधना में विघ्न रूप मानकर वाचना देने से इंकार कर दिया। वाचना देने से इंकार करने कर संघ द्वारा बहिष्कृत करने/सम्भोग विच्छेद रूप दण्ड का निर्देश देने के कारण वे पुनः वाचना देने में सहमत होते हैं। स्थूलिभद्र के साथ कुछ मुनि वाचना लेने जाते हैं, प्रारंभ में वाचना मंथर गति से चलती है। स्थूलिभद्र को छोड़कर शेष मुनि- संघ निराश होकर लौट आता है। स्थूलिभद्र की दस पूर्वों की

वाचना की पूर्णता पर यक्षा आदि उनकी बहनों का आना-उनके द्वारा सिंह का रूप बनाना-उनके इस व्यवहार से खिन्न होकर भद्रबाहु का वाचना देने से इंकार करना, अत्यधिक विनय करने पर शेष चार पूर्वों की शब्द रूप से वाचना देना-आदि कुछ घटनाएँ वर्णित हैं, जिनकी सूचना अनेक श्वेताम्बर स्त्रोतों से प्रायः समान रूप से प्राप्त होती है, किन्तु ये सभी स्त्रोत भी ईसा की तीसरी-चौथी सदी से पूर्व के नहीं हैं, अर्थात् पाँच सौ वर्षों के पश्चात् लिपिबद्ध हुए हैं, फिर भी स्थूलिभद्र के सिंह रूप की विकुर्वणा के अतिरिक्त इसमें ऐसा कुछ भी नहीं है, जिनकी प्रामाणिकता पर प्रश्न चिह्न लगाया जा सके। इस संपूर्ण विवरण से जो मुख्य बातें उभर कर सामने आती हैं, वे निम्न हैं- वाचना के समय भद्रबाहु अपनी वृद्धावस्था के कारण अपनी वैयक्तिक साधना को ही महत्वपूर्ण मानकर अनुपस्थित रहे। हो सकता है कि संघीय कार्यों के प्रति उनकी इस अन्यमनस्कता के कुछ अन्य भी कारण हों । स्थूलिभद्र भी उन्हें अपने व्यवहार से पूर्ण संतुष्ट नहीं कर सके, फलतः उन्हें दी जाने वाली वाचना भी मध्य में 10 पूर्वों के बाद रोक दी गई।

ज्ञातव्य है कि दिगंबर स्त्रोतों में इस आगम-वाचना का कोई निर्देश नहीं है। इसके स्थान पर दिगंबर स्त्रोत आचार के प्रश्नों पर, विशेष रूप से वस्त्र-पात्र-कम्बल संबंधी विवाद के आधार पर श्वेतांबर और यापनीय परंपराओं के उद्भव की बात करते हैं। यद्यपि इस संबंध में दिगंबर स्त्रोतों में जो विप्रतिपत्तियाँ हैं, उसकी चर्चा तो मैं बाद में करूंगा, किन्तु इतना दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु के काल में श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय सम्प्रदायों के रूप में स्पष्ट संघ-भेद नहीं हुआ था- क्योंकि श्वेताम्बर (श्वेतपट्ट), दिगम्बर (निर्ग्रन्थ) यापनीय एवं कूर्चक आदि सम्प्रदायों के अस्तित्व संबंधी जो भी साहित्यिक एवं अभिलेखीय प्रमाण मिलते हैं, वे सभी ईसा की चतुर्थ एवं पंचम शताब्दी से ही मिलते हैं। साहित्यिक स्त्रोतों में सर्वप्रथम विमलसूरि के 'पउमचरियं' में सियम्बर/ सियम्बरा शब्द मिलता है।[28] इसमें सीता को दीक्षित अवस्था में सियम्बरा और एक अन्य प्रसंग में एक मुनि को सियम्बर कहा गया है। यह मात्र एक विशेषण है या सम्प्रदाय भेद का सूचक है, यह निर्णय कर पाना कठिन है । सम्प्रदाय भेद के रूप में इन शब्दों का सर्वप्रथम प्रयोग हल्सी (धारवाड़-उत्तरी कर्णाटक) के अभिलेख में मिलता है,[29] जो ईसा की पाँचवीं शती का है। इस अभिलेख में निर्ग्रन्थ, श्वेतपट्ट, यापनीय, कूर्चक- ऐसे चार जैन सम्प्रदायों का

उल्लेख है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि स्पष्ट संघ भेद ईसा की पांचवीं शती की घटना है, जिसका संबंध चाहे किसी रूप में नैमित्तिक भद्रबाहु से तो हो सकता है, किन्तु श्रुतकेवली भद्रबाहु से कदापि नहीं है। इसका यह अर्थ भी नहीं है कि दिगम्बर स्रोतों में जो वस्त्र पात्र विवाद की सूचना है, वह पूर्णतः निःस्सार है। दिगंबर परंपरा के भद्रबाहु संबंधी कथानकों में संघ भेद संबंधी जो घटनाक्रम वर्णित है, उसमें कितना सत्यांश है, यह समझने के लिये पहले इनकी समीक्षा कर लेनी होगी।

दिगम्बरों के मान्य साहित्य में यतिवृषभ की तिलोयपण्णति (5-6 शती) में भद्रबाहु का निर्देश तो है,[30] किन्तु उसमें ऐसा कोई उल्लेख नहीं है, जो यह बताता हो कि श्वेताम्बर एवं यापनीय परंपराओं की उत्पत्ति कैसे हुई ? सर्वप्रथम हरिषेण के बृहत्कथाकोश (दसवी शती) में एवं विमलसेन के शिष्य देवसेन के भाव संग्रह (लगभग दसवीं शती) में श्वेताम्बर मत की उत्पत्ति की कथा को भद्रबाहु के कथानक के साथ जोड़ दिया गया है,[31] किन्तु इसमें काल संबंधी विसंगति स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। एक ओर इसमें भद्रबाहु के शिष्य शान्त्याचार्य के द्वादशवर्षीय दुष्काल में वल्लभी जाने और वहाँ जाकर कम्बल, पात्र, दण्ड एवं श्वेत वस्त्र ग्रहण करने का निर्देश है, साथ ही इस कथा में यह भी कहा गया है कि सुकाल होने पर शान्त्याचार्य द्वारा वस्त्रादि के त्याग का निर्देश देने पर उनके शिष्य (जिनचन्द्र) ने उनको मार डाला। उसके बाद वह शान्त्याचार्य व्यंतर योनि में उत्पन्न होकर शिष्यों को पीड़ा देने लगा। शिष्यों द्वारा उनकी प्रतिदिन पूजा (शांति स्नात्र) करने और काष्ठपट्टिका पर अंकित उनके चरण सदा साथ रखने का वचन देने पर वह व्यन्तर शांत हुआ और इस प्रकार श्वेताम्बरों का कुलदेव बन गया। इसमें इस घटना का समय विक्रम की मृत्यु के 136 वर्ष बाद अर्थात् वीर निर्वाण संवत् 606 बताया है, जबकि श्रुतकेवली भद्राबाहु का स्वर्गवास तो वीर निर्वाण संवत् 162 में हो गया था। इस प्रकार यह कथानक न तो श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय से संगति रखता है और न नैमित्तिक भद्रबाहु के समय से क्योंकि श्रुतकेवली भद्रबाहु तो उसके 460 वर्ष पूर्व ही स्वर्गस्थ हो चुके थे और नैमित्तिक भद्रबाहु इसके लगभग 400 वर्ष बाद हुए हैं, अतः यह कथानक पूरी तरह काल्पनिक है। इसमें सत्यांश मात्र यह है कि वस्त्र-पात्र संबंधी यह विवाद आर्यभद्रगुप्त के गुरु शिवभूति और आर्यकृष्ण के बीच वीर निर्वाण संवत् 606 या 609 में ही हुआ था, क्योंकि इसकी पुष्टि श्वेताम्बर और दिगंबर- दोनों ही साहित्यिक स्रोतों से हो

जाती है। इन शिवभूति के एक शिष्य पूर्वधर भद्रगुप्त थे, अतः नाम साम्य का सहारा लेकर इसे भद्रबाहु के साथ जोड़ दिया गया। पुनः, इसमें भद्रबाहु के नाम के साथ श्रुतकेवली का अभाव और उनके अवन्तिका में होने का उल्लेख भी अचेलता के पक्षधर शिवभूति के शिष्य भद्रगुप्त से ही संगति रखते हैं।

ज्ञातव्य है कि इन भद्रगुप्त से आर्यरक्षित ने न केवल पूर्वों का ज्ञान प्राप्त किया था, अपितु उनका समाधिमरण/निर्यापना भी करवाई थी। यह निर्यापना भी अवन्ती के समीपवर्ती भाद्रपद देश में हुई थी। आर्यरक्षित भी स्वयं दशार्णपुर (वर्त्तमान मंदसौर) के निवासी थे। इस प्रकार यहाँ पूर्वधर आर्य भद्रगुप्त के कथानक को श्रुतकेवली भद्रबाहु से जोड़ने का असफल प्रयास हुआ है। यह भी ज्ञातव्य है कि आर्य भद्रगुप्त और आर्यरक्षित के समय तक जिनकल्प का प्रचलन था, यद्यपि अचेलकता के समर्थक जिनकल्प के साथ-साथ पात्र, कम्बल आदि के ग्रहण के रूप में स्थविर कल्प भी प्रचलित था। आर्यरक्षित ने एक ओर वर्षाकाल में अतिरिक्त पात्र की अनुमति दी थी, वहीं दूसरी ओर अपने पिता को नग्नता ग्रहण करवाने हेतु कुशलतापूर्वक एक युक्ति भी रची थी।[32] इसी काल की मथुरा की जिनमूर्त्तियों के पादपीठ पर जो मुनियों के अंकन हैं, वे भी इसे पुष्ट करते हैं, क्योंकि उनमें नग्न मुनि के अंकन के साथ कम्बल, मुखवस्त्रिका एवं झोली सहित पात्र प्रदर्शित हैं। (इन अंकनों के चित्र **जैन धर्म का यापनीय सम्प्रदाय** नामक ग्रंथ के अंत में प्रदर्शित हैं और ये मूर्त्तियाँ और पादपीठ लखनऊ संग्रहालय में उपलब्ध हैं)।

इसके पश्चात्, दिगंबर परंपरा में हरिषेण के बृहत्कथाकोश में श्रुतकेवली भद्रबाहु के कथानक के साथ अर्ध स्फालक एवं श्वेताम्बर परंपरा की उत्पत्ति के कथानक उपलब्ध होते हैं। अंतर यह है कि जहाँ देवसेन ने इस घटना को वीर निर्वाण सं. 606 में घटित बताया, वहाँ हरिषेण ने स्पष्टतः इसे श्रुतकेवली भद्रबाहु से जोड़कर ई.पू. तीसरी शती में बताया। मात्र यही नहीं, उन्होंने इसमें देवसेन द्वारा उल्लेखित शान्त्याचार्य के स्थान पर रामिल्ल, स्थूलवृद्ध (स्थूलाचार्य) और स्थूलिभद्र - ऐसे तीन अन्य आचार्यों के नाम दिये हैं।[33] इनमें स्थूलिभद्र के नाम की पुष्टि तो श्वेताम्बर स्रोतों से होती है, किन्तु रामिल्ल और स्थूलवृद्ध कौन थे, उसकी पुष्टि अन्य किसी भी स्रोत से नहीं होती है। इसमें स्थूलिभद्र को भी एक स्थान पर छोड़कर अन्यत्र भद्राचार्य कहा गया है। एक विशेष बात इस कथानक में यह है कि इसमें अर्धस्फालकों में श्वेताम्बरों की उत्पत्ति बताई है। इसे कम्बल तीर्थ भी कहा गया है और कथानक के

अंत में कम्बलतीर्थ से सावलीपत्तन में यापनीय संघ की उत्पत्ति दिखाई है, जबकि ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य यह है कि भद्रबाहु के काल में जो मुनिसंघ दक्षिण में चला गया, उसे वहाँ के जलवायु के कारण नग्न रहने में विशेष कठिनाई नहीं हुई, किन्तु जो मुनिसंघ उत्तर में रहा, उसे उत्तर-पश्चिम में जलवायु की प्रतिकूलता के कारण नग्न रहते हुए भी कम्बल एवं पात्रादि स्वीकार करना पड़े तथा इसी कारण जिनकल्प एवं स्थविरकल्प का विकास हुआ। इसे उत्सर्ग एवं अपवाद मार्ग भी कह सकते हैं।

शिवभूति और आर्यकृष्ण के विवाद के पश्चात् ईसा की दूसरी शती में दो वर्ग बने। एक वर्ग ने पूर्व में गृहीत कम्बल और पात्र को यथावत् रखा- इससे ही कालांतर में वर्त्तमान श्वेतांबर संघ का विकास हुआ और दूसरा वर्ग, जिसने कम्बल और पात्र का त्याग करके उत्तर भारत में पुनः अचेलकत्व और पाणीपात्र की प्रतिष्ठा की थी और जिसे श्वेताम्बरों ने बोटिक कहा था, वही आगे चलकर दक्षिण में पहले मूलगण या मूलसंघ के नाम से और फिर यापनीय संघ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। ज्ञातव्य है कि इस संबंध में विस्तृत सप्रमाण चर्चा मैंने जैन धर्म का यापनीय सम्प्रदाय नामक अपने ग्रंथ में की है। इच्छुक व्यक्ति उसे वहाँ देख सकते हैं।[34]

ज्ञातव्य है कि रइधू ने अपने भद्रबाहुचरित्र में कम्बल धारक अर्द्ध नग्न मुनियों से श्वेताम्बर परंपरा का उद्भव दिखाया, वह तो ठीक है, किन्तु उन्होंने श्वेताम्बरों से यापनीयों की उत्पत्ति दिखाई, वह युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि श्वेतांबर और यापनीय- दोनों का विकास उत्तर भारत की स्थविरकल्पी मुनियों की परंपरा से हुआ है, जो नग्न रहते हुए भी कम्बल, पात्र एवं मुखवस्त्रिका रखते थे।

लगभग 15वीं शती में रइधू ने और सोलहवीं शती में रत्ननंदी ने जो भद्रबाहु चरित्र रचे, उनमें पूर्व की अनुश्रुतियों में स्वैर कल्पना से भी नई-नई बातें जोड़ दी हैं, जैसे- मुनियों द्वारा रात्रि में भिक्षा लाकर दिन में खाना, भिखारियों द्वारा मुनि का पेट चीरकर उसमें से अन्न निकालकर खा जाना, रात्रि में भिक्षार्थ आये नग्न मुनि को देखकर स्त्री का गर्भपात हो जाना, स्थूलवृद्ध के शिष्यों द्वारा उनकी हत्या करना, उनका व्यन्तर के रूप में जन्म होना और अपने उन दुष्ट शिष्यों को कष्ट देना, शिष्यों द्वारा उनकी हड्डी या काष्ठ पट्टिका पर अंकित चरण की पूजा करना आदि।[35] ज्ञातव्य है कि भावसेन ने श्वेताम्बरों में प्रचलित शांतिपाठ और शांति स्नात्र को देखकर शान्त्याचार्य की कथा गढ़ी, तो रइधू एवं रत्ननंदी ने श्वेताम्बरों में स्थापनाचार्य की परंपरा को देखकर

स्थूलाचार्य की यह कथा गढ़ी है। ज्ञातव्य है कि स्थापनाचार्य के रूप में पाँच कोडिया या काष्ठ पट्टिका रखने की परंपरा श्वेताम्बरों में है। स्थापनाचार्य का उल्लेख तो भगवती आराधना में भी मिलता है।

भद्रबाहु के जीवनवृत्त में विप्रतिपत्तियाँ

इन कथानकों की स्वैर कल्पनाओं के जोड़ने से न केवल ऐतिहासिक प्रामाणिकता खण्डित हुई, अपितु इनकी पारस्परिक विसंगतियाँ भी बढ़ती गईं। इस संबंध में मैं अपनी ओर से कुछ न कहकर आचार्य हस्तीमलजी[36] एवं डॉ. राजारामजी[37] के मन्तव्यों के आधार पर कुछ विसंगतियों को प्रस्तुत कर रहा हूँ-

(1) द्वादशवर्षीय दुष्काल कहाँ पड़ा, इस संबंध में मतैक्य नहीं हैं। हरिषेण, देवसेन एवं रत्ननंदी ने उज्जयिनी में बताया, तो रइधू ने उसे मगध में कहा और भावसेन ने उसे सिन्धु - सौवीर देश में बताया।

(2) भद्रबाहु दक्षिणापथ गये अथवा नहीं - इस संबंध में भी मतैक्य नहीं हैं। हरिषेण, देवसेन आदि ने उन्हें अवन्ती प्रदेश में रहने का उल्लेख किया, तो रइधू ने उन्हें पाटलिपुत्र से दक्षिण जाने का संकेत किया।

(3) हरिषेण ने चन्द्रगुप्त मुनि को ही विशाखाचार्य बताया है, जबकि देवसेन और रत्ननंदी ने चंद्रगुप्त मुनि और विशाखाचार्य को अलग-अलग माना है।

(4) श्वेताम्बर मत की उत्पत्ति के प्रसंग में जहाँ देवसेन ने शान्त्याचार्य के शिष्य जिनचन्द्र का उल्लेख किया, वहाँ अन्य सभी ने स्थूलवृद्ध के शिष्यों का उल्लेख किया।

(5) जहाँ देवसेन ने श्वेतांबर मत की उत्पत्ति विक्रम संवत् 136 अर्थात् वीर निर्वाण सं. 606 में मानी, वहाँ अन्यों ने उसे श्रुतकेवली भद्रबाहु के साथ जोड़कर उसे वीर निर्वाण संवत् 162 के पूर्व माना।

(6) भावसेन ने चंद्रगुप्त के मुनि होने का कोई उल्लेख नहीं किया, जबकि अन्यों ने उनके मुनि होने का उल्लेख किया है, किन्तु रइधू ने इसे चन्द्रगुप्त मौर्य (प्रथम) के स्थान पर उसके पौत्र अशोक का भी पौत्र निरूपित किया है, जबकि कालिक दृष्टि से श्रुतकेवली भद्रबाहु और इस अशोक के पौत्र चंद्रगुप्त में कोई संगति नहीं है। पुनः, अशोक के पौत्र का नाम चंद्रगुप्त था, इसकी ऐतिहासिक आधार पर कोई पुष्टि नहीं होती है।

(7) इसी प्रकार, श्वेताम्बरों के उत्पत्ति से संबंधित घटनाक्रम में प्रत्येक लेखक ने अपनी स्वैर कल्पना का प्रयोग किया है, अतः उनमें भी अनेक विप्रतिपत्तियाँ दिखाई देती हैं, जिनके संकेत पूर्व में किये गये हैं।

(8) भद्रबाहु के स्वर्गवास स्थल के संबंध में भी इन कथानकों में मतभेद है। किसी ने उसे भाद्रपद देश माना, तो किसी ने दक्षिणपथ की गुहाटवी माना है। आश्चर्य है कि 16वीं शती में हुए रत्ननंदी तक किसी ने भी उसे श्रवणबेलगोला नहीं बताया है।

इस प्रकार की अनेक विप्रतिपत्तियों के कारण दिगंबर परंपरा में प्रचलित भद्रबाहु संबंधी इन कथानकों की ऐतिहासिक प्रामाणिकता पर प्रश्नचिह्न लग जाता है, अतः उनमें निहित तथ्यों की ऐतिहासिक दृष्टि से गहन समीक्षा अपेक्षित है।

दिगम्बर परंपरा में वर्णित भद्रबाहुचरित्र संबंधी कथानकों में उत्तर भारत के द्वादशवर्षीय दुष्काल, उनके शिष्य विशाखाचार्य के दक्षिण गमन, जिनकल्प और स्थविरकल्प के विभाजन तथा श्वेताम्बर एवं यापनीय सम्प्रदायों के उद्भव के कथानक ही विस्तार से वर्णित हैं। मेरी दृष्टि में इन सबमें सत्यांश इतना ही है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय मगध में दुष्काल अथवा राजनीतिक अस्थिरता की स्थिति रही है, फलतः उनकी शिष्य परंपरा ने दक्षिण में प्रवास किया हो- यह भी सत्य है कि हलसी (धारवाड़) के पाँचवी शती के अभिलेखों में श्वेतपट्ट, यापनीय, कूर्चक एवं निर्ग्रन्थ सम्प्रदायों के जो उल्लेख हैं, उनमें निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय संभवतः श्रुतकेवली भद्रबाहु की शिष्य परंपरा से संबंधित रहा है,[38] जबकि यापनीय सम्प्रदाय, जो क्रमशः भद्रान्वय (तीसरी शती) एवं मूलसंघ (चतुर्थ शती) के नामों से अभिहित होता हुआ हलसी (पाँचवी शती) में यापनीय सम्प्रदाय के नाम से ही अभिहित हुआ[39]-उसका संबंध भी भद्र नामक आचार्य से रहा है, फिर वे चाहे शिवभूति के शिष्य और आर्य नक्षत्र के गुरु आर्यभद्रगुप्त (ई. दूसरी शती का पूर्वार्द्ध) हों अथवा उनकी शिष्य परंपरा में हुए गौतम गोत्रीय आर्यभद्र (ई. तीसरी का पूर्वार्द्ध), जिनके नाम से भद्रान्वय चला और जो निर्युक्तियों के कर्त्ता हैं तथा जो आर्य विष्णु के प्रशिष्य आर्य कालक के शिष्य तथा स्थविर वृद्ध के गुरु और स्कन्दिल एवं सिद्धसेन दिवाकर के प्रगुरु रहे हैं, ये सभी यापनीय एवं श्वेताम्बर दोनों के पूर्वज रहे हैं- यही कारण है कि ये दक्षिण भारत में विकसित अचेलकत्व की समर्थक दिगम्बर और यापनीय परंपरा में भी मान्य रहे हैं।

मेरी दृष्टि में दिगम्बर परंपरा की पट्टावली में उल्लेखित आर्य नक्षत्र और आर्य विष्णु भी वे ही हैं, जिनका उल्लेख कल्पसूत्र एवं नंदीसूत्र की स्थविरावली में मिलता है।[40]

इसी प्रकार, दिगम्बर परंपरा के भद्रबाहु कथानकों में उल्लेखित स्थूलभद्र, रामिल्ल और स्थूलवृद्ध (स्थूलाचार्य) किसी एक भद्रबाहु से संबंधित न होकर पृथक्-पृथक् भद्र नामक आचार्यों से हैं। स्थूलभद्र का संबंध श्रुतकेवली भद्रबाहु से रहा है- संभवतः इनके द्वारा जिनकल्प के स्थान पर स्थविर कल्प का विकास हुआ हो। हो सकता है कि रामिल्ल का संबंध भद्रान्वय के संस्थापक आर्य भद्रगुप्त से हो और ये रामिल्लाचार्य विदिशा में स्थापित जिनमूर्त्तियों में उल्लेखित रामगुप्त हों, इनसे ही आगे चलकर भद्रान्वय और यापनीय सम्प्रदाय का विकास हुआ है, जबकि स्थूलवृद्ध वस्तुतः स्थविर वृद्ध हों, जिनके शिष्यों से वर्त्तमान श्वेताम्बर परंपरा का विकास हुआ। ज्ञातव्य है, कल्पसूत्र स्थविरावली के अनुसार गौतमगोत्रीय आर्यभद्र स्थविरवृद्ध के गुरु हैं। इस प्रकार, ये तीनों भद्र नामक तीन अलग-अलग आचार्यों से संबंद्ध रहे, जिन्हें श्रुतकेवली आर्य भद्रबाहु की कथा के साथ गड्ड-मड्ड कर दिया गया है।

मुझे ऐसा लगता है कि परवर्ती दिगम्बर आचार्यों ने जो भद्रबाहु कथानक तैयार किये, उनमें अनुश्रुतियों से प्राप्त इन भद्र नामक विभिन्न आचार्यों के कथानकों को आपस में मिला दिया और श्वेताम्बर को अति निम्न स्तरीय या भ्रष्ट दिखाने के लिये घटनाक्रमों की स्वैर कल्पना से रचना कर दी। यदि उस युग के श्वेताम्बर मुनि इतने निम्न एवं भ्रष्ट आचरण वाले होते, तो हलसी के उस अभिलेख में (जिसमें निर्ग्रन्थों एवं श्वेताम्बरों का साथ-साथ उल्लेख हुआ है) श्वेताम्बरों के लिये- अर्हत्प्रोक्त सद्धर्मकरणपरस्टा श्वेतपट्टमहाश्रमण संघ जैसी आदरसूचक शब्दावली का प्रयोग नहीं होता।[41] ज्ञातव्य है कि यह अभिलेख दक्षिण भारत के उत्तरी कर्नाटक के उस क्षेत्र का है, जहाँ निर्ग्रन्थ दिगम्बर सम्प्रदाय एवं यापनीय सम्प्रदाय अधिक प्रभावशाली था। वहाँ राजा के द्वारा ई. सन् की पाँचवीं शती के श्वेताम्बरों के लिये महातपस्वी जैसे शब्दों के प्रयोग से यह सिद्ध हो जाता है कि उस युग के श्वेताम्बर मुनि इतने आचारहीन नहीं थे, जैसा कि इन भद्रबाहु चरित्रों में उन्हें चित्रित किया गया है।

आचार्य हस्तीमलजी ने **जैन धर्म के मौलिक इतिहास**, भाग 2, पृष्ठ 357 पर इस तथ्य पर प्रकाश डाला है कि परवर्तीकाल में रचित दिगम्बर परंपरा के इन भद्रबाहु चरित्रों में किस प्रकार स्वैर कल्पनाओं द्वारा दूसरे सम्प्रदायों को नीचा दिखाने के लिये

घटनाक्रम जोड़े जाते रहे। उनके अनुसार, दिगम्बर परंपरा के विभिन्न ग्रंथों के अध्ययन से यह तथ्य सामने आता है कि विभिन्न कालों में भद्रबाहु नाम के पाँच आचार्य हुए हैं। उन्होंने कालक्रम के अनुसार इनका विवरण इस प्रकार दिया है- 1. श्रुतकेवली भद्रबाहु (वीर निर्वाण सं. 162, अर्थात् ई.पू. तीसरी शती), 2. 29वें पट्टधर भद्रबाहु (वीर निर्वाण सं. 492-515 अर्थात् ईसा की प्रथम शती), 3. नन्दिसंघ बलात्कारगण की पट्टावली में उल्लेखित भद्रबाहु (वीर निर्वाण सं. 609-631 अर्थात् ईसा की दूसरी शती), 4. निमितज्ञ भद्रबाहु (ईसा की तीसरी शती, वीर निर्वाण आठवीं-नौवीं शती), 5. प्रथम अंगधारी भद्रबाहु (वीर निर्वाण संवत् 1000 के पश्चात्)।

यहाँ इन पाँच भद्रबाहु नामक आचार्यों की संगति श्वेताम्बर परंपरा से कैसे संभव है- यह विचार करना अपेक्षित है-

(1) अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु जिनका स्वर्गवास वीर निर्वाण सं. 162 में हुआ, ये 14 पूर्व व 12 अंगों के ज्ञाता थे। श्वेताम्बर परंपरानुसार ये सातवें और दिगम्बर परंपरानुसार ये आठवें पट्टधर थे। ये सचेल-अचेल दोनों परंपरा को मान्य रहे हैं। इनके समय में उत्सर्ग और अपवाद मार्ग या स्थविरकल्प और जिनकल्प की व्यवस्थाएँ पृथक्-पृथक् हुई। ये छेदसूत्रों के कर्त्ता हैं। छेदसूत्रों में उत्सर्ग और अपवाद मार्गों तथा जिनकल्प और स्थविरकल्प की चर्चा है। इससे फलित होता है कि उनके काल में वस्त्र-पात्र व्यवस्था का प्रचलन था। पुनः, यदि भद्रबाहु (प्रथम) को उत्तराध्ययन का संकलनकर्त्ता माना जाये, तो उसमें भी छेदसूत्रों के तथा सचेल-अचेल परंपराओं के उल्लेख हैं। पुनः, विद्वानों ने पूर्वों को पार्श्वापत्य परंपरा से सम्बद्ध माना है। चूंकि छेदसूत्रों का आधार पूर्व थे और पूर्व पार्श्वापत्य परंपरा के आचार मार्ग का प्रतिपादन करते थे, अतः छेदसूत्रों में वस्त्र-पात्र के उल्लेख पार्श्वपत्यों से संबंधित थे, जो आगे चलकर महावीर की परंपरा में मान्य हो गये। इनका काल ई.पू. तीसरी शती है।

(2) 29वें पट्टधर आचार्य भद्रबाहु (अपरनाम-यशोबाहु), जो आठ अंगों के ज्ञाता थे, इनका काल वीर निर्वाण सं. 492 से 515 (ई. पू. प्रथम शती) माना गया है। आचार्य हस्तिमलजी के इस उल्लेख का आधार संभवतः कोई दिगम्बर पट्टावली होगी। हरिवंशपुराण में यशोबाहु को महावीर का 27वाँ पट्टधर बताया गया है। इस काल में कोई भद्रबाहु या यशोबाहु नामक आचार्य हुए हैं,

इसकी पुष्टि श्वेताम्बर स्त्रोतों से नहीं होती है।

(3) नन्दिसंघ बलात्कार गण की पट्टावली में उल्लेखित वीर निर्वाण सं. 609 से 631 के मध्य आचार्य पद पर रहे हुए आचार्य भद्रबाहु के शिष्य गुप्तिगुप्त थे। आचार्य हस्तिमलजी के अनुसार इन्हीं भद्रबाहु के कथानक को थोड़ा अतिरंजित करके ही श्रुतकेवली भद्रबाहु के साथ जोड़ दिया गया है। मेरी दृष्टि में वस्तुतः ये शिवभूति के शिष्य भद्रगुप्त थे। इनके काल में वीर निर्वाण संवत् 606 या 609 में उत्तर भारत के निर्ग्रन्थ संघ में पुनः अचेलकत्व की प्रतिष्ठा हुई एवं बोटिक या यापनीय परंपरा का विकास भी इसी काल में हुआ। नन्दीसूत्र एवं कल्पसूत्र की स्थविरावली में इनका उल्लेख शिवभूति के शिष्य के रूप में है। श्वेताम्बर पट्टावलियों में शिष्य श्रीगुप्त का उल्लेख है। संभव है कि श्रीगुप्त ही गुप्तिगुप्त हों।

(4) निमितज्ञ भद्रबाहु दिगंबर परंपरा के अनुसार ग्यारह अंग के विच्छेद के पश्चात् हुए हैं। श्रुतस्कन्ध के कर्त्ता के अनुसार इनका काल विक्रम की तीसरी शताब्दी माना गया है। मेरी दृष्टि में ये गौतमगोत्रीय आर्यभद्र हैं, जो निर्युक्ति के कर्त्ता तथा आर्य विष्णु के प्रशिष्य और आर्य कालक के शिष्य हैं तथा स्थविरवृद्ध के गुरु और सिद्धसेन दिवाकर के दादागुरु हैं। यही काल स्कन्दिल की माथुरी एवं वल्लभी की नागार्जुन की वाचना का है, क्योंकि आगमों की माथुरी वाचना एवं निर्युक्तियाँ यापनीयों को मान्य रही हैं।

(5) वीर निर्वाण के 1000 वर्ष पश्चात् हुए भद्रबाहु दिगम्बर परम्परा के अनुसार प्रथम अंग के धारक थे। मेरी दृष्टि में ये श्वेताम्बर प्रबंधों में उल्लेखित वराहमिहिर के भाई भद्रबाहु हैं। वराहमिहिर की पंच सिद्धान्तिका में उसका रचनाकाल शक सं. 427 बताया है, इसमें 135 वर्ष जोड़ने पर विक्रम सं. 562 आता है। इसमें 470 जोड़ने पर वीर निर्वाण सं. 1032 आता है। यही कारण है कि इसका उल्लेख कल्पसूत्र स्थविरावली में नहीं है। यदि हेमचन्द्र की मान्यता के आधार पर इसमें 60 वर्ष कम भी करें, तो भी इनका काल वीर निर्वाण सं. 972 आता है, जो इस वाचना के मात्र 8 वर्ष पूर्व है, अतः कल्पसूत्र स्थविरावली में इनका उल्लेख होने का प्रश्न ही नहीं उठता है। इनके समय में श्वेताम्बर सम्प्रदाय एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय के रूप में अस्तित्व में आ गया था

और श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीयों के बीच भेद रेखा स्पष्ट हो चुकी थी।

इस प्रकार, आचार्य हस्तिमलजी द्वारा उल्लेखित दिगम्बर परंपरा में विभिन्न कालों में हुए पाँच भद्रबाहु में से चार का उल्लेख श्वेताम्बर स्त्रोतों में प्राच्यगोत्रीय भद्रबाहु, भद्रगुप्त, गौतम गोत्रीय आर्यभद्र और नैमित्तिक वराहमिहिर के भाई भद्रबाहु नाम से प्राप्त होता है। इन चारों की दिगम्बर स्त्रोतों से प्राप्त नामों से कालिक समरूपता भी है।

ज्ञातव्य है, श्वेताम्बर परंपरा में तित्थोगाली पइण्णा एवं चूर्णिकाल तक भद्रबाहु के जीवनवृत्त में उनका पूर्वधर होना, द्वादशवर्षीय दुष्काल के पश्चात् पाटलिपुत्र में हुई प्रथम आगम वाचना, उसमें भद्रबाहु की अनुपस्थिति, संघ द्वारा पूर्वों की वाचना देने का अनुरोध, वृद्धावस्था एवं महाप्राण ध्यान साधना में व्यस्तता के कारण भद्रबाहु द्वारा अपनी असमर्थता या अन्यमनस्कता व्यक्त करना, संघ द्वारा संभोग-विच्छेद की स्थिति देखकर संघ का अनुरोध स्वीकार कर स्थूलिभद्र आदि को वाचना देना, स्थूलभद्र द्वारा सिंह रूप बनाकर विद्या का प्रदर्शन करना, भद्रबाहु द्वारा आगे वाचना देने से इंकार, विशेष अनुरोध पर मात्र मूल की वाचना देना आदि घटनाएँ वर्णित हैं। वहीं नंदराज द्वारा मंत्री शकडाल के साथ दुर्व्यवहार, स्थूलभद्र से वैराग्य प्राप्त कर दीक्षित होना आदि घटनाएँ उल्लेखित हैं,[42] किन्तु इनमें कहीं भी वराहमिहिर का उल्लेख नहीं है। 'गच्छाचार पइन्ना' की दोघट्टीवृत्ति से लेकर प्रबंध-चिंतामणि, प्रबंधकोश आदि के भद्रबाहुचरित्र में मात्र वराहमिहिर संबंधी कथानक ही वर्णित है, किन्तु ज्ञातव्य है कि ये सभी रचनाएँ ईसा की 11वीं शती के बाद की हैं। इनमें भद्रबाहु के साथ वराहमिहिर का दीक्षित होना, फिर श्रमण पर्याय का त्याग करके अपने द्वारा 12 वर्ष तक सूर्य विमान में रहकर ज्योतिष चक्र की जानकारी प्राप्त करने का मिथ्या प्रवाद फैलाना, राजपुरोहित बन जाना, वराहमिहिर को पुत्र की प्राप्ति होना, उस पुत्र के दीर्घजीवी होने की भविष्यवाणी करना, इसी समय उस पुत्र के बारे में भद्रबाहु की भविष्यवाणी सत्य सिद्ध होने के उल्लेख हैं। इन प्रबंधों के द्वारा इन्हें चतुर्दश पूर्वधर और निर्युक्ति का कर्त्ता भी कहा गया है। इस प्रकार, श्वेताम्बर एवं दिगम्बर स्त्रोतों में श्रुतकेवली भद्रबाहु और नैमित्तिक भद्रबाहु के कथानकों को मिला दिया गया है। मात्र यही नहीं, इन दोनों के मध्य में हुए आर्यभद्रगुप्त और गौतमगोत्रीय आर्यभद्र नामक आचार्यों के कथानक एवं कृतित्व भी इनमें घुल मिल गये हैं, जिनकी सम्यक् समीक्षा करके उनका विश्लेषण करना अपेक्षित है।

आचार्य भद्रबाहु का कृतित्व

जहाँ तक श्रुतकेवली भद्रबाहु की कृतियों का प्रश्न है, उनको दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प (बृहत्कल्प) और व्यवहार नामक छेदसूत्रों का कर्त्ता माना गया है।[43] दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति और अन्य स्त्रोतों से इसकी पुष्टि होती है। कुछ लोगों ने इन्हें निशीथ का कर्त्ता भी माना है।[44] इस संबंध में मेरा चिंतन यह है कि न केवल निशीथ, अपितु संपूर्ण आचारचूला, जिसका एक भाग निशीथ रहा है, उसके कर्त्ता श्री श्रुतकेवली भद्रबाहु हैं, क्योंकि उस काल तक निशीथ आचार चूला का ही एक भाग था और उससे उसका पृथक्करण नहीं हुआ था।

इसके अतिरिक्त, भद्रबाहु के कृतित्व के संबंध में जो नई बात मुझे ज्ञात हुई, वह यह है कि उत्तराध्ययनसूत्र के संकलनकर्त्ता भी श्रुतकेवली भद्रबाहु हैं। उत्तराध्ययन के अध्ययन अंग आगमों एवं पूर्वों से उद्धृत हैं।[45] इस प्रकार, उत्तराध्ययन एक कर्तृक नहीं होकर एक संग्रह ग्रंथ ही सिद्ध होता है, अतः इसका कर्त्ता कौन है, यह प्रश्न निरर्थक है। फिर भी, यह प्रश्न तो बना ही रहता है कि इसका संग्रह या संकलन किसने किया ? प्राचीनकाल में संग्राहक या संकलनकर्त्ता कहीं भी अपना नाम निर्देश नहीं करते थे, अतः इस संबंध में एक संभावना यह व्यक्त की जा सकती है कि उत्तराध्ययन के अध्ययन पूर्वों से उद्धृत हैं, अतः उसके संकलनकर्त्ता कोई पूर्वधर आचार्य रहे होंगे। पूर्वधरों में भद्रबाहु का नाम महत्वपूर्ण है, अतः भद्रबाहु उत्तराध्ययन के संकलनकर्त्ता है, यह संभावना व्यक्त की जा सकती है। इस संबंध में एक प्रमाण आचार्य आत्मारामजी ने अपनी उत्तराध्ययन की भूमिका में दिया है। वे लिखते हैं कि 'भद्रबाहुना प्रोक्तानि भद्रबाह्वानि उत्तराध्ययनानि' अर्थात भद्रबाहु द्वारा प्रोक्त होने से उत्तराध्ययनों को भद्रबाहव भी कहा जाता है। इस आधार पर कई विद्वानों ने उत्तराध्ययन के संकलनकर्त्ता के रूप में भद्रबाहु को मानने की संभावना व्यक्त की है। आत्मारामजी म.सा. ने भी उत्तराध्ययन की भूमिका में यह निर्देश तो किया है कि उत्तराध्ययन का एक नाम 'भद्रबाहव' भी है, किन्तु उत्तराध्ययन का यह नाम कहाँ उपलब्ध होता है, इसका उल्लेख उन्होंने नहीं किया है, किन्तु उनके अनुसार उपरोक्त पंक्ति के आधार पर भद्रबाहु को उत्तराध्ययन का रचयिता मानने का कोई औचित्य नहीं है, क्योंकि उपर्युक्त कथन में भद्रबाहुना के साथ प्रोक्तानि क्रियापद प्रयुक्त हुआ है, जिसकी व्युत्पत्ति 'प्रकर्षेण उक्तानि प्रोक्तानि' है, अर्थात् विशेष रूप से व्याख्यात,

विवेचित या अध्यापित है। प्रोक्तानि का अर्थ रचितानि नहीं हो सकता है- इस बात की पुष्टि शाकटायन व्याकरण के प्रोक्ते (3/1/69), हेम व्याकरण के 'तेन प्रोक्ते' (6/3/18) तथा पाणिनीय व्याकरण के तेन प्रोक्तं (4/3/10) सूत्रों की व्याख्या से भी होती है।[46]

पुनः, भाषा शैली एवं विषयवस्तु की दृष्टि से विचार करने पर भी उत्तराध्ययन के सभी अध्ययनों को एक काल की रचना नहीं माना जा सकता है। इसमें एक ओर प्राचीन अर्द्धमागधी प्राकृत के शब्दों का प्रयोग मिलता है, तो दूसरी ओर अर्वाचीन महाराष्टी प्राकृत के शब्द भी उपलब्ध होते हैं। शैली की दृष्टि से भी कुछ अध्ययन व्यास शैली में लिखे गये हैं, तो कुछ समास शैली में हैं, अतः ये सब तथ्य भी उत्तराध्ययन के एक कर्तृक मानने में विसंगति उत्पन्न करते हैं।

फिर भी, इस आधार पर इतना तो माना ही जा सकता है कि उत्तराध्ययन के संकलनकर्त्ता संभवतः भद्रबाहु रहे हों। यह स्पष्ट है कि निर्युक्ति में उत्तराध्ययन के 36 अध्ययनों पर निर्युक्ति लिखी गई है, अतः निर्युक्तिकार के समक्ष छत्तीस अध्ययनरूप उत्तराध्ययन उपस्थित था। यदि निर्युक्तियों के कर्त्ता श्रुतकेवली भद्रबाहु (प्रथम) को मानते हैं, तो हमें यह भी मानना होगा कि उत्तराध्ययन का संकलन उसके पूर्व हो चुका था और यह संभव है कि उसके संकलनकर्त्ता भी वे स्वयं हों, क्योंकि जिस प्रकार उन्होंने छेदसूत्रों की रचना कर उन पर निर्युक्ति लिखी, उसी प्रकार उन्होंने उत्तराध्ययन का संकलन करके उस पर निर्युक्ति लिखी हो, यद्यपि उन्हें निर्युक्ति का कर्त्ता मानना विवादास्पद है। दूसरे, यदि निर्युक्ति के कर्त्ता के रूप में गौतमगोत्रीय आर्यभद्र अथवा अन्य विद्वानों के मतानुसार भद्रबाहु (द्वितीय) को माना जाये, तो भी यह मानने में कोई बाधा नहीं है कि उत्तराध्ययन के संकलनकर्त्ता पाइण्ण गोत्रीय आर्य भद्रबाहु रहे हों।

उत्तराध्ययनसूत्र के इकतीसवें अध्ययन की सत्रहवीं गाथा में दशादि के छब्बीस अध्ययनों का उल्लेख है, अतः उत्तराध्ययन के संकलन को इन छेदसूत्रों से परवर्ती मानना होगा। इन छेदसूत्रों के रचयिता स्वयं प्राच्य गोत्रीय भद्रबाहु स्वयं ही हैं, अतः संभव है कि उन्होंने इन छेदसूत्रों की रचना के बाद उत्तराध्ययन का संकलन किया हो। अतः, इससे उत्तराध्ययन के संकलनकर्त्ता भद्रबाहु प्रथम को मानने में कोई बाधा नहीं आती है।

इस प्रकार यह निश्चित है कि दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प, व्यवहार- इन छेदसूत्रों के कर्त्ता भद्रबाहु (प्रथम) हैं, साथ ही निशीथ सहित आचार चूला के कर्त्ता भी वे हैं- यह संभावना प्रकट की गई है, जो निराधार नहीं है। इसी प्रकार, उनके उत्तराध्ययन सूत्र के संकलनकर्त्ता होने की संभावना से भी इंकार नहीं किया जा सकता है, किन्तु निर्युक्तियों के कर्त्ता आर्य भद्रबाहु प्रथम नहीं हैं, तो कौन हैं ? इस प्रश्न पर मैंने अलग से एक स्वतंत्र निबंध में विचार किया है, जो Aspects of Jainology, Vol. 6, डॉ. सागरमल जैन अभिनंदन ग्रंथ में प्रकाशित है, अतः इस निबंध को यही विराम देते हैं।

संदर्भ

1. आचार्य हस्तिमल जी, जैनधर्म का मौलिक इतिहास, भाग-2, जयपुर (राज.), 1974 ई., पृ. 327.
2. ..... the author of the Niryukties Bhadrabahu is indentified by the Jainas with the patriarch of that name, who died 170 A.V. There can be no doubt that they are mistaken, For the account of the seven schisms (ninhaga) in the Avasyaka Niryukti, VIII-56-100, must have been written between 584 and 609 of the Vira era. There are the dates of the 7th and 8th schims of which only the former is mentioned in the Niryukti. It is therefore certain that the Niryukti was composed before 8th schism 609. A.V.- उद्धृत, जैनधर्म का मौलिक इतिहास, भाग 2, पृष्ठ 359.
3. थेरे अज्ज जसभद्दस्स तुंगियायण सगुत्तस्स इमे दो थेरा अज्जभद्दबाहु पाइणसगुत्ते थेरे अज्ज संभूति विजए माढरसगुत्ते... थेरे अज्जभद्दबाहू पाइणसगोत्ते, थेरे अज्ज संभूयविजये माढरसगोत्ते। थेरस्स णं अज्जभद्दबाहुस्स पाइणगोत्तस्स इसे चत्तारि थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिण्णाया होत्था, तं जहा-थेरे गोदासे 1 थेरे अग्गिदत्ते 2 थेरे जण्णदत्ते 3 थेरे सोमदत्ते 4 कासवगोत्ते णं। थेरेहिंतो गोदासे हिंतो कासवगुत्तेहिंतो इत्थ णं गोदासगणे नामं गणे निग्गए, तस्स णं इमाओ चत्तारि साहाओ एवमाहिज्जंति, तं जहा- तामलित्तिया 1 कोडीवरिसिया 2 पोंडवद्धणिया 3 दासीखब्बडिया 4।

- कल्पसूत्र थेरावली, 207

4. **जैन धर्म का मौलिक इतिहास,** भाग-2, पृ. 374.
5. (अ) गच्छाचार पइन्ना दोघट्टीवृत्ति, गाथा 82 की वृत्ति, उद्धृत जैन धर्म का मौलिक इतिहास, भाग 2, पृ. 327-330.
   (ब) दक्षिणापथे प्रतिष्ठानपुरे भद्रबाहु वराहाह्वौ द्वौ द्विजो कुमारौ।
   - प्रबंधकोश, पृ. 2.
6. **प्रबन्धचिन्तामणि,** मेरुतुंग, प्रकाशक - सिंधी जैन ग्रंथमाला, ग्रन्थांक 1, शांति निकेतन, बंगाल 1933 ई., पृ. 194.
7. आसी उज्जेणी णयरे आयारियो भद्दबाहुनामेण। - भावसंग्रह, देवसेन, 53.
8. अथास्ति विषये कान्ते पौण्डवर्धनेनामनि।
   कोटिमतं पुरं पूर्वं देवकोट्टं च साम्प्रतम्॥ - बृहत्कथाकोष, हरिषेण, कथानक संख्या 131, श्लोक 1.
9. इह अज्जखेत्ति ... कउतुकपुरम्मि ... सिरिभद्दबाहु ... - **भद्रबाहुचरित्र,** रइधू, सं. राजाराम जैन, पृ. 2.
10. नेपाल वत्तिणीए य भयवं भद्दबाहुसामी अच्छंति चौद्दस्स पुव्वी। - आवश्यकचूर्णि, भाग-2, पत्रांक 178.
11. छत्तीसे वरिससए विक्कम रायस्स मरणपत्तस्स ।
    सोरट्ठे उप्पण्णो सेवडसंघो हु वल्लहीए॥137॥
    आसि उज्जेणिणयरे आयरियो भद्दबाहु णामेण।
    जाणिय सुणिमित्तधरो भणिओ संघो मिओ तेण॥138॥
    होइइ इह दुब्भिक्खं बारहवरसाणि जाव पुण्णाणि।
    देसंतराइं गच्छह णियणियसंघेण संजुत्ता॥139॥
    एक्कं पुण संतिणामो संपत्तो वलहिणामणयरीए।
    बहुसीससंपउत्तो विसए सोरट्ठए रम्मे॥141॥
    -**भावसंग्रह,** देवसेन-गाथा, 137-39, 141, माणिकचंद दिगम्बर जैन ग्रंथमाला, मुंबई 1921 ई.
12. प्राप्य भाद्रपदं देशं श्रीमदुज्जयिनीभवम्।
    चकारानशनं धीरः स दिनानि बहून्यलम्॥43॥
    -**बृहत्कथाकोश,** कथानक संख्या 131, श्लोक सं. 23 से 43.

13. सर्वसंघाधिपो जातो विसषाचार्यसंज्ञक॥
अनेन सह संघोऽपि समस्तो गुरुवाक्यतः।
दक्षिणापथदेशस्थपुन्नाटविषयं ययौ॥40॥
-बृहत्कथाकोश, कथानक संख्या 131, श्लोक 38-40.

14. **कहाकोसु,** कर्त्ता-श्रीचन्द्र, प्रकाशक-प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, अहमदाबाद 1966 ई., संधि 47, कडषक 10.

15. **पुण्यास्त्रव कथाकोश,** सम्पा. - रामचन्द्र मुमुक्षु, प्रकाशक - भारतवर्षीय अनेकांत विद्वत् परिषद 1998, पृ. 225-227, कथा क्रमांक 38.

16. बारहसहस मुणिहिं सहिउ भद्दबाहुरिसि चल्लियउ।
जंतउ जंतउ कयवयदिणहिं अडविहिं पत्तु गुणल्लियउ॥
-भद्रबाहु, चाणक्य चन्द्रगुप्त कथानक, रइधू, सं. - डॉ. राजाराम जैन, 13 पृ. 26.

17. देखें - **भद्रबाहुचरित्र,** रत्ननन्दी, परिच्छेद 3, श्लोक 47 से 53, प्रकाशक - दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत, 1966 ई.

18. **भद्रबाहु-चाणक्य-चन्द्रगुप्त कथानक,** सम्पा. - राजाराम जैन, प्रस्तावना, 9-11.

19. सो वि य चोद्दसपुव्वी बारस वासाइं जोगपडिवन्नो।
देज्ज न व देज्ज वा वायणं ति वाहिप्पऊ ताव॥
- तित्थोगाली, पइन्नयं 725, पइण्णयसुत्ताइं, सं. मुनि पुण्यविजय, महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, 1984 ई.

20. महापाणं ण पविट्ठो मि, इयाणिं पविट्ठो मि, तो न जाति वायणं दातुं ...।
-आवश्यकचूर्णि, भाग-2, पत्रांक 187.

21. **महावंस** (10.65, 33. 43-79) के अनुसार श्रीलंका में बौद्धधर्म पहुँचने के पूर्व जैन धर्म का अस्तित्व था। पाण्डुकाभय ने वहाँ जोनिव और गिरि नामक निर्ग्रन्थों के लिए चैत्य बनवाये थे। बाद में मट्टगामिणी अभय ने निर्ग्रन्थों का विनाश कर दिया।

22. T.V.G. Sastri, "An Earlist Jaina Site in the Krishna Valley", Arhat Vacana, Vol. I(3-4), June-Sept. 89, p. 23-54.

23. हीरालाल जैन, सम्पा. - **जैनशिलालेख संग्रह,** भाग-1, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रंथमाला, ग्रन्थांक 28, मुंबई 1928 ई., लेखांक 17-18.

24. महावीर सवितरि परिनिवृते भगवत्परमर्षि गौतम गणधर साक्षाच्छिष्य लोहार्य्य - जम्बु-विष्णुदेवापराजित-गोवर्द्धन-भद्रबाहु-विशाख-प्रोष्ठिल कृत्तिकार्य्य - जयनाम सिद्धार्थ धृतिषेणबुद्धिलादि गुरुपरम्परीण वक्र (क्र) माभ्यागत महापुरुषसंकृतिकार्य्यसमवद्योतितान्वय भद्रबाहु स्वामिना उज्जयन्यामष्टांग महानिमित्त तत्त्वज्ञेन त्रैकाल्यदर्शिना निमित्तेन द्वादशसंवत्सर-काल-वैषम्यमुपलभ्य कथिते सर्व्वस्सङ्घ उत्तरापथाद्दक्षिणापथं प्रस्थितः - । पार्श्वनाथवसति शिलालेख, शक संवत् 522, **जैन शिलालेख संग्रह,** भाग-1, लेखांक 1.

25. सप्ताश्विवेदसंख्यं, शककालमपास्य चैत्र शुक्लादौ।
अर्धास्तमिते भानौ, यवनपुरे सौम्य दिवासाद्ये॥
-पंचसिद्धान्तिका अंतिम प्रशस्ति, उद्धृत- **जैन धर्म का मौलिक इतिहास,** भाग-2, पृ. 372.

26. चंदगुत्ति रायहु विक्खायहु विंदुसारणंदणु संजायहु।
तहु पुत्तु विअसोउ हुउ पुण्णउ णउलु णामु सुअ तहु उप्पण्णउ।
... णामें चंदगुत्ति तहु णंदणु संजायउ सज्जणु आणंदणु।
- भद्रबाहु-चाणक्य-चंद्रगुप्त कथानक, 10-11.

27. तित्थोगालीपइन्नय- गाथा 714-752, पइण्णयसुत्ताइं, सं.-मुनि पुण्यविजयजी, प्रकाशक महावीर विद्यालय, बम्बई, सन् 1984.

28. (अ) देखें- **जैन धर्म का यापनीय सम्प्रदाय,** डॉ. सागरमल जैन, पृ. 220-221.
(ब) पेच्छइ परिब्भमन्तो दाहिण देसे सियम्बर पणओ । - **पउमचरियं** (विमलसूरि) प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, वाराणसी, 22/78.

29. यापनि (नी) य निर्ग्रन्थकुर्च्चकानां... । - **जैन शिलालेख संग्रह,** भाग-2, लेख क्रमांक 99.

30. णदा व णादमित्ता बिदिआ अवराजदा तइज्जा य गावद्धणा चउत्था पचमआ भद्दबाहु त्ति। - तिलोयपण्णत्ति, 4/1482.

31. (अ) **बृहत्कथाकोश** (हरिषेण), कथानक 131, श्लोक 45-81.

(ब) **भाव संग्रह** (देवसेन), गाथा 52-70.

टिप्पणी - ज्ञातव्य है कि जहाँ हरिषेण ने रामिल्ल, स्थविर एवं स्थूलभद्र नामक तीन आचार्यों का भद्रबाहु के शिष्य के रूप में उल्लेखित किया है, वहाँ भावसेन ने मात्र शान्त्याचार्य का उल्लेख किया है। इस प्रकार, दोनों कथानकों में नामों के संबंध में अन्तर्विरोध है।

32. निज्जवण भद्दगुत्ते वीसुं पढणं च तस्स पुव्वगयं।
पव्वाविओय भाया रक्खिअखमणेहिं जणओ अ॥

- **आवश्यकनिर्युक्ति,** गाथा 776.

33. **बृहत्कथाकोश,** कथानक 131, श्लोक 62.

34. **जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय,** सागरमल जैन, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, पृ. 44-45 एवं 363.

35. (अ) **भद्रबाहु-चाणक्य - चन्द्रगुप्त कथानक,** रइधू, 17, 18, 21, 22, 23.

(ब) **भद्रबाहुचरित्र,** रत्ननन्दी, परिच्छेद 3, श्लोक 56-84.

36. **जैन धर्म का मौलिक इतिहास,** पृ. 326-327, 343-344.

37. भद्रबाहु-चाणक्य-चन्द्रगुप्त कथानक, प्रस्तावना, पृष्ठ 5-6 एवं 9-12.

38. जैनशिलालेख संग्रह, भाग 2, लेख क्रमांक 96.

39. देखें- (अ) **कल्पसूत्र स्थविरावलि** में विस्तृत वाचना उल्लेखित शिवभूति के शिष्य काश्यपगोत्रीय आर्यभद्रगुप्त और गौतमगोत्रीय आर्यभद्र।

(ब) आचार्य भद्रान्वयभूषणस्य ... - जैनशिलालेखसंग्रह, भाग-2, पृ. 57.

40. (अ) थेरस्स णं अज्ज **सिवभूइस्स** कुच्छगुत्तस्स **अज्ज भद्दे** थेरे अंतेवासी कासव गुत्ते। थेरस्स अज्ज कालए गोयमगुत्तस्स इमे दो थेरा-थेरे

अज्जसंपलिए थेरे अज्ज भद्दे। थेरे अज्ज जेहिल्लस्स... अज्ज विण्हू थेरे। - कल्पसूत्र स्थविरावली, 20-27.

(ब) ततो वंदे य भद्दगुत्तं। वड्ढउ वायगवंसो रेवइनक्खत्त नामाणं - **नन्दिसूत्र, स्थविरावली,** 31, 35.

41. सद्धर्मकरणपरस्य श्वेतपट्टमहाश्रमणसंघस्य। **-जैनशिलालेख संग्रह,** भाग-3, लेखक्रमांक 98.

42. (अ) **तित्थोगालीपइन्नयं,** सं मुनिपुण्यविजयी, गाथा 702-806.

(ब) **आवश्यकचूर्णि,** भाग-2, पृ. 178, ऋषभदेव केशरीमल श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, 1929 ई.

43. वंदामि भद्दबाहुं पाईणं चरिमसयलसुयनाणिं।
सुत्तस्स कारगमिसिं दसासु कप्पे य ववहारे॥ - **दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति, 1.**

44. तेण भगवता आयारकप्प, दसाकप्प, ववहारा य नवमपुव्वनी संदभूता निज्जूढा।
(ज्ञातव्य है कि निशीथ का एक नाम आचारप्रकल्प भी रहा) - **पंचकल्पचूर्णि,** पत्र 1.

45. (अ) अंगप्पभवा जिणभासिया य पत्तेयबुद्धसंवाया।
बंधे मुक्खे य कया छत्तीसं उत्तरज्झयणा॥ - उत्तराध्ययननिर्युक्ति 4.

(ब) कम्मप्पवायपुव्वे सत्तरसे पाहुडंमि जं सुत्तं। - उत्तराध्ययननिर्युक्ति 67.

46. उत्तराध्ययनसूत्रम्, सम्पादक - उपाध्याय आत्मारामजी, प्रस्तावना, पृ. 16-17.

2 - आचार्य उमास्वाति
(ईस्वी सन की 3री शती)

तत्त्वार्थसूत्र के प्रणेता उमास्वाति ने तत्त्वार्थभाष्य की अंतिम प्रशस्ति में अपने को उच्चैर्नागर शाखा का कहा है तथा अपना जन्मस्थान न्यग्रोधिका बताया है, अतः उच्चैर्नागर शाखा के उत्पत्ति-स्थल एवं उमास्वाति के जन्मस्थल का अभिज्ञान (पहचान) करना आवश्यक है। उच्चैर्नागर शाखा का उल्लेख न केवल तत्त्वार्थभाष्य में उपलब्ध होता है, अपितु श्वेताम्बर परंपरा में मान्य कल्पसूत्र की स्थविरावली में तथा मथुरा के अभिलेखों में भी उपलब्ध होता है। कल्पसूत्र स्थविरावली के अनुसार उच्चैर्नागर शाखा कोटिकगण की एक शाखा थी। मथुरा के 20 अभिलेखों में कोटिगण तथा नौ अभिलेखों में उच्चैर्नागर शाखा का उल्लेख मिलता है। कोटिकगण कोटिवर्ष नगर के निवासी आर्य सुस्थित से निकला था। श्वेताम्बर परंपरा में कोटिकगण की उत्पत्ति का कारण सूरिमंत्र का एक करोड़ बार जप करना माना जाता है, किन्तु यह बात मात्र अनुश्रुति रूप ही है। कोटिवर्ष की पहचान पुरातत्त्वविदों ने उत्तर बंगाल के फरीदपुर से की है। इसी कोटिकगण के आर्य शांतिश्रेणिक से उच्चैर्नागर शाखा के निकलने का उल्लेख है। कल्पसूत्र के गण, कुल और शाखाओं का संबंध व्यक्तियों या स्थानों (नगरों) से रहा है, जैसे- वारणगण वारणावर्त्त से तथा कोटिकगण कोटिवर्ष से संबंधित था, यद्यपि कुछ गण व्यक्तियों से भी संबंधित थे। शाखाओं में कौशम्बिया, कोडम्बानी, चन्द्रनागरी, माध्यमिका, सौराष्टिका, उच्चैर्नागर आदि शाखाएँ मुख्यतया नगरों से संबंधित रही हैं।

उमास्वाति का जन्म स्थान नागोद (म.प्र.)

उमास्वाति ने अपना जन्मस्थान 'न्यग्रोधिका' बताया है। इस संबंध में भी विद्वानों ने अनेक प्रकार के अनुमान किये हैं। चूंकि उमास्वाति ने तत्त्वार्थभाष्य की रचना कुसुमपुर (पटना) से की थी, अतः अधिकांश लोगों ने उमास्वाति के जन्मस्थल की पहचान उसी क्षेत्र से करने का प्रयास किया है। न्यग्रोध को वट भी कहा जाता है। इस आधार पर पहाड़पुर के निकट बटगोहली, जहाँ से पंचस्तूपान्वय का एक ताम्र-लेख मिला है, से भी इसका समीकरण करने का प्रयास किया गया है। मेरी दृष्टि में ये धारणाएँ समुचित नहीं हैं। उच्चैर्नागर शाखा, ऊँचेहरा से संबंधित थी, उसमें उमास्वाति के दीक्षित होने का अर्थ यही है कि वे उसके उत्पत्ति स्थल के निकट ही कहीं

जन्में होंगे। उच्चैर्नागर ऊँचेहरा से मथुरा, जहाँ उच्चनागरी शाखा के अधिकतम लेख प्राप्त हुए हैं तथा पटना, जहाँ उन्होंने तत्त्वार्थभाष्य की रचना की, दोनों ही लगभग समान दूरी पर अवस्थित रहे हैं। वहाँ से दोनों स्थानों की दूरी 350 कि.मी. है और किसी जैन साधु के द्वारा यहाँ से एक माह की पदयात्रा कर दोनों स्थलों पर आसानी से पहुँचा जा सकता था। स्वयं उमास्वाति ने ही लिखा है कि विहार (पदयात्रा) करते हुए वे कुसुमपुर (पटना) पहुँचे थे (विहरतापुरवरेकुसुमनामस्ति)। इससे यही लगता है कि न्यग्रोध, (नागोद), कुसुमपुर (पटना) के बहुत समीप नहीं था। डॉ. हीरालाल जैन ने संघ विभाजन स्थल रहवीरपुर की पहचान दक्षिण में महाराष्ट्र के अहमदनगर जिले के राहुरी ग्राम से और उमास्वाति के जन्मस्थल की पहचान उसी के समीप स्थित 'निधोज' से की, किन्तु यह ठीक नहीं है। प्रथम तो व्याकरण की दृष्टि से न्यग्रोध का प्राकृत रूप नागोद होता है, निधोज नहीं। दूसरे उमास्वाति जिस उच्चैर्नागर शाखा के थे, वह शाखा उत्तर भारत की थी, अतः उनका संबंध उत्तर भारत से ही रहा होगा और इसलिये उनका जन्मस्थल भी उत्तर भारत में ही होगा।

उच्चनागरी शाखा के उत्पत्ति स्थल ऊँचेहरा से लगभग 30 कि.मी. पश्चिम की ओर 'नागोद' नाम का कस्बा आज भी है। आजादी के पूर्व यह एक स्वतंत्र राज्य था और ऊँचेहरा इसी राज्य के अधीन आता था। नागोद के आस-पास भी जो प्राचीन सामग्री मिली है, उससे यही सिद्ध होता है कि यह भी प्राचीन नगर था। प्रो. के.डी. बाजपेयी ने नागोद से 24 कि.मी. दूर नचना के पुरातात्त्विक महत्व पर विस्तार से प्रकाश डाला है। नागोद की अवस्थिति पन्ना (म.प्र.), नचना और ऊँचेहरा के मध्य है। इन क्षेत्रों में शुँगकाल से लेकर 9वीं-10वीं शती तक की पुरातात्त्विक सामग्री मिलती है, अतः इसकी प्राचीनता में संदेह नहीं किया जा सकता। नागोद न्यग्रोध का ही प्राकृत रूप है, अतः संभावना यही है कि उमास्वाति का जन्म-स्थल यही नागोद था और जिस उच्चनागरी शाखा में वे दीक्षित हुए थे, वह भी उसी के समीप स्थित ऊँचेहरा (उच्चकल्प नगर) से उत्पन्न हुई थी। तत्त्वार्थभाष्य की प्रशस्ति में उमास्वाति की माता को वात्सी कहा गया है। हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि वर्त्तमान नागोद और ऊँचेहरा - दोनों ही प्राचीन वत्स देश के अधीन ही थे। भरहुत और इस क्षेत्र के आस-पास जो कला का विकास देखा जाता है, वह कौशाम्बी अर्थात् वत्सदेश के राजाओं के द्वारा ही किया गया था। ऊँचेहरा वत्सदेश के दक्षिण का एक प्रसिद्ध नगर था। भरहुत के स्तूप के निर्माण में भी वात्सी गोत्र के लोगों का महत्वपूर्ण योगदान था, ऐसा वहाँ से प्राप्त

अभिलेखों से प्रमाणित होता है। भरहुत के स्तूप के पूर्वी तोरणद्वार पर वाच्छीपुत्त धनभूति का उल्लेख है। वत्सगोत्र के लोगों की बहुलता के कारण ही यह क्षेत्र वत्स देश कहलाता हौगा और उमास्वाति का जन्मस्थल नागोद मध्यप्रदेश (न्यग्रोध) और उनकी उच्चैर्नागर शाखा का उत्पत्ति स्थल ऊँचेहरा (म.प्र.) है। पुनः, उन्होंने वर्त्तमान पटना (कुसुमपुर) में अपना तत्त्वार्थभाष्य लिखा था, अतः वे उत्तर भारत के निर्ग्रंथ संघ में हुए हैं। उनका विचरण क्षेत्र पटना से मथुरा तक अर्थात् वर्त्तमान बिहार, उत्तरप्रदेश, उत्तर-पूर्वी मध्यप्रदेश और पश्चिमी राजस्थान तक माना जा सकता है।

इस प्रकार, प्रस्तुत आलेख में मैंने उमास्वाति के जन्मस्थल और विचरण क्षेत्र का विचार किया, जो मुख्यतः अभिलेखीय और साहित्यिक साक्ष्यों पर आधारित है। विद्वानों से मैं इनकी सम्यक् समीक्षा की अपेक्षा रखता हूँ, ताकि इस महान् जैन दार्शनिक के इतिवृत्त को अनुश्रुतियों की धुंध से निकालकर ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में सम्यकरूपेण देखा जा सके।

उमास्वाति की उच्चैर्नागर शाखा का उत्पत्ति स्थल ऊँचेहरा (म.प्र.)

यहाँ हम उच्चैर्नागर शाखा के संदर्भ में ही चर्चा करेंगे। विचारणीय प्रश्न यह है कि वह उच्चैर्नागर कहाँ स्थित था, जिससे यह शाखा निकली थी। मुनिश्री कल्याणविजयजी और हीरालाल कापड़िया ने कनिंघम को आधार बनाते हुए, इस उच्चैर्नागर शाखा का संबंध वर्त्तमान बुलंदशहर पूर्वनाम वरण से जोड़ने का प्रयत्न किया है। पं. सुखलालजी ने भी तत्त्वार्थ की 'भूमिका' में इसी का अनुसरण किया है। कनिंघम लिखते हैं कि 'वरण या बारण- यह नाम हिन्दू इतिहास में अज्ञात है। 'बरण' के चार सिक्के बुलंदशहर से प्राप्त हुए हैं। मुलसमान लेखकों ने इसे बरण कहा है। मैं समझता हूँ कि यह वही जगह होगी और इसका नामकरण राजा अहिबरण के नाम के आधार पर हुआ होगा, जो तोमर वंश से संबंधित था और जिसने यह किला बनवाया था। यह किला बहुत पुराना है और एक ऊँचे टीले पर बना हुआ है। इसके आधार पर ही हिन्दुओं द्वारा इसे ऊँचा गाँव या ऊँचा नगर कहा गया है और मुसलमानों ने बुलन्दशहर कहा है।'' यद्यपि कनिंघम ने कहीं भी इसका संबंध उच्चैर्नागर शाखा से नहीं बताया, किन्तु उनके द्वारा बुलन्दशहर का ऊँचा नगर के रूप में उल्लेख होने से मुनि कल्याणविजय और कापड़ियाजी तथा बाद में पं. सुखलालजी ने उच्चैर्नागर शाखा को बुलन्दशहर से जोड़ने के प्रयास किया। प्रो. कापड़िया ने यद्यपि अपना कोई स्पष्ट

अभिमत नहीं दिया है। वे लिखते हैं- ''इस शाखा का नामकरण किसी नगर के आधार पर ही हुआ होगा, किन्तु इसकी पहचान अपेक्षाकृत कठिन है, क्योंकि बहुत सारे ऐसे ग्राम और शहर हैं, जिनके अंत में 'नगर' नाम पाया जाता है। वे आगे भी लिखते हैं कि कनिंघम का विश्वास है कि यह ऊँचानगर से संबंधित होगा।'' चूंकि कनिंघम ने आर्कियोलाजिकल सर्वे ऑफ इंडिया के 14वें खण्ड में बुलन्दशहर का समीकरण ऊँचानगर से किया था, इसी आधार पर मुनि कल्याणविजयजी ने यह लिख दिया है कि ''ऊँचा नगरी शाखा प्राचीन ऊँचानगरी से प्रसिद्ध हुई थी। ऊँचा नगरी को आजकल बुलन्दशहर कहते हैं।'' इस संबंध में पं. -सुखलालजी का कथन है- 'उच्चैर्नागर' शाखा का प्राकृत नाम 'उच्चानगर' मिलता है। यह शाखा किसी ग्राम या शहर के नाम पर प्रसिद्ध हुई होगी, यह तो प्रतीत होता है, परंतु यह ग्राम कौनसा था, यह निश्चित करना कठिन है। भारत के अनेक भागों में 'नगर' नाम से या अंत में 'नगर'शब्दवाले अनेक शहर तथा ग्राम है। 'बड़नगर' गुजरात का पुराना तथा प्रसिद्ध नगर है। बड़ का अर्थ मोटा (विशाल) और मोटा का अर्थ कदाचित् ऊँचा भी होता है, लेकिन गुजरात में बड़नगर नाम भी पूर्वदेश के उस अथवा उस जैसे नाम के शहर से लिया गया होगा, ऐसी भी विद्वानों की कल्पना है। इससे उच्चनागर शाखा का बड़नगर के साथ ही संबंध है, यह जोर देकर नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त जब उच्चनागर शाखा उत्पन्न हुई, उस काल में बड़नगर था या नहीं, यह भी विचारणीय है। उच्चनागर शाखा के उद्भव के समय जैनाचार्यों का मुख्य विहार गंगा-यमुना की तरफ होने के प्रमाण मिलते हैं। अतः, बड़नगर के साथ उच्चनागर शाखा के संबंध की कल्पना सबल नहीं रहती।

इस विषय में कनिंघम का कहना है ''यह भौगोलिक नाम उत्तर-पश्चिम प्रांत के आधुनिक बुलन्दशहर के अंतर्गत 'उच्चनगर' नाम के किले के साथ मेल खाता है,'' किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि 'ऊँचानगर शाखा का संबंध बुलन्दशहर से तभी जोड़ा जा सकता है, जब उसका अस्तित्व ई.पू. प्रथम शताब्दी के लगभग रहा हो या कम से कम उस काल में ऊँचा नगर कहलाता भी हो। इस नगर के प्राचीन 'बरण' नाम का उल्लेख तो है, किन्तु यह भी 9-10वीं शताब्दी से पूर्व का ज्ञात नहीं होता। बारण (बरण) नाम से कब इसका नाम बुलन्दशहर हुआ, इसके संबंध में किसी नतीजे पर पहुँचने में उन्होंने अपनी असमर्थता व्यक्त की है। यह हिन्दुओं द्वारा ऊँचागाँव या ऊँचा नगर कहा जाता था- मुझे तो यह भी उनकी कल्पना -सी प्रतीत होती है। इस *संबंध में वे कोई भी प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर सके हैं। 'बरन' नाम का उल्लेख भी मुस्लिम*

इतिहासकारों ने दसवीं सदी के बाद ही किया है। इतिहासकारों ने इस ऊँचागाँव किले का संबंध तोमर वंश के राजा अहिवरण से जोड़ा है, अतः इसकी अवस्थिति ईसा की पाँचवीं-छठवीं शती से पूर्व तो सिद्ध ही नहीं होती। यहाँ से मिले सिक्कों पर 'गोवितसबाराणये' - ऐसा उल्लेख है। स्वयं कनिंघम ने भी संभावना व्यक्त की है कि इन सिक्कों का संबंध वारणाव या वारणावत से रहा होगा। वारणावर्त्त का उल्लेख महाभारत में भी है, जहाँ पाण्डवों ने हस्तिनापुर से निकलकर विश्राम किया था तथा जहाँ उन्हें जिंदा जलाने के लिये कौरवों द्वारा लाक्षागृह का निर्माण करवाया गया था। बारणावा (बारणावत) मेरठ से 16 मील और बुलन्दशहर (प्राचीन नाम बरन) से 50 मील की दूरी पर हिंडोन और कृष्णा नदी के संगम पर स्थित है। मेरी दृष्टि में वह वारणावत वही है, जहाँ से जैनों का 'वारणगण' निकला था। 'वारणगण' का उल्लेख भी कल्पसूत्र स्थविरावली एवं मथुरा के अभिलेखों में उपलब्ध होता है। अतः, बारणाबत (वारणावर्त्त) का संबंध वारणगण से हो सकता है, न कि उच्चैर्नागरी शाखा से, जो कि कोटिकगण की शाखा थी। अतः, अब हमें इस भ्रांति का निराकरण कर लेना चाहिए। उच्चैर्नागर शाखा का संबंध किसी भी स्थिति में बुलन्दशहर से नहीं हो सकता।

यह सत्य है कि उच्चैर्नागर शाखा का संबंध किसी ऊँचानगर से ही हो सकता है। इस संदर्भ में हमने इससे मिलते-जुलते नामों की खोज प्रारंभ की है। हमें ऊँचाहार, ऊँचडीह, ऊँचीबस्ती, ऊँचौलिया, ऊँचाना, ऊँच्चेहरा आदि कुछ नाम प्राप्त हुए। हमें इन नामों में ऊँचाहार (उ.प्र.) और ऊँचेहरा (म.प्र.)- ये दो नाम अधिक निकट प्रतीत हुए। ऊँचाहार की संभावना भी इसलिये हमें उचित नहीं लगी कि उसकी प्राचीनता के संदर्भ में विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है, अतः हमने ऊँचेहरा को ही अपनी गवेषणा का विषय बनाना उचित समझा। ऊँचेहरा मध्यप्रदेश के सतना जिले में सतना रेडियो स्टेशन से 10 कि.मी. दक्षिण की ओर स्थित है। ऊँचेहरा से 7 कि.मी. उत्तर-पूर्व की ओर भरहुत का प्रसिद्ध स्तूप स्थित है। इससे इस स्थान की प्राचीनता का भी पता लग जाता है। वर्त्तमान ऊँचेहरा से लगभग 2 कि.मी. की दूरी पर पहाड़ के पठार पर यह प्राचीन नगर स्थित था, इसी से इसका ऊँचानगर नामकरण भी सार्थक सिद्ध होता है। वर्त्तमान में यह वीरान स्थल 'खोह' कहा जाता है। वहाँ के नगर निवासियों ने मुझे यह भी बताया कि पहले यह उच्चकल्पनगरी कहा जाता था और यहाँ से बहुत सी पुरातात्त्विक सामग्री भी निकली थी। यहाँ से गुप्त काल अर्थात् ईसा की पाँचवीं शती के राजाओं के कई दानपत्र प्राप्त हुए हैं। इन ताम्र-दानपत्रों में उच्चकल्प (उच्छकल्प) का

स्पष्ट उल्लेख है, ये दानपत्र गुप्त सं. 156 से गुप्त सं. 209 के बीच के हैं । (विस्तृत विवरण के लिये देखें - ऐतिहासिक स्थानावली- विजयेन्द्र कुमार माथुर, पृ 260-261) । इससे इस नगर की गुप्तकाल में तो अवस्थिति स्पष्ट हो जाती है। पुनः, जिस प्रकार विदिशा के समीप सांची का स्तूप निर्मित हुआ है, उसी प्रकार इस उच्चैर्नगर (ऊँचहेरा) क समीप भरहुत का स्तूप निर्मित हुआ था और यह स्तूप ई.पू. दूसरी या प्रथम शती का है। इतिहासकारों ने इसे शुंग काल का माना है। भरहुत के स्तूप के पूर्वी तोरण पर 'वाच्छिपुत धनभूति' का उल्लेख है। पुनः, अभिलेखों में 'सुगनं रजे' - ऐसा उल्लेख होने से शुंग काल में इसका होना सुनिश्चित है। अतः, उच्चैर्नागर शाखा का स्थापना काल (लगभग ई.पू. प्रथम शती) और इस नगर का सत्ताकाल समान ही है। इसे उच्चैर्नागर शाखा का उत्पत्ति स्थल मानने में काल- दृष्टि से कोई बाधा नहीं है। ऊँचेहरा (उच्चकल्पनगर) एक प्राचीन नगर था, इसमें अब कोई संदेह नहीं रह जाता। यह नगर वैशाली या पाटलीपुत्र से वाराणसी होकर भरुकच्छ को जाने वाले अथवा श्रावस्ती से कौशाम्बी होकर विदिशा, उज्जयिनी और भरुकच्छ जाने वाले मार्ग में स्थित है । इसी प्रकार वैशाली - पाटलिपुत्र से पद्मावती (पँवाया), गोपाद्रि (ग्वालियर) होते हुए मथुरा जाने वाले मार्ग पर भी इसकी अवस्थिति थी। उस समय पाटलीपुत्र से गंगा और जमुना के दक्षिण से होकर जाने वाला मार्ग ही अधिक प्रचलित था, क्योंकि इससे बड़ी नदियाँ नहीं आती थीं, मार्ग पहाड़ी होने से कीचड़ आदि भी अधिक नहीं होता था। जैन साधु प्रायः यही मार्ग अपनाते थे।

प्राचीन यात्रा मार्गों के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि ऊँचानगर की अवस्थिति एक प्रमुख केन्द्र के रूप में थी। यहाँ से कौशाम्बी, प्रयाग, वाराणसी आदि के लिये मार्ग थे। पाटलीपुत्र को गंगा-यमुना आदि बड़ी नदियों को बिना पार किये जो प्राचीन स्थल मार्ग था, उसके केन्द्र नगर के रूप में उच्चकल्प नगर (ऊँचानगर) की स्थिति सिद्ध होती है। यह एक ऐसा मार्ग था, जिसमें कहीं भी कोई बड़ी नदी नहीं आती थी, अतः सार्थ निरापद समझकर इसे ही अपनाते थे । प्राचीन काल से आज तक यह नगर धातुओं के मिश्रण के बर्तनों हेतु प्रसिद्ध रहा है। आज भी वहां कांसे के बर्तन सर्वाधिक मात्रा में बनते हैं। ऊँचेहरा का 'उच्चैर' शब्द से जो ध्वनि-साम्य है, वह भी हमें इसी निष्कर्ष के लिए बाध्य करता है कि उच्चैर्नागर शाखा की उत्पत्ति इसी क्षेत्र से हुई थी।

उमास्वाति का काल :

उमास्वाति के काल निर्णय के संदर्भ में जो भी प्रयास हुए हैं, वे सभी उन्हें प्रथम से चौथी शताब्दी के मध्य सिद्ध करते हैं। उमास्वाति के ग्रंथों में हमें सप्तभंगी और गुणस्थान सिद्धांत का सुनिश्चित स्वरूप उपलब्ध नहीं होता, यद्यपि गुणस्थान सिद्धांत से संबंधित कुछ पारिभाषिक शब्दों की उपस्थिति से इतना संकेत अवश्य मिलता है कि ये अवधारणाएँ अपने स्वरूप के निर्धारण की दिशा में गतिशील थीं। इससे हम इस निष्कर्ष पर तो पहुँच ही सकते हैं कि उमास्वाति इन अवधारणाओं के सुनिर्धारित एवं सुनिश्चित होने के पूर्व ही हुए हैं । तत्त्वार्थसूत्र की जो प्राचीन टीकाएँ उपलब्ध हैं, उनमें श्वेताम्बर परंपरा में तत्त्वार्थ -भाष्य को और दिगम्बर परंपरा में सर्वार्थसिद्धि को प्राचीनतम माना जाता है। इनमें से तत्त्वार्थ -भाष्य में गुणस्थान और सप्तभंगी की स्पष्ट अवधारणा उपलब्ध नहीं है, जबकि सर्वार्थसिद्धि में गुणस्थान का स्पष्ट एवं विस्तृत विवरण है । तत्त्वार्थसूत्र के परवर्ती टीकाकारों में सर्वप्रथम अकलंक अपने तत्त्वार्थराजवार्त्तिक के चौथे अध्याय के अंत में सप्तभंगी का तथा नौवें अध्याय के प्रारंभ में गुणस्थान सिद्धांत का पूर्ण विवरण प्रस्तुत करते हैं। तत्त्वार्थ की टीकाओं के अतिरिक्त अन्य ग्रंथों में, विशेष रूप से श्वेताम्बर आगमों में समवायांग में 'जीवठाण' के नाम से, यापनीय ग्रंथ षट्खण्डागम में 'जीवसमास' के नाम से और दिगम्बर परंपरा में कुन्दकुन्द के ग्रंथों में 'गुणठाण' के नाम से इस सिद्धांत का उल्लेख मिलता है। ये सभी ग्रंथ लगभग पांचवीं शती के आसपास के हैं, इसलिए इतना तो निश्चित है कि तत्त्वार्थ की रचना चौथी-पांचवीं शताब्दी के पूर्व की है । यह सही है कि ईसा की दूसरी शताब्दी से वस्त्र-पात्र के प्रश्न पर विवाद प्रारंभ हो गया, फिर भी यह निश्चित है कि पांचवीं शताब्दी के पूर्व श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय जैसे सम्प्रदाय अस्तित्व में नहीं आ पाये थे। निर्ग्रन्थसंघ (दिगम्बर), श्वेतपट्टमहाश्रमणसंघ और यापनीय संघ का सर्वप्रथम उल्लेख हल्सी के पांचवीं शती के अभिलेखों में ही मिलता है।

मूल संघ का उल्लेख उससे कुछ पहले ई. सन् 370 एवं 421 का है। तत्त्वार्थ के मूलपाठों की कहीं दिगम्बर परंपरा से, कहीं श्वेताम्बर परंपरा से और कहीं यापनीय परंपरा से संगति होना और कहीं विसंगति होना यही सूचित करता है कि वह संघभेद के पूर्व की रचना है। मुझे जो संकेत सूत्र मिले हैं, उससे ऐसा लगता है कि तत्त्वार्थ उस काल की रचना है, जब श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय संघ स्पष्ट रूप से विभाजित होकर

अस्तित्व में नहीं आये थे। श्री कापड़ियाजी ने तत्त्वार्थ को प्रथम शताब्दी के पश्चात् चौथी शताब्दी के पूर्व की रचना माना है। तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्य में ऐसे भी अनेक तथ्य हैं, जो न तो सर्वथा वर्त्तमान श्वेताम्बर परंपरा से और न ही दिगम्बर परंपरा से मेल खाते हैं। 'हिस्टी ऑफ मिडिवल स्कूल ऑफ इण्डियन लॉजिक' में तत्त्वार्थसूत्र की तिथि 185अऊ स्वीकार की गई है। प्रो. विंटरनित्ज मानते हैं कि उमास्वाति उस युग में हुए, जब उत्तर भारत में श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय एक-दूसरे से पूर्णतः पृथक् नहीं हुए थे। उनका ग्रंथ तत्त्वार्थ स्पष्टतः सम्प्रदाय भेद के पूर्व का है। सम्प्रदाय भेद के संबंध में सर्वप्रथम हमें जो साहित्यिक सूचना उपलब्ध होती है, वह आवश्यक मूलभाष्य की है, जो आवश्यकनिर्युक्ति और विशेषावश्यक के मध्य निर्मित हुआ था। उसमें वीर निर्वाण के 609 वर्ष पश्चात् ही बोटिकों की उत्पत्ति का अर्थात् उत्तर भारत में अचेल और सचेल परंपराओं के विभाजन का उल्लेख है, साथ ही उसमें यह भी उल्लेख है कि मुनि के सचेल या अचेल होने का विवाद तो आर्यकृष्ण और आर्य शिव के बीच वीर नि.सं. 609 में हुआ था, किन्तु परंपरा भेद उनके शिष्य कौडिण्य या कोट्टवीर से हुआ। इसका तात्पर्य यह है कि स्पष्ट रूप से परंपरा भेद वीर नि.सं. 609 के पश्चात् हुआ है। सामान्यतया, वीर निर्वाण विक्रम संवत् से 470 वर्ष पूर्व माना जाता है, किन्तु इसमें 60 वर्ष का विवाद है, जिसकी चर्चा आचार्य हेमचन्द्र से लेकर समकालीन अनेक विद्वान् भी कर रहे हैं। इतिहासकारों ने चन्द्रगुप्त, अशोक और सम्प्रति आदि का जो काल निर्धारित किया है, उसमें चन्द्रगुप्त और भद्रबाहु की तथा सम्प्रति और सुहस्ति की समकालिकता वीर निर्वाण को विक्रम संवत् 410 वर्ष पूर्व मानने पर ही अधिक बैठती है। यदि वीर निर्वाण विक्रम संवत के 410 वर्ष पूर्व हुआ है, तो यह मानना होगा कि संघभेद 609-410 अर्थात् विक्रम संवत् 199 में हुआ। यदि इसमें भी हम कौडिण्य और कोट्टवीर का काल 60 वर्ष जोड़ें तो यह संघभेद लगभग विक्रम संवत् 259 अर्थात् विक्रम की तीसरी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ होगा। इस संघभेद के फलस्वरूप श्वेताम्बर और यापनीय परंपरा का स्पष्ट विकास तो इसके भी लगभग सौ वर्ष पश्चात् ही हुआ होगा, क्योंकि पांचवीं शती के पूर्व इन नामों का कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता।

तीसरी-चौथी शताब्दी के समवायांग जैसे श्वेताम्बर मान्य आगमों और यापनीय परंपरा के कसायपाहुड एवं षट्खण्डागम जैसे ग्रंथों से तत्त्वार्थसूत्र की कुछ निकटता और विरोध यही सिद्ध करता है कि उसकी रचना इनके पूर्व हुई है।

तत्त्वार्थभाष्य की प्रशस्ति तत्त्वार्थसूत्र के कर्त्ता के काल का निर्णय करने का आज एकमात्र महत्वपूर्ण साधन है। उस प्रशस्ति के अनुसार तत्त्वार्थ के कर्त्ता उच्चैर्नागर शाखा में हुए। उच्चैर्नागर शाखा का उच्चनागरी शाखा के रूप में कल्पसूत्र में उल्लेख है। उसमें यह भी उल्लेख है कि यह शाखा आर्य शान्तिश्रेणिक से प्रारंभ हुई। कल्पसूत्र स्थविरावली के अनुसार शान्तिश्रेणिक आर्यवज्र के गुरु सिंहगिरि के गुरुभ्राता थे। श्वेताम्बर पट्टावलियों में आर्यवज्र का स्वर्गवासकाल वीर निर्वाण सं. 584 माना जाता है। अतः, आर्य शांतिश्रेणिक का जीवन काल वीर निर्वाण 470 से 550 के बीच मानना होगा। फलतः, आर्य शांन्तिश्रेणिक से उच्चनागरी की उत्पत्ति विक्रम की प्रथम शताब्दी के उत्तरार्द्ध और द्वितीय शताब्दी के पूर्वार्द्ध में किसी समय हुई। इसकी संगति मथुरा के अभिलेखों से भी होती है। उच्चैर्नागर शाखा का प्रथम अभिलेख शक् सं. 5 अर्थात् विक्रम संवत् 140 का है, अतः उमास्वाति का काल विक्रम की द्वितीय शताब्दी या उसके पश्चात् ही होगा। उमास्वाति के तत्त्वार्थभाष्य में उन्हें उच्चैर्नागर शाखा का बताया गया है। इस शाखा के नौ अभिलेख हमें मथुरा से उपलब्ध होते हैं, जिन पर कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव का उल्लेख भी है। यदि इन पर अंकित सम्वत् शक् संवत् हो, तो यह काल शक् संवत् 5 से 87 के बीच आता है। इतिहासकारों के अनुसार कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव ई. सन् 78 से 176 के बीच हुए हैं। विक्रम संवत् की दृष्टि से उनका यह काल सं. 135 से 233 के बीच आता है, अर्थात् विक्रम संवत् की द्वितीय शताब्दी का उत्तरार्द्ध और तृतीय शताब्दी का पूर्वार्द्ध। अभिलेखों के काल की संगति आर्य शान्तिश्रेणिक और उनसे उत्पन्न उच्चनागरी शाखा के काल से ठीक बैठती है। उमास्वाति इसके पश्चात् ही कभी हुए हैं। तत्त्वार्थभाष्य में उमास्वाति ने अपने प्रगुरु घोषनंदी श्रमण और गुरु शिवश्री का उल्लेख किया है। मुझे मथुरा के अभिलेखों में खोज करने पर स्थानिक कुल की गणि उग्गहिणी के शिष्य वाचक घोषक का उल्लेख उपलब्ध हुआ है। स्थानिककुल भी उसी कोटिकगण का कुल है, जिसकी एक शाखा उच्चानागरी है। कुछ अभिलेखों में स्थानिक कुल के साथ वज्री शाखा का भी उल्लेख हुआ है, यद्यपि उच्चनागरी और वज्री- दोनों ही शाखाएँ कोटिकगण की हैं। मथुरा के एक अन्य अभिलेख में 'निवतनासीवद' - ऐसा उल्लेख भी मिलता है। निवर्तना संभवतः समाधि स्थल का सूचक है, यद्यपि इससे ये आर्यघोषक और आर्य शिव निश्चित रूप से उमास्वाति के गुरु एवं प्रगुरु हैं, इस निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन है, फिर भी संभावना तो व्यक्त की जा सकती है।

आर्य कृष्ण और आर्य शिव, जिनके बीच वस्त्र-पात्र संबंधी विवाद वीर नि.सं. 609 में हुआ था, के उल्लेख हमें मथुरा के कुषाणकालीन अभिलेखों में उपलब्ध होते हैं। यद्यपि आर्य शिव के संबंध में जो अभिलेख उपलब्ध हैं, उनके खण्डित होने से संवत् का निर्देश तो स्पष्ट नहीं है, किन्तु 'निवतनासीवद' - ऐसा उल्लेख है, जो इस तथ्य का सूचक है कि उनके समाधि स्थल पर कोई निर्माण कार्य किया गया था। आर्य कृष्ण का उल्लेख करने वाला अन्य लेख स्पष्ट है और उसमें शक संवत् 95 निर्दिष्ट है। इस अभिलेख में कोटीयगण, स्थानीयकुल और वैरी शाखा का उल्लेख भी है। इस आधार पर आर्य शिव और आर्य कृष्ण का काल वि.सं. 230 के लगभग आता है। वस्त्र-पात्र विवाद का काल वीर नि.सं. 609 तदनुसार 609-410 अर्थात् वि.सं. 199 मानने पर इसकी संगति उपर्युक्त अभिलेख से हो जाती है, क्योंकि आर्य कृष्ण की यह प्रतिमा उनके स्वर्गवास के 30-40 वर्ष बाद ही कभी बनी होगी। उससे यह बात भी पुष्ट होती है कि आर्य शिव आर्य कृष्ण से ज्येष्ठ थे। कल्पसूत्र स्थविरावली में भी उन्हें ज्येष्ठ कहा गया है। संभावना यह भी हो सकती है कि ये दोनों गुरुभाई हों और उनमें आर्य शिव ज्येष्ठ और आर्य कृष्ण कनिष्ठ हों, या आर्य शिव आर्य कृष्ण के गुरु हों। यद्यपि विशेषावश्यकभाष्य में साम्प्रदायिक अभिनिवेश के कारण यह क्रम उलट दिया गया है।

आर्य शिव को उमास्वाति का प्रगुरु मानने पर उनका काल तीसरी शताब्दी का पूर्वार्द्ध मानना होगा, किन्तु तीसरी शती के उत्तरार्द्ध से चौथी शताब्दी पूर्वार्द्ध तक के जो भी जैन शिलालेख उपलब्ध हैं, उनमें कहीं भी श्वेताम्बर, दिगम्बर या यापनीय - ऐसा उल्लेख उपलब्ध नहीं होता है। वस्त्र, पात्र आदि के उपयोग को लेकर विक्रम संवत् की तीसरी शताब्दी के पूर्वार्द्ध से विवाद प्रारंभ हो गया था, किन्तु श्वेताम्बर, दिगम्बर या यापनीय परंपराओं के भेद स्थापित नहीं हुए थे। वि.सं. की छठवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध अर्थात् ई.सन् 475 से 490 के अभिलेखों में सर्वप्रथम श्वेतपट्ट महाश्रमणसंघ (श्वेताम्बर), निर्ग्रन्थमहाश्रमण संघ (दिगम्बर) और यापनीय संघ के उल्लेख मिलते हैं। प्रो. मधुसूदन ढाकी ने उमास्वाति का काल चतुर्थ शती निर्धारित किया है। उपर्युक्त चर्चा के आधार पर मैं इसे तीसरी शताब्दी के उत्तरार्द्ध से चौथी शती के पूर्वार्द्ध के बीच मानना चाहूँगा। चाहे हम उमास्वाति का काल प्रथम से चतुर्थ शती के बीच कुछ भी मानें, इतना निश्चित है कि वे संघ भेद के पूर्व के हैं। यदि हम उमास्वाति के प्रगुरु शिव का समीकरण आर्य शिव, जिनका उल्लेख कल्पसूत्र स्थविरावली में भी है और जो

उत्तर भारत के वस्त्र-पात्र संबंधी विवाद के जनक थे, से करते हैं, तो समस्या का समाधान मिलने में सुविधा होती है। आर्य शिव वीर निर्वाण सं. 609 अर्थात् विक्रम की तीसरी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में उपस्थित थे। इस आधार पर उमास्वाति तीसरी शती के उत्तरार्द्ध और चौथी शती के पूर्वार्द्ध में हुए होंगे, ऐसा माना जा सकता है। यह भी संभव है कि वे इस परंपरा भेद में कौडिण्य और कोट्टवीर के साथ संघ से अलग न होकर मूलधारा से जुड़े रहे हों, फलतः उनकी विचारधारा में यापनीय और श्वेताम्बर - दोनों ही परंपरा की मान्यताओं की उपस्थिति देखी जाती है। वस्त्र-पात्र को लेकर वे श्वेताम्बरों और अन्य मान्यताओं के संदर्भ में यापनीयों के निकट रहे हैं।

इन समस्त चर्चाओं से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उमास्वाति का काल विक्रम संवत् की तीसरी और चौथी शताब्दी के मध्य का है और इस काल तक वस्त्र-पात्र संबंधी विवादों के बावजूद भी श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीयों का अलग-अलग साम्प्रदायिक अस्तित्व नहीं बन पाया था। स्पष्ट सम्प्रदाय भेद, सैद्धांतिक मान्यताओं का निर्धारण और श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय जैसे नामकरण पाँचवीं शताब्दी में या उसके बाद ही अस्तित्व में आये हैं। उमास्वाति निश्चित ही सम्प्रदाय भेद और साम्प्रदायिक मान्यताओं के निर्धारण के पूर्व के आचार्य हैं। वे उस संक्रमण काल में हुए हैं, जब श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय सम्प्रदाय और उनकी साम्प्रदायिक मान्यताएँ स्थिर हो रही थीं।

उमास्वाति और उनकी परंपरा : (ई. सन् तीसरी शती)

उमास्वाति और उनका तत्त्वार्थसूत्र जैन धर्म की श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय परंपराओं में से मूलतः किससे संबंधित है, यह प्रश्न विद्वानों के मस्तिष्क को झकझोरता रहा है। जहां श्वेताम्बर परंपरा के विद्वानों ने मूलग्रंथ के साथ-साथ उनके भाष्य और प्रशमरति को उमास्वाति की ही कृति मानकर उन दोनों में उपलब्ध श्वेताम्बर समर्थक तथ्यों के आधार पर उन्हें श्वेताम्बर सिद्ध करने का प्रयास किया, वहीं दिगम्बर परंपरा के विद्वानों ने भाष्य और प्रशमरति के कर्त्ता को तत्त्वार्थ के कर्त्ता से भिन्न बताकर तथा मूलग्रंथ में श्वेताम्बर परंपरा की आगमिक मान्यताओं से कुछ भिन्नता दिखाकर उन्हें दिगम्बर परंपरा का सिद्ध करने का प्रयास किया है, जबकि पं. नाथूराम प्रेमी जैसे कुछ तटस्थ विद्वानों ने ग्रंथ में उपलब्ध श्वेताम्बर और दिगम्बर - दोनों परंपराओं से विरुद्ध तथ्यों को उभारकर और यापनीय मान्यताओं से उनकी

निकटता दिखाकर उन्हें यापनीय परंपरा का सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। वस्तुतः, ये समस्त प्रयास तत्त्वार्थसूत्र की परंपरा के संदर्भ में किसी भी निश्चित अवधारणा को बनाने में तब तक सहायक नहीं हो सकते, जब तक कि हम उमास्वाति के काल का और इन तीनों धाराओं के उत्पन्न होने के काल का निश्चय नहीं कर लेते। अतः, सबसे पहले हमें यही देखना होगा कि उमास्वाति किस काल के हैं, क्योंकि इसी आधार पर उनकी परंपरा का निर्धारण संभव है।

उमास्वाति के काल निर्णय के संदर्भ में जो भी प्रयास हुए हैं, वे सभी उन्हें प्रथम से चौथी शताब्दी के मध्य सिद्ध करते हैं। उमास्वाति के ग्रंथों में हमें सप्तभंगी और गुणस्थान सिद्धांत का सुनिश्चित स्वरूप उपलब्ध नहीं होता। यद्यपि गुणस्थान सिद्धांत से संबंधित कुछ पारिभाषिक शब्दों की उपस्थिति से इतना संकेत अवश्य मिलता है कि ये अवधारणाएँ अपने स्वरूप के निर्धारण की दिशा में गतिशील थीं। इससे हम इस निष्कर्ष पर तो पहुँच ही सकते हैं कि उमास्वाति इन अवधारणाओं के सुनिर्धारित एवं सुनिश्चित होने के पूर्व ही हुए हैं। तत्त्वार्थ सूत्र की जो प्राचीन टीकाएँ उपलब्ध हैं, उनमें श्वेताम्बर परंपरा में तत्त्वार्थ-भाष्य को और दिगम्बर परंपरा में सर्वार्थसिद्धि को प्राचीनतम माना जाता है। इनमें से तत्त्वार्थ-भाष्य में गुणस्थान और सप्तभंगी की स्पष्ट अवधारणा उपलब्ध नहीं है, जबकि सर्वार्थसिद्धि में गुणस्थान का स्पष्ट एवं विस्तृत विवरण है। तत्त्वार्थसूत्र की परवर्ती टीकाओं में सर्वप्रथम अकलंक तत्त्वार्थ राजवार्त्तिक में चौथे अध्याय के अंत में सप्तभंगी का तथा 9वें अध्याय के प्रारंभ में गुणस्थान सिद्धांत का पूर्ण विवरण प्रस्तुत करते हैं। तत्त्वार्थ की टीकाओं के अतिरिक्त अन्य ग्रंथों में, विशेष रूप से श्वेताम्बर आगमों, यथा-समवायांग में 'जीवठाण' के नाम से, यापनीय ग्रंथ षट्खण्डागम में 'जीवसमास' के नाम से और दिगम्बर परंपरा के अनुसार कुन्दकुन्द के ग्रंथों में 'गुणठाण' के नाम से इस सिद्धांत का उल्लेख मिलता है। ये सभी ग्रंथ लगभग पांचवीं शती के आसपास के हैं, इसलिए इतना तो निश्चित है कि तत्त्वार्थ की रचना चौथी-पांचवीं शताब्दी के पूर्व की है। यह सच है कि ईसा की दूसरी शताब्दी से वस्त्र पात्र के प्रश्न पर विवाद प्रारंभ हो गया था, किन्तु यह भी निश्चित है कि पांचवीं शताब्दी के पूर्व श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय जैसे सम्प्रदाय अस्तित्व में नहीं आ पाये थे। निर्ग्रन्थसंघ (दिगम्बर), श्वेतपट्ट महाश्रमणसंघ और यापनीय संघ का सर्वप्रथम उल्लेख हल्सी के पांचवीं शती के अभिलेखों में ही मिलता है।

मूलसंघ का उल्लेख उससे कुछ पहले ई. सन् 370 एवं 421 का है। तत्त्वार्थ के मूलपाठों की कहीं दिगम्बर परंपरा से, कहीं श्वेताम्बर परंपरा से और कहीं यापनीय परंपरा सें संगति होना और कहीं विसंगति होना यही सूचित करता है कि वह संघभेद के पूर्व की रचना है। मुझे जो संकेत सूत्र मिले हैं, उससे ऐसा लगता है कि तत्त्वार्थ उस काल की रचना है, जब श्वेताम्बर , दिगम्बर और यापनीय स्पष्ट रूप से विभाजित होकर अस्तित्व में नहीं आये थे। श्री कापड़ियाजी ने तत्त्वार्थ को प्रथम शताब्दी के पश्चात् चौथी शताब्दी के पूर्व की रचना माना है। तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्य में ऐसे भी अनेक तथ्य हैं, जो न तो सर्वथा वर्त्तमान श्वेताम्बर परंपरा से और न ही दिगम्बर परंपरा से मेल खाते हैं। 'हिस्टी ऑफ मिडिवल स्कूल ऑफ इण्डियन लॉजिक' में तत्त्वार्थसूत्र की तिथि 185अऊस्वीकार की गई है। प्रो. विंटरनित्ज मानते हैं कि उमास्वाति उस युग में हुए, जब उत्तर भारत में श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय एक-दूसरे से पूर्णतःपृथक् नहीं हुए थे। उनका ग्रंथ तत्त्वार्थ स्पष्टतः सम्प्रदाय भेद के पूर्व का है। सम्प्रदाय भेद के संबंध में सर्वप्रथम हमें जो साहित्यिक सूचना उपलब्ध होती है, वह आवश्यक मूलभाष्य की है, जो आवश्यक निर्युक्ति और विशेषावश्यक के मध्य निर्मित हुआ था। उसमें वीर निर्वाण के 609 वर्ष पश्चात् ही बोटिकों की उत्पत्ति का, अर्थात् उत्तर भारत में अचेल और सचेल परंपराओं के विभाजन का उल्लेख है, साथ ही उसमें यह भी उल्लेख है कि मुनि के सचेल या अचेल होने का विवाद तो आर्य कृष्ण और आर्य शिव के बीच वीर नि.सं. 609 में हुआ था, किन्तु परंपरा भेद उनके शिष्य कौडिण्य या कोट्टवीर से हुआ। इसका तात्पर्य यह है कि स्पष्ट रूप से परंपरा भेद वीर नि.स. 609 के पश्चात् हुआ है। सामान्यतया, वीर निर्वाण विक्रम संवत् 470 वर्ष पूर्व माना जाता है, किन्तु इसमें 60 वर्ष का विवाद है, जिसकी चर्चा आचार्य हेमचन्द्र से लेकर समकालीन अनेक विद्वान् भी कर रहे हैं। इतिहासकारों ने चन्द्रगुप्त, अशोक और सम्प्रति आदि का जो काल निर्धारित किया है, उसमें चंद्रगुप्त और भद्रबाहु की तथा सम्प्रति और सुहस्ति की समकालिकता वीर निर्वाण को विक्रम संवत् 410 वर्ष पूर्व मानने पर ही अधिक बैठती है। यदि वीर निर्वाण विक्रम संवत् 410 वर्ष पूर्व हुआ है, तो यह मानना होगा कि संघभेद 609-410 अर्थात् विक्रम संवत् 199 में हुआ। यदि इसमें भी हम कौडिण्य और कोट्टवीर का काल 60 वर्ष जोड़े तो यह संघभेद लगभग विक्रम संवत् 259 अर्थात् विक्रम की तीसरी शताब्दी उत्तरार्द्ध में हुआ होगा। इस संघभेद के फलस्वरूप श्वेताम्बर और यापनीय परंपरा का स्पष्ट विकास तो इसके भी

लगभग सौ वर्ष पश्चात् ही हुआ होगा, क्योंकि पांचवीं शती के पूर्व इन नामों का कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता।

तीसरी-चौथी शताब्दी के समवायांग जैसे श्वेताम्बर मान्य आगमों और यापनीय परंपरा के कसायपाहुड एवं षट्खण्डागम जैसे ग्रंथों से तत्त्वार्थसूत्र की कुछ निकटता और विरोध यही सिद्ध करता है कि उसकी रचना इनके पूर्व हुई है।

तत्त्वार्थभाष्य की प्रशस्ति तत्त्वार्थसूत्र के कर्त्ता के काल का निर्णय करने का आज एकमात्र महत्वपूर्ण साधन है। उस प्रशस्ति के अनुसार तत्त्वार्थ के कर्त्ता उच्चैर्नागर शाखा में हुए। उच्चैर्नागर शाखा का उच्चनागरी शाखा के रूप में कल्पसूत्र में उल्लेख है। उसमें यह भी उल्लेख है कि यह शाखा आर्य शान्तिश्रेणिक से प्रारंभ हुई। कल्पसूत्र स्थविरावली के अनुसार शान्तिश्रेणिक आर्यवज्र के गुरु सिंहगिरि के गुरुभ्राता थे। श्वेताम्बर पट्टावलियों में आर्यवज्र का स्वर्गवास काल वीर निर्वाण सं. 584 माना जाता है। अतः, आर्य शान्तिश्रेणिक का जीवन काल वीर निर्वाण 470 से 550 के बीच मानना होगा। फलतः, आर्य शांन्तिश्रेणिक से उच्चनागरी की उत्पत्ति विक्रम की प्रथम शताब्दी के उत्तरार्द्ध और द्वितीय शताब्दी के पूर्वार्द्ध किसी समय हुई। इसकी संगति मथुरा के अभिलेखों से भी होती है। उच्चैर्नागर शाखा का प्रथम अभिलेख शक् सं. 5 अर्थात् विक्रम संवत् 140 का है, अतः उमास्वाति का काल विक्रम की द्वितीय शताब्दी या उसके पश्चात् ही होगा। उमास्वाति के तत्त्वार्थभाष्य में उन्हें उच्चैर्नागर शाखा का बताया गया है। इस शाखा के नौ अभिलेख हमें मथुरा से उपलब्ध होते हैं, जिन पर कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव के उल्लेख हैं। यदि इन पर अंकित सम्वत् शक संवत् हो, तो यह काल शक् संवत् 5 से 87 के बीच आता है, इतिहासकारों के अनुसार कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव ई. सन् 78 से 176 के बीच हुए हैं। विक्रम संवत् की दृष्टि से उनका यह काल सं. 135 से 233 के बीच आता है, अर्थात् विक्रम संवत् की द्वितीय शताब्दी का उत्तरार्द्ध और तृतीय शताब्दी का पूर्वार्द्ध। अभिलेखों के काल की संगति आर्य शांतिश्रेणिक और उनसे उत्पन्न उच्चनागरी शाखा के काल से ठीक बैठती है। उमास्वाति इसके पश्चात् ही कभी हुए हैं। तत्त्वार्थभाष्य में उमास्वाति ने अपने प्रगुरु घोषनन्दी श्रमण और गुरु शिवश्री का उल्लेख किया है। मुझे मथुरा के अभिलेखों में खोज करने पर स्थानिक कुल के गणि उग्गहिणी के शिष्य वाचक घोषक का उल्लेख उपलब्ध हुआ है। स्थानिक कुल भी उसी कोटिकगण का कुल है, जिसकी

एक शाखा उच्चानगरी है। कुछ अभिलेखों में स्थानिक कुल के साथ वज्री शाखा का भी उल्लेख हुआ है, यद्यपि उच्चनागरी और वज्री- दोनों ही शाखाएँ कोटिकगण की हैं। मथुरा के एक अन्य अभिलेख में 'निवतनासीवद'- ऐसा उल्लेख भी मिलता है। निवर्त्तना सम्भवतः समाधि स्थल की सूचक है, यद्यपि इससे ये आर्यघोषक और आर्य शिव निश्चित रूप से ही उमास्वाति के गुरु एवं प्रगुरु हैं, इस निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन है, फिर भी संभावना तो व्यक्त की ही जा सकती है।

आर्य कृष्ण और आर्य शिव, जिनके बीच वस्त्र-पात्र संबंधी विवाद वीर नि.सं. 609 में हुआ था, उन दोनों के उल्लेख हमें मथुरा के कुषाणकालीन अभिलेखों में उपलब्ध होते हैं। यद्यपि आर्य शिव के संबंध में जो अभिलेख उपलब्ध हैं, उसके खण्डित होने से संवत् का निर्देश तो स्पष्ट नहीं है, किन्तु 'निवतनासीवद' - ऐसा उल्लेख है, जो इस तथ्य का सूचक है कि उनके समाधि स्थल पर कोई निमार्ण कार्य किया गया था।आर्य कृष्ण का उल्लेख करने वाला अन्य लेख स्पष्ट है और उसमें शक् संवत् 95 निर्दिष्ट है। इस अभिलेख में कोटीयगण, स्थानीयकुल और वैरी शाखा का उल्लेख भी है। इस आधार पर आर्य शिव और आर्य कृष्ण का काल वि.सं. 230 के लगभग आता है। वस्त्र-पात्र विवाद का काल वीर नि.सं. 609 तदनुसार 609-410 अर्थात् वि.सं. 199 मानने पर इसकी संगति उपर्युक्त अभिलेख से हो जाती है, क्योंकि आर्य कृष्ण की यह प्रतिमा उनके स्वर्गवास के 30-40 वर्ष बाद ही कभी बनी होगी। उससे यह बात भी पुष्ट होती है कि आर्य शिव आर्य कृष्ण से ज्येष्ठ थे। कल्पसूत्र स्थविरावली में भी उन्हें ज्येष्ठ कहा गया है। संभावना यह भी हो सकती है, ये दोनों गुरुभाई हों और उनमें आर्य शिव ज्येष्ठ और आर्य कृष्ण कनिष्ठ हों, या आर्य शिव कृष्ण के गुरु हों, यद्यपि विशेषावश्यकभाष्य में साम्प्रदायिक अभिनिवेश के कारण यह क्रम उलट दिया गया है।

इन आर्य शिव को उमास्वाति का प्रगुरु मानने पर उनका काल तीसरी शताब्दी का पूर्वार्द्ध होगा, किन्तु तीसरी शती के उत्तरार्द्ध से चौथी शताब्दी पूर्वार्द्ध तक के जो भी जैन शिलालेख उपलब्ध हैं, उनमें कहीं भी श्वेताम्बर, दिगम्बर या यापनीय-ऐसा उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। वस्त्र, पात्र आदि के उपयोग को लेकर विक्रम संवत् की तीसरी शताब्दी के पूर्वार्द्ध से विवाद प्रारंभ हो गया था, किन्तु स्पष्ट रूप से श्वेताम्बर, दिगम्बर या यापनीय परंपराओं के भेद स्थापित नहीं हुए थे। वि.सं. की छठवीं शताब्दी

के पूर्वार्द्ध के, अर्थात् ई. सन् 475 से 490 के अभिलेखों में सर्वप्रथम श्वेतपट्ट महाश्रमणसंघ (श्वेताम्बर), निर्ग्रन्थमहाश्रमणसंघ (दिगम्बर)और यापनीय संघ के उल्लेख मिलते हैं। प्रो. मधुसूदन ढाकी ने उमास्वाति का काल चतुर्थ शती निर्धारित किया है। उपर्युक्त चर्चा के आधार पर मैं इसे तीसरी शताब्दी के उत्तरार्द्ध से चौथी शती के पूर्वार्द्ध के बीच मानना चाहूँगा। चाहे हम उमास्वाति का काल प्रथम से चतुर्थ शती के बीच कुछ भी मानें, किन्तु इतना तो निश्चित है कि वे संघ भेद के पूर्व के हैं। यदि हम उमास्वाति के प्रगुरु शिव का समीकरण आर्य शिव, जिनका उल्लेख कल्पसूत्र स्थविरावली में भी है और उत्तर भारत में वस्त्र-पात्र संबंधी विवाद के जनक थे, से करते हैं, तो समस्या का समाधान मिलने में सुविधा होती है। आर्य शिव वीर निर्वाण सं. 609 अर्थात् विक्रम की तीसरी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में उपस्थित थे। इस आधार पर उमास्वाति तीसरी के उत्तरार्द्ध और चौथी के पूर्वार्द्ध में हुए होंगे, ऐसा माना जा सकता है। यह भी संभव है कि वे इस परंपरा भेद में भी कौडिण्य और कोट्टवीर के साथ संघ से अलग न होकर मूलधारा से जुड़े रहे हों। फलतः, उनकी विचारधारा में यापनीय और श्वेताम्बर- दोनों ही परंपरा की मान्यताओं की उपस्थिति देखी जाती है। वस्त्र-पात्र को लेकर वे श्वेताम्बरों और अन्य मान्यताओं के संदर्भ में यापनियों के निकट रहे हैं।

इन समस्त चर्चाओं से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उमास्वाति का काल विक्रम संवत् की तीसरी और चौथी शताब्दी के मध्य है और इस काल तक वस्त्र-पात्र संबंधी विवादों के बावजूद भी श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनियों का अलग-अलग साम्प्रदायिक अस्तित्व नहीं बन पाया था। स्पष्ट सम्प्रदाय भेद, सैद्धांतिक मान्यताओं का निर्धारण और श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय जैसे नामकरण पाँचवीं शताब्दी में या उसके बाद ही अस्तित्व में आये हैं। उमास्वाति निश्चित ही स्पष्ट सम्प्रदाय भेद और साम्प्रदायिक मान्यताओं के निर्धारण के पूर्व के आचार्य हैं। वे उस संक्रमण काल में हुए हैं, जब श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय सम्प्रदाय और उनकी साम्प्रदायिक मान्यताएँ और स्थिर हो रही थीं।

अतः, वे उस अर्थ में श्वेताम्बर या दिगम्बर नहीं हैं, जिस अर्थ में आज हम इन शब्दों का अर्थ लेते हैं। वे यापनीय भी नहीं हैं, क्योंकि यापनीय सम्प्रदाय का सर्वप्रथम अभिलेखीय प्रमाण भी विक्रम की छठवीं शताब्दी के पूर्वार्ध और ईसा की पाँचवीं शती के उत्तरार्द्ध (ई.सन् 475) का मिलता है। अतः, वे श्वेताम्बर और यापनीयों की

पूर्वज उत्तर भारत की निर्ग्रंथ धारा की कोटिगण की उच्चानागरी शाखा में हुए हैं। उनके संबंध में इतना मानना ही पर्याप्त है। उन्हें श्वेताम्बर, दिगम्बर या यापनीय सम्प्रदाय से जोड़ना मेरी दृष्टि में उचित नहीं है।

क्या उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र का आधार कुन्दकुन्द के ग्रंथ हैं-

डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री ने तत्त्वार्थ के आधार के रूप में मुख्यतया षड्खण्डागम, कसायपाहुड एवं कुन्दकुन्द के ग्रंथों की चर्चा की है[1], अन्य दिगम्बर विद्वान् भी इसी मत की पुष्टि करते हैं।[2] इस संबंध में सर्वप्रथम तो यह विचार करना होगा कि क्या तत्त्वार्थसूत्र की रचना कसायपाहुड, षट्खण्डागम एवं कुन्दकुन्द के ग्रंथों में अनेक समानताएं परिलक्षित होती हैं, किन्तु मात्र इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि उमास्वाति ने ही इन्हें कुन्दकुन्द से ग्रहण किया है। संभावना यह भी हो सकती है कि कुन्दकुन्द ने ही उमास्वाति से इन्हें लिया हो। हमें तो यह देखना होगा कि उनमें से कौन पूर्व में हुए और कौन पश्चात्। जहां तक दिगम्बर पट्टावलियों का प्रश्न है, उनमें से कुछ में उमास्वाति को कुन्दकुन्द का साक्षात् शिष्य और कुछ में परंपरा शिष्य बताया गया है, किन्तु ये सभी पट्टावलियाँ पर्याप्त परवर्ती लगभग 10वीं शती के बाद की हैं, अतः प्रामाणिक नहीं मानी जा सकतीं। स्वयं पं. नाथूरामजी प्रेमी जैसे निष्पक्ष दिगम्बर विद्वानों ने भी उन्हें प्रामाणिक नहीं माना है।[3] मर्कराभिलेख, जिसको आधार बनाकर विद्वानों ने कुन्दकुन्द को पहली से तीसरी शताब्दी के मध्य रखने का प्रयास किया था, अब अप्रामाणिक (जाली) सिद्ध हो चुका है।[4] अब 9वीं शताब्दी से पूर्व का कोई भी ऐसा अभिलेख नहीं है, जो कुन्दकुन्द या उनकी अन्वय का उल्लेख करता हो। लगभग 10वीं शती तक कुन्दकुन्द के ग्रंथों के निर्देश या उन पर टीका की अनुपस्थिति भी यही सूचित करती है कि कुन्दकुन्द छठवीं शताब्दी के पूर्व तो किसी भी स्थिति में नहीं हुए हैं, इस तथ्य को प्रो. मधुसूदन ढ़ाकी[5] और मुनि कल्याणविजयजी ने अनेक प्रमाणों से प्रतिपादित किया है,[6] जबकि उमास्वाति किसी भी स्थिति में तीसरी या चौथी शताब्दी से परवर्ती सिद्ध नहीं होते हैं।

वस्तुतः, कुन्दकुन्द एवं उमास्वाति के काल का निर्णय करने के लिए कुन्दकुन्द एवं उमास्वाति के ग्रंथों में उल्लिखित सिद्धांतों का विकासक्रम देखना पड़ेगा। यह बात सुनिश्चित है कि कुन्दकुन्द के ग्रंथों में गुणस्थान[7] और सप्तभंगी[8] का स्पष्ट निर्देश है।

गुणस्थान का यह सिद्धान्त समवायांग के 14 जीव-समासों के उल्लेखों के अतिरिक्त श्वेताम्बरमान्य आगम साहित्य में सर्वथा अनुपस्थित है, यहाँ भी इसे श्वेताम्बर विद्वानों ने प्रक्षिप्त ही माना है। तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्य में भी इन दोनों सिद्धांतों का पूर्ण अभाव है, जबकि तत्त्वार्थसूत्र की सभी दिगम्बर टीकाओं में इन सिद्धांतों के उल्लेख प्रचुरता से पाये जाते हैं।[9] पूज्यपाद देवनन्दी यद्यपि सप्तभंगी सिद्धांत की चर्चा नहीं करते, परन्तु गुणस्थान की चर्चा तो वे भी कर रहे हैं। दिगम्बर परंपरा में आगमरूप में मान्य षट्खण्डागम तो गुणस्थान की चर्चा पर ही स्थित है।[10] उमास्वाति के तत्त्वार्थ में गुणस्थान और सप्तभंगी की अनुपस्थिति स्पष्ट रूप से यह सूचित करती है कि ये अवधारणाएँ उनके काल तक अस्तित्व में नहीं आई थीं अन्यथा आध्यात्मिक विकास और कर्मसिद्धांत के आधार रूप गुणस्थान के सिद्धांत को वे कैसे छोड़ सकते थे ? चाहे विस्तार रूप में चर्चा भले ही नहीं करते, परंतु उनका उल्लेख अवश्य करते हैं। तत्त्वार्थ सूत्र 11 में सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनन्तवियोजक, दर्शनमोहक्षपक, उपशमक, उपशान्तमोह, क्षमक, क्षीणमोह और जिन- निर्जरा के परिणामस्वरूप आध्यात्मिक विकास की इन दस अवस्थाओं का चित्रण और इनमें गुणस्थानों के कुछ पारिभाषिक नामों की उपस्थिति यही सिद्ध करती है कि उस काल तक गुणस्थान की अवधारणा निर्मित तो नहीं हुई थी, परंतु अपना स्वरूप अवश्य ग्रहण कर रही थी। तत्त्वार्थसूत्र और गुणस्थान पर श्रमण अप्रैल-जून 1992 में प्रकाशित मेरा स्वतंत्र लेख देखें। पं. दलसुखभाई के अनुसार, तत्त्वार्थसूत्र में आध्यात्मिक विकास से संबंधित जो दस नाम मिलते हैं, वे बौद्धों की दस भूमियों की अवधारणा पर निर्मित हुए हैं और इन्हीं से आगे गुणस्थान की अवधारण का विकास हुआ है। यदि उमास्वाति के समक्ष गुणस्थान की अवधारणा होती, तो फिर वे आध्यात्मिक विकास की इन दस अवस्थाओं की चर्चा न करके 14 गुणस्थानों की चर्चा अवश्य करते। ज्ञातव्य है कि कषायपाहुडसुत्त में भी तत्त्वार्थसूत्र के समान गुणस्थान सिद्धांत के कुछ पारिभाषिक शब्दों की उपस्थिति होते हुए भी सुव्यवस्थित गुणस्थान सिद्धांत का अभाव देखा जाता है, जबकि कसायपाहुडसुत्त के चूर्णि-सूत्रों में गुणस्थान सिद्धांत की उपस्थिति देखी जाती है। कषायप्राभृत के कुछ अधिकारों के नाम तत्त्वार्थसूत्र के समान ही हैं- सम्यक्त्व, देशविरति, संयत, उपशामक, क्षपक गाथा (14), फिर भी कसायपाहुड का विवरण तत्त्वार्थ की अपेक्षा कुछ अधिक व्यवस्थित एवं विस्तृत लगता है। ऐसा माना जा

सकता है कि तत्त्वार्थसूत्र, कसायपाहुड और षट्खण्डागम में गुणस्थान की अवधारणा का क्रमिक विकास हुआ है।

जैसा कि हमने निर्देश किया है श्वेताम्बरमान्य समवायांग में 14 जीवठाण के रूप में 14 गुणस्थानों का निर्देश है, किन्तु अनेक आधारों पर यह सिद्ध होता है कि समवायांग में प्रथम शती से पांचवीं शती के बीच अनेक प्रक्षेप हो रहे हैं, अतः वलभी वाचना के समय ही जीव समास का यह विषय उसमें संकलित किया गया होगा। अन्य प्राचीन स्तर के श्वेताम्बर आगमों, जैसे- आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, भगवती और यहाँ तक की प्रथम शताब्दी में रचित प्रज्ञापना और जीवाभिगम में भी गुणस्थान का अभाव है। इन आगमों में ऐसे कई प्रसंग थे, जहां गुणस्थान की चर्चा की जा सकती थी, किन्तु उसका कहीं-भी उल्लेख या नाम निर्देश तक न होना यही सिद्ध करता है कि तत्त्वार्थसूत्र के काल तक ये अवधारणाएँ अस्तित्व में नहीं आई थीं। चूँकि कुन्दकुन्द[12], षट्खण्डागम [13], भगवती आराधना[14] और मूलाचार[15] आदि सभी इन अवधारणाओं की चर्चा करते हैं, अतः वे तत्त्वार्थ से पूर्ववर्ती नहीं हो सकते। यदि यह कहा जाये कि उमास्वाति के समक्ष ये अवधारणाएँ उपस्थित तो थीं, किन्तु उन्होंने अनावश्यक समझकर उनका संग्रह नहीं किया होगा, तो फिर प्रश्न यह उठता है कि तत्त्वार्थभाष्य के अतिरिक्त तत्त्वार्थसूत्र के सभी श्वेताम्बर और दिगम्बर टीकाकार इस सिद्धांत की चर्चा क्यों करते हैं ? यहाँ तक की तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम दिगम्बर टीकाकार पूज्यपाद देवनन्दी सर्वार्थसिद्धि में तत्त्वार्थ के प्रथम अध्याय के आठवें सूत्र की चर्चा में न केवल इनका नाम निर्देश करते हैं, अपितु अति विस्तृत व्याख्या भी करते हैं। यदि हम पूज्यपाद देवनन्दी का काल पाँचवीं का उत्तरार्द्ध और छठवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध मानते हैं, तो हमें यह मानना होगा कि इसी काल में यह अवधारणा सुनिर्धारित होकर अपने स्वरूप में आ गई थी। यही काल श्वेताम्बर आगमों की अंतिम वाचना का काल है। संभव यही है कि इसी समय उसे समवायांग में डाला गया होगा। अतः, यह सुनिश्चित है कि उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र का आधार न तो कुन्दकुन्द के ग्रंथ हैं और न षट्खण्डागम ही, क्योंकि ये सभी तत्वार्थसूत्र और उसके स्वोपज्ञभाष्य के बाद की रचनाएँ हैं। यद्यपि कसायपाहुड को किसी सीमा तक तत्त्वार्थसूत्र का समसामयिक माना जा सकता है, फिर भी गुणस्थान सिद्धांत की दृष्टि से यह तत्त्वार्थ से किञ्चित परवर्ती सिद्ध होता है।

यद्यपि इससे हमारे कहने का तात्पर्य यह भी नहीं है कि वल्क्तभी वाचना के वर्त्तमान में श्वेताम्बर द्वारा मान्य आगम उनके तत्त्वार्थसूत्र का आधार है, क्योंकि यह वाचना तो उमास्वाति के बाद की है। वस्तुतः, स्कंदिल की माथुरी वाचना (वीर निर्वाण 827-840) के भी पूर्व फल्गुमित्र के समय जो आगम ग्रंथ उपस्थित थे, वे ही तत्त्वार्थसूत्र की रचना के मुख्य आधार रहे हैं । मेरी दृष्टि में उमास्वाति स्कंदिल से पूर्ववर्ती है, अतः उनका आधार फल्गुमित्र के युग के आगम ग्रंथ ही थे। यद्यपि वर्त्तमान में श्वेताम्बर परंपरा द्वारा मान्य आगमों से इनमें बहुत अधिक अंतर नहीं रहा होगा, फिर भी कुछ पाठभेद और मान्यताभेद तो अवश्य ही रहे होंगे। दूसरे, वर्त्तमान में उपलब्ध श्वेताम्बर आगम कोटिकगण की वज्रीशाखा के हैं, जबकि उमास्वाति कोटिकगण की उच्चनागरी शाखा में हुए हैं, इन दोनों शाखाओं में और उनके मान्य आगमों में कुछ मान्यताभेद और कुछ पाठभेद अवश्य ही रहा होगा, यह माना जा सकता है। संभवतः, उसी उच्चनागरी शाखा में मान्य आगमों को ही उमास्वाति ने अपने ग्रंथ की रचना का आधार बनाया होगा, जिसके परिणामस्वरूप चार-पाँच स्थानों पर तत्त्वार्थसूत्र और उसकी भाष्यगत मान्यताओं में वर्त्तमान श्वेताम्बर आगमिक परंपरा की मान्यताओं से मतभेद आ गया है, जिसकी चर्चा हमने आगे की है, फिर भी इतना सुनिश्चित है कि उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र का आधार वे ही आगम ग्रंथ रहे हैं, जो क्वचित् पाठभेदों के साथ श्वेताम्बरों में आज भी प्रचलित हैं और यापनीयों में भी प्रचलित थे। इससे इस भ्रांति का भी निराकरण हो जाता है कि तत्त्वार्थसूत्र की रचना का आधार षट्खण्डागम और कुन्दकुन्द के ग्रंथ हैं, क्योंकि ये ग्रंथ तत्त्वार्थसूत्र की अपेक्षा पर्याप्त परवर्ती हैं और गुणस्थान, सप्तभंगी आदि परवर्ती युग में विकसित अवधारणाओं के उल्लेखों से युक्त हैं।

संदर्भ : -

1. देखें - तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परंपरा, नेमीचन्द्र शास्त्री (अ.भा. दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्), भाग 2, पृ. 159-162.
2. (अ) जैन साहित्य और इतिहास पर विशदप्रकाश, (पं. जुगलकिशोर मुख्तार), पृ. 125.
   (ब) जैन साहित्य का इतिहास, भाग 2, (पं. कैलाशचन्दजी), पृ. 249.
3. जैन साहित्य और इतिहास, (पं. नाथूरामजी प्रेमी), पृ. 530-531.
4. Aspects of of Jainology, Vol. III, Pt. Dalsukhbai

Malvania Felicitiation, Vol. I,P.V. Research Institute Varanasi English Section, M.A. Dhaky, The Date of Kundakundacharya, p. 190.

5. Ibid, p. 189-190.

6. श्री पट्टावलीपरागसंग्रह, मुनि कल्याणविजयजी, पृ. 100-107.

7. (अ) गुणठाण मग्गणेहिं य पज्जत्तीपाणजीवठाणेहिं।
ठावण पंचविहेहिं पणयव्वा अरहपुरिसस्स॥
तेरहमे गुणठाणे सजोइ केवलिय होइ अरहंतो।
चउतीस अइसयगुणा होंति हु तस्सट्ठपडिहारा॥
-बोधपाहुड 31-31.

(ब) जीव समासाइं मुणी चउदसगुणठाणामाइं॥ -भावप्राभूत 97.

(स) णेव य जीवठाणा ण गुणठाणा य अत्थि जोवस्स। -समयसार 55.

(द) णाहं मग्गठाणो णाहं गुणठाण जीवठाणो ण। नियमसार 78.

8. सिय अत्थि णत्थि उहयं अव्वत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं।
दव्वं खु सत्त भंगं आदेसवसेण संभवदि॥ -पंचास्तिकायसार 14.

9. (अ) जीवाश्चतुर्दशसु गुणस्थानेषु व्यवस्थिताः मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टिः, असंयत सम्यग्दृष्टिः, संयतासंयत, प्रमत्तसंयतः, अप्रमत्तसंयतः, अपूर्वकरणस्थाने उपशमकः क्षपकः, अनिवृत्तिबादरगुणस्थाने उपशमकः क्षपकः, सूक्ष्मसाम्परायस्थाने उपशमकः क्षपकः, उपशांतकषाय वीतरागछद्मस्थः, क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थः, सयोगी केवली, अयोगकेवली चेति..../1/8.

(ज्ञातव्य है कि गुणस्थान संबंधी यह संपूर्ण विवरण पं. फूलचन्द्रजी सिद्धांतशास्त्री द्वारा सम्पादित सर्वार्थसिद्धि में पृ. 29 से पृ. 92 तक लगभग 64 पृष्ठों में हुआ है- इसका तात्पर्य है कि पूज्यपाद के समक्ष यह सिद्धांत पूर्ण विकसित रूप में था)

(ब) (i) प्रश्नवशादेकस्मिन् वस्तुन्यविरोधेन विधि प्रतिषेध कल्पना सप्तभंगी- 1/6/5 तत्त्वार्थ - वर्त्तिक। (अकलंक के तत्त्वार्थ कार्तिक में सप्तभंगी का यह विवरण पृ. 33 से 35 तक तीन पृष्ठों में उपलब्ध है। (ज्ञानपीठ संस्करण)

(ii) अकलंक ने तत्त्वार्थ 1।8 में तो गुणस्थान का निर्देश नहीं किया, मात्र मार्गणास्थान का निर्देश किया, किन्तु अध्याय के सूत्र 3 एवं अध्याय 9 के सूत्र 7 एवं 26 में गुणस्थान का निर्देश किया है।

... मिथ्यादृष्ट्यादि चतुर्दशगुणस्थान भेदात् /5/3

जीवस्थानगुणस्थानानां गत्यादिषु मार्गणा लक्षणो धर्मः स्वारण्यातः । - 9/7/10

इस प्रकार अकलंक के सम्मुख सप्तभंगी और गुणस्थान उपस्थित थे।

10. एदेसिं चेव चोद्दसण्हं जीवसमासाणं ...। छक्खण्डागम- 1/1/5

(विस्तार एवं सभी नामों के लिये देखें - छक्खण्डागम- 1 / 1 / 9-22) ज्ञातव्य है कि छक्खण्डागम गुणस्थानों के लिये समवायांग के जीवठाण के समान जीव समास शब्द का प्रयोग करता है, गुणस्थान का नहीं । अतः दोनों तत्सम्बन्धी विवरण में पर्याप्त समानता है और ये कुन्दकुन्द की अपेक्षा पूर्ववर्ती है)

11. (अ) सम्यग्दृष्टि श्रावक विरतान्तवियोजक दर्शनमोह क्षपकोपशामक-कोपशांतमोहक्षपक क्षीण मोहजिनाः ...। - तत्त्वार्थ 9/45

(इसी अवधारणा से गुणस्थान की अवधारणा का विकास हुआ, इसका प्रमाण यह है कि पूज्यपाद गुणस्थान की चर्चा में गुणस्थान के अपने नाम के साथ-साथ उपशामक क्षपक आदि उपर्युक्त नामों का समन्वय करते हैं- देखे सर्वार्थसिद्धि- 1/8)

ज्ञातव्य है कि कसायपाहुडसुत्त में भी गुणस्थान संबंधी कुछ पारिभाषिक शब्दों के होते हुए भी संपूर्ण सिद्धांत का कहीं निर्देश नहीं है, अतः कसाय-पाहुडसुत्त और तत्त्वार्थसूत्र की समकालिकता सिद्ध होती है और दोनों स्पष्टतः सम्प्रदाय भेद के पूर्व की रचनाएँ हैं।

12. देखें - बोधपाहुड - 31, 32 भावपाहुड 97, समयसार 55, नियमसार 78

13. देखें - षट् खण्डागम - 1/1/5 तथा 1/1/9-22

14. भगवती आराधना 1086-88

15. मूलाचार, 12 (पर्याप्ति - अधिकार) / 154-155

3. आचार्य धरसेन
(ईस्वी सन् लगभग 4थी एवं 5वीं शती)

महाकर्म प्रकृतिशास्त्र के उपदेश तथा षट्खण्डागम के रचयिता पुष्पदन्त और भूती के विद्यागुरु आचार्य धरसेन का नाम जैन धर्म की श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय संघ के आचार्य परंपरा के बहुश्रुत आचार्य थे, फिर भी श्वेताम्बर और दिगम्बर पट्टावलियां उनके नाम का निर्देश नहीं करती हैं। वे यापनीय संघ, जो आगे चलकर मूलसंघ के नाम से प्रसिद्ध हुआ, से सम्बद्ध थे। संभवतः, इसी कारण श्वेताम्बर एवं दिगम्बर पट्टावलियाँ उनका उल्लेख नहीं करती। मात्र नंदीसंघ, जो यापनीय धारा से संबंधित रहा है, अपनी पट्टावली में उनका उल्लेख करता है। यदि वे परवर्ती काल के हैं, तो अधिक से अधिक हम उन्हें उत्तर भारत में विभाजित हुई अचेल परंपरा, जो कि आगे चलकर यापनीय नाम से विकसित हुई, से सम्बद्ध मान सकते हैं। संभावना यही है कि वे महाराष्ट्र, उत्तर कर्नाटक और आंध्रप्रदेश में विचरण कर रही उत्तर भारत की अचेल परंपरा, जो यापनीय नाम से प्रसिद्ध हुई, से संबंध हों। उन्होंने पुष्पदंत और भूतबलि नामक मुनियों को कर्मशास्त्र का अध्ययन कराया हो, क्योंकि उसी परंपरा से उनकी निकटता थी। पुनः, जिस नंदीसंघ पट्टावली को आधार बनाकर यह चर्चा की जा रही है, वह नंदीसंघ भी यापनीय परंपरा से सम्बद्ध रहा है। कणप के शक संवत् 735, ईस्वी सन् 812 के एक अभिलेख में 'श्री यापनीय नन्दिसंघ पुन्नागवृक्ष मूलगण' ऐसा स्पष्ट उल्लेख है[1]। यापनीय और नंदीसंघ की एकरूपता और नंदीसंघ की पट्टावली में धरसेन के उल्लेख से भी यही सिद्ध होता है कि धरसेन यापनीय संघ से सम्बद्ध रहे हैं।

धरसेन के संदर्भ में जो अन्य ऐतिहासिक साक्ष्य उपलब्ध हैं, उनमें दो का उल्लेख विद्वानों ने किया है। सर्वप्रथम आचार्य धरसेन को जोणिपाहुड (योनिप्राभृत) नामक निमित्त शास्त्र के एक अपूर्व ग्रंथ का रचयिता माना गया है। इस ग्रंथ की एक प्रति भाण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इंस्टिट्यूट पूना में है। पंडित बेचरदासजी ने इस प्रति से जो नोट्स लिखे थे, उनके आधार पर यह ग्रंथ पण्णसवन मुनि ने अपने शिष्य पुष्पदंत और भूतबलि के लिए लिखा था।[2] वि.स. 1556 में लिखी गई बृहदटिप्पणिका में इस ग्रंथ को वीर निर्वाण के 600 वर्ष पश्चात् धारसेन (धरसेन) द्वारा रचित माना गया है।[3] इस ग्रंथ के उल्लेख श्वेताम्बर और दिगम्बर- दोनों ही परंपराओं में पाये जाते हैं, किन्तु

दिगम्बर परंपरा में मात्र धवला की टीका, जो यापनीय ग्रंथ षडागम की दिगम्बर परंपरा की टीका है, में ही इस ग्रंथ के नाम का उल्लेख हुआ है, जबकि श्वेताम्बर परंपरा की आगमिक व्याख्याओं में वीर निर्वाण की 6ठी या 7वीं शती से लेकर 15-16वीं शती तक के अनेक आचार्यों के ग्रंथों में इसका उल्लेख किया गया है। विशेषावश्यक भाष्य (ईस्वी सन् 6ठीं शती) की गाथा 1775 में 'जोणीविहाण' के रूप में इस ग्रंथ का उल्लेख है।[4] निशीथचूर्णि (लगभग 7वीं शती) में आचार्य सिद्धसेन द्वारा योनिप्राभृत के आधार पर अश्व बनाने का उल्लेख है।[5] मलधारगच्छीय आचार्य हेमचन्द्र द्वारा रचित विशेषावश्यक की भाष्य टीका में इस ग्रंथ के आधार पर अनेक विजातीय द्रव्यों के सहयोग से सर्प, सिंह आदि प्राणी और मणि, स्वर्ण आदि पदार्थों को उत्पन्न करने का उल्लेख है[6]।

कुवलयमाला भी योनिप्राभृत में उल्लिखित रासायनिक प्रक्रियाओं का उल्लेख करती है। इसके अनुसार, जोणीपाहुड में स्वर्ग सिद्धि आदि विद्याओं का उल्लेख है[7]। जिनेश्वरसूरि ने कथाकोष-प्रकरण के 'सुन्दरीदत्त' कथानक में जिनभाषित पूर्वगत जोणी पाहुडशास्त्र का उल्लेख किया है[8]। प्रभावक चरित (5 / 115/122) में भी इस ग्रंथ के आधार पर मछली और सिंह बनाने के निर्देश हैं।

कुलमण्डनसूरि द्वारा विक्रम संवत् 1473 में रचित विचारामृत संग्रह (पृ. 9) में उल्लेख है कि अग्रायणीपूर्व से निर्गत यानिप्राभृत के कुछ उपदेशों की देशना को धरसेन द्वारा वर्जित कहा गया है। इसमें उज्जंतगिरि (पश्चिमी सौराष्ट के गिरिनगर) में इस ग्रंथ के उद्धार का भी उल्लेख है[9]। इससे धवला में उन्हें जो गिरिनार की चन्द्रगुफा में निवास करने वाला बताया गया है, उस कथन की पुष्टि होती है। इसी ग्रंथ के चतुर्थ खण्ड में अग्रायणी पूर्व के मध्य 28 हजार गाथाओं में वर्णित शास्त्र को संक्षेप में किये जाने का भी उल्लेख है[10]। जहाँ दिगम्बर परंपरा में छठवीं शताब्दी से लेकर 15वीं शताब्दी तक अनेक ग्रंथों में उनके इस ग्रंथ के निरंतर उल्लेख पाये जाते हैं। इससे यह निश्चित होता है, धरसेन और उनका ग्रंथ योनिप्राभृत (जोणिपाहुड) श्वेताम्बर परंपराओं में मान्य रहा है। अतः, वे उत्तर भारत की उसी निर्ग्रथ परंपरा से सम्बद्ध होंगे, जिनके ग्रंथों का उत्तराधिकार श्वेताम्बर और यापनीय- दोनों को समान रूप से मिला है। यापनीयों के माध्यम से ही इनका और इनके ग्रंथ जोणीपाहुड का उल्लेख धवला में हुआ है।

'जोणीपाहुड' में उसके कर्त्ता का नाम प्रज्ञाश्रमण (पन्नसवण) भी उल्लेखित है। प्रज्ञाश्रमण, क्षमा-श्रमण या क्षपण-श्रमण की तरह ही एक उपाधि रही है, जो उत्तर भारतीय अविभक्त निर्ग्रन्थ परंपरा में प्रचलित थी। नन्दीसूत्र (29) में आर्यनन्दिल को वंदन करते हुए 'पसण्णमण' शब्द आया है, उसमें वर्ण व्यत्यय हुआ है, मेरी दृष्टि में उसे 'पण्णसमणं' होना चाहिये। धवला में प्रज्ञाश्रमण को नमस्कार किया गया है [11]। तिलोयपण्णति में प्रज्ञाश्रमणों में वज्रयश (वइरजस) को अंतिम प्रज्ञाश्रमण कहा गया है[12]। कल्पसूत्र की स्थविरावली में आर्यवज्र और उनके शिष्य आर्यवज्रसेन का तथा आर्यवज्र से वज्री शाखा और आर्य नागसेन से नागली शाखा के निकलने का उल्लेख है। वज्रसेन का काल वीर निर्वाण के 616 से 619 माना गया है। ये नागहस्ति के समकालीन भी हैं। नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली के अनुसार धरसेन का काल भी यही है। सबसे महत्वपूर्ण सूचना यह है कि मथुरा के हुविष्क वर्ष 48 के एक अभिलेख में ब्रह्मदासिक कुल और उच्चनागरी शाखा के 'धर' का उल्लेख है [13]। लेख के आगे के अक्षरों के घिस जाने के कारण पढ़ा नहीं जा सका, हो सकता है, पूरा नाम 'धरसेन' हो। क्योंकि कल्पसूत्र स्थविरावली में शांतिसेन, वज्रसेन आदि सेन नामान्तक नाम मिलते हैं, अतः इसे धरसेन होने की संभावना को निरस्त नहीं किया जा सकता है। इस काल में हमें कल्पसूत्र स्थविरावली में एक पुसगिरि का भी उल्लेख मिलता है, हो सकता है, ये पुष्पदंत हों। इसी प्रकार नन्दीसूत्र वाचकवंश स्थविरावली में भूतदिन्न का भी उल्लेख है[14]। इनका समीकरण भूतबलि से किया जा सकता है।

यह महत्वपूर्ण है कि भूतदिन्न उसी नागिल शाखा के हैं, जो प्रज्ञाश्रमण वज्रसेन से प्रारंभ हुई थी। यद्यपि इस संदर्भ में अभी अधिक प्रमाणों की खोज और गंभीर चिंतन की अपेक्षा है, फिर भी यदि धरसेन वीर निर्वाण की छठवीं शताब्दी में हुए हैं और वे भी योनिप्राभृत के कर्त्ता है, तो वे मथुरा के उक्त अभिलेख के आधार पर श्वेताम्बरों और यापनीयों के ही पूर्वज है। इस अभिलेख का काल और नंदीसंघ की प्राकृत पट्टावली से दिया गया धरसेन का काल समान ही है। योनिप्राभृत के श्वेताम्बर परंपरा में मान्य होने से भी उनका श्वेताम्बरों और यापनीयों की पूर्वज उत्तर भारतीय निर्ग्रंथ धारा से होना ही सिद्ध होता है।

यदि हम नंदीसंघ की प्राकृत पट्टावली और मथुरा के पूर्वोत्तर अभिलेख से अलग हटकर षट्खंडागम की टीका धवला के आधार पर धरसेन के संबंध में विचार

करें, तो हमें उनका काल ई. सन् की दूसरी शती से नीचे उतारकर 5वीं या छठवीं शताब्दी तक लाना होगा, क्योंकि धवला में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि वीर निर्वाण के 683 वर्ष पश्चात् संपूर्ण आचाराङ्ग के धारक लोहार्य हुए। उनके पश्चात् जो भी आचार्य हुए, वे सब अंग और पूर्वों के एक देश के धारक थे, अर्थात् उन्हें अंग और पूर्वों का आंशिक ज्ञान ही था। अंग और पूर्वों का यह आंशिक ज्ञान आचार्य परंपरा से आता हुआ धरसेन को प्राप्त हुआ।[15] धवला का यह कथन महत्वपूर्ण है। लोहार्य और धरसेन के बीच के आचार्यों के संदर्भ में धवलाकार का यह अज्ञान स्पष्ट रूप से यह बतलाता है कि कम से कम उनके बीच 200 वर्ष से अधिक का अंतर रहा होगा, अतः धरसेन वीर निर्वाण के 683 + 200 = 883 वर्ष पश्चात्, अर्थात् ई. सन् की चतुर्थ शताब्दी के बाद ही हुए होंगे, परंतु प्रो. मधुसूदन ढाकी[16] के अनुसार धरसेन का काल ई. सन् की 5-6ठी शताब्दी के आस-पास है। चाहे हम धरसेन को परवर्ती ही क्यों न स्वीकार करें, किन्तु अन्य कुछ ऐसे प्रमाण हैं, जिनके आधार पर भी उन्हें दक्षिण भारतीय दिगम्बर परंपरा से संबंद्ध नहीं माना जा सकता।

यह स्पष्ट है कि धरसेन ने षट्खंडागम की रचना नहीं की थी, उन्होंने तो मात्र पुष्पदंत और भूतबलि को महाकर्मप्रकृति प्राभृत का अध्ययन कराया था। महाकर्मप्रकृति प्राभृत भी उत्तर भारत की अविभक्त निर्ग्रंथ परंपरा में ही निर्मित हुआ था। नंदीसूत्र पट्टावली में आर्य नागहस्ति को कर्मप्रकृति और व्याकरण शास्त्र का ज्ञाता कहा गया है।[17] वस्तुतः, यही कर्मप्रकृतिशास्त्र आगे चलकर श्वेताम्बर परंपरा में शिवशर्म द्वारा रचित कर्मप्रकृति आदि ग्रंथों का और यापनीय परंपरा में पुष्पदंत और भूतबलि द्वारा रचित षट्खंडागम का आधार बना है। चूँकि यापनीय और श्वेताम्बर- दोनों ही इस परंपरा के उत्तराधिकारी थे, अतः यह स्वाभाविक ही था कि दोनों परम्पराओं में इस कर्मप्रकृति शास्त्र के आधार पर ग्रंथ रचनाएँ हुई। अतः, धरसेन उत्तर भारतीय निर्ग्रंथ संघ के ही आचार्य सिद्ध होते हैं।

यदि हम धरसेन के विहार क्षेत्र की दृष्टि से भी विचार करें, तो भी यह स्पष्ट है कि उन्होंने पुष्पदन्त और भूतबलि को महाकर्मप्रकृतिशास्त्र का अध्यापन सौराष्ट देश के गिरिनगर की चन्द्रगुहा में कराया था। सौराष्ट में प्राचीन काल से लेकर आज तक श्वेताम्बर तथा यापनीय तथा यापनीयों से निकले पुन्नाट और लाड़बागड़.गच्छों का प्रभुत्व रहा है, अतः क्षेत्र की पुष्टि से भी धरसेन या तो उस अविभक्त निर्ग्रन्थ परंपरा के

आचार्य हैं, जिससे श्वेताम्बरों और यापनीयों का प्रादुर्भाव हुआ है, या फिर वे उत्तर भारतीय अचेल यापनीय परंपरा से सम्बद्ध रहे हैं।

इस प्रकार, साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्यों, आधारभूत ग्रंथ, क्षेत्र तथा काल- सभी दृष्टियों से धरसेन तथाकथित मूलसंघीय दिगम्बर परंपरा से सम्बद्ध न होकर श्वेताम्बर या यापनीय परंपरा से अथवा उनकी पूर्वज उत्तर भारत की अविभक्त निर्ग्रंथ परंपरा से ही सम्बद्ध प्रतीत होते हैं और उनका काल ईसा की चौथी - पांचवीं शती के लगभग माना जा सकता है। उनका प्रसिद्ध ग्रंथ जोणीपाहुड हो सकती है और वे महाकर्म प्रकृतिशास्त्र के विशेष ज्ञाता थे और उन्होंने कर्मशास्त्र का विशेष ज्ञान पुष्पदंत और भूतबलि को दिया था।

संदर्भ :

1. जैन शिलालेख संग्रह भाग 2, लेख क्रमांक।
2. (अ) षट्खण्डागम परिशीलन (बालचन्द्र शास्त्री), पृ. 20
   (ब) जैन साहित्य का वृहद् - इतिहास, भाग 5, पृ. 200-202.
3. योनिप्राभृतं वीरात् 600 धारसेनम्
   - वृहट्टिप्पणिका जैन साहित्य संशोधक परिशिष्ट 1 एवं 2
4. इति रुक्खायुव्वेदे जोणिविहाणे य विसरिसेहिंतो।
   - विशेषावश्यकभाष्य (आगमोदय समिति), गाथा 1775.
5. **जोणिपाहुडातिणा जहा सिद्धसेणायरिएण अस्साए कता।**
   - निशीथचूर्णि, खण्ड 2, पृ. 281.
6. **विशेषावश्यकभाष्य (मलधारगच्छीय हेमचन्द्र की टीका सहित)**
   गाथा 1775 की टीका.
7. **णमो सिद्धाणं णमो जोणीपाहुडसिद्धाणं ... मगवं सव्वण्णू जेण एयं सव्वं जोणी-पाहुड भणियं ...। - कुवलयमाला ,(उद्योतनसूरि), भारतीय विद्या भवन, पृ. 196-97.**
8. जिणभासियपुव्वगए जोणोपाहुडसुए समुद्दिट्ठं।
   एयंपि संघकज्जे कायव्वं धीरपुरिसेहिं॥
   - जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग 5, पृ. 201

9. अग्गेणिपुव्वनिग्गपाहुडसत्थस्स मज्झयारम्मि।
किंचि उद्देसदेसं धरसेणो वज्जियं भणइ॥
गिरिउज्जिंतठिएण पच्छिमदेसे सुरट्ठगिरिनयरे।
बुड्डंतं उद्धरियं दूसमकालप्पयावम्मि॥

- विचारामृतसंग्रह, कुलमण्डन सूरि, सूरत, पृ. 9

10. अट्ठावीससहस्सा गाहाणं जत्थ वन्निया सत्थे।
अग्गेणिपुव्वमज्झे संखेवं वित्थरे मुत्तुं॥

- विचारामृतसंग्रह, पृ. 9-10

11. णमो पण्णासमणाणं ॥18॥ - षट्खण्डागम, घवला, खण्ड 4, भाग 1, पुस्तक 9, पृ. 81-82.

12. पण्णसमणेसु चरिमो वइरजसो नाम ओहिणाणीसु।
चरिमो सिरिणामो सुदविणयसुसीलादिसंपण्णो॥
-तिलोयपण्णति -4 / 1480

13. महाराजस्य हुविष्कस्य स 40 / 8 हे 4 दि. 5
बमदासिये कुल (`) उ (च) ो नागरिय शाखाया धर...।

- जैन शिलालेख संग्रह, भाग 2, लेख क्रमांक 50, पृ. 38.

14. भुअहिययप्पगब्भे वंदे हं भूयदिण्णमायरिए।

- नन्दीसूत्र 39.

15. षट्खंडागम - धवलाटीका, खण्ड 1, भाग 1, पुस्तक 1, पृ. 66-68.

16. प्रो. एम.ए. ढाकी के अप्रकाशित लेख 'षट्खण्डागम का रचना काल" पर आधारित.

17. नन्दीसूत्र - स्थविरावली 30.

4 - पुष्पदन्त और भूतबलि और उनका ग्रंथ षट्खण्डागम (लगभग ईस्वी सन् की पांचवीं शती)

पुष्पदन्त और भूतबलि षट्खण्डागम के रचियता हैं । इनके उल्लेख नंदीसंघ की प्राकृत पट्टावली के अतिरिक्त कुछ अन्य पट्टावलियों और अभिलेखों में भी मिलते हैं। हरिवंशपुराण की सूची में इनका उल्लेख नहीं है। प्राप्त उल्लेखों में भी कालक्रम और गुरु परंपरा की दृष्टि से इतनी विसंगतियाँ हैं कि इन दोनों को गुरु परंपरा का और इनके काल का निर्णय करना कठिन हो जाता है। धवला और जयधवला में यद्यपि पुष्पदन्त और भूतबलि के उल्लेख हैं, किन्तु वे भी उनकी गुरु परंपरा और गण आदि के संबंध में वे स्पष्टतया मौन हैं। धरसेन तो उनके विद्यागुरु ही सिद्ध होते हैं, उनके दीक्षा गुरु कौन थे, वे किस परंपरा और अन्वय के थे, इस संबंध में हमें धवला, जयधवला और नंदीसंघ की प्राकृत पट्टावली से भी कोई सूचना नहीं मिलती है। पुष्पदंत और भूतबलि का काल भूतबलि और पुष्पदंत को कुंदकुंद की परंपरा से सम्बद्ध बताने के लिए, सिद्धरवसति का ई. सन् 1398 का जो अभिलेख उपलब्ध होता है, वह भी इतनी अधिक विसंगतियों से भरा हुआ है कि उसकी विश्वसनीयता समाप्त हो जाती है। उपलब्ध दिगम्बर पट्टावलियों की मुख्य कमी यह है कि वे कल्पसूत्र स्थविरावली के समान अविच्छिन्न गुरु परंपरा की सूचक नहीं हैं। उनमें गुरु या आचार्य परंपरा के स्थान पर नन्दीसूत्र की वाचक वंश स्थविरांवली के समान प्रसिद्ध-प्रसिद्ध आचार्यों के नामों का संकलन मात्र है। इस संकलन में भी विभिन्न पट्टावलियों में परस्पर असंगतियाँ पाई जाती है। पुनः, नामों के इस संकलन में कालक्रम और गुरु परंपरा का कोई ध्यान नहीं रखा गया है । जहाँ सिद्धरवसति के अभिलेख[1] के पुष्पदन्त और भूतबलि को अर्हत्बलि का साक्षात् शिष्य दिखाया गया है, वहीं नंदीसंघ पट्टावलि में उनके बीच माघनन्दी और धरसेन का उल्लेख है ।[2] इसी प्रकार, उक्त अभिलेख में माघनन्दी पुष्पदन्त और भूतबलि के शिष्य नेमिचन्द्र के शिष्य हैं, वहीं नंदीसंघ की पट्टावली में वे धरसेन के गुरु हैं । जहाँ एक अन्य पट्टावली[3] में कुन्दकुन्द को माघनन्दी का प्रशिष्य और जिनचन्द्र का शिष्य कहा गया है, वहीं उक्त अभिलेख में माघनन्दी को कुन्दकुन्द की शिष्य परंपरा में उनसे 10वें स्थान पर बताया गया है। सिद्धरवसति के 14वीं शती के अभिलेख में पुष्पदन्त और भूतबलि की जो गुरु परंपरा दी है, उसमें तो कालक्रम के विवेक का भी पूर्ण अभाव परिलक्षित होता है। उसमें आचार्यों का क्रम इस प्रकार है-

कुन्दकुन्द

उमास्वाति (गृद्धपिच्छ)

बलाकपिच्छ

समन्तभद्र

शिवकोटि

देवनन्दी

भट्टाकलंक

जिनसेन

गुणभद्र

अर्हद्बलि

पुष्पदन्त भूतबलि

नेमिचन्द्र

माघनन्दी

एक ओर दिगम्बर परंपरा यह मानती है कि षट्खण्डागम पर कुन्दकुन्द ने परिकर्म नामक प्राकृत व्याख्या[4] लिखी थी, किन्तु दूसरी ओर उसी षट्खण्डागम के रचियता को कुन्दकुन्द की शिष्य परंपरा में दसवें क्रम पर स्थान देना कितना विरोधाभासपूर्ण है। यदि हम नंदीसंघ पट्टावली को प्रमाण मानते हैं, तो पुष्पदन्त और भूतबलि का काल ईसा की तीसरी या चौथी शताब्दी के लगभग निश्चित होता है, किन्तु इस अभिलेख के अनुसार तो पुष्पदन्त और भूतबलि न केवल कुन्दकुन्द के पश्चात्, अपितु उमास्वाति, समन्तभद्र, पूज्यपाद, देवनन्दि, भट्ट अकलंक, जिनसेन गुणभद्र आदि के भी पश्चात् हुए हैं। भट्ट अकलंक का काल दिगम्बर विद्वानों ने सातवीं शताब्दी के लगभग माना है, अतः उक्त अभिलेख के अनुसार पुष्पदन्त और भूतबलि 8वीं शती के पूर्व के सिद्ध नहीं होते हैं। इन सब विसंगतियों के कारण दिगम्बर परंपरा में उपलब्ध पट्टावलियाँ प्राचीन आचार्यों के संबंध में विश्वसनीय नहीं रह जातीं, जबकि कल्पसूत्र और नन्दीसूत्र की पट्टावलियों की प्रामाणिकता मथुरा के अभिलेखीय साक्ष्यों से सिद्ध हो चुकी है। जिस नंदीसंघ की पट्टावली की प्रामाणिकता को हमारे विद्वानों ने बलपूर्वक स्थापित करने का प्रयत्न किया है।[5] उसमें गौतम से लेकर भूतबलि तक 33 आचार्यों की सूची दी गई है, किन्तु इनमें कहीं भी कुन्दकुन्द का

नामोल्लेख नहीं है, जबकि उसी की भूमिका रूप में प्रक्षिप्त 3 श्लोकों में उसे मूलसंघ नंदीआम्नाय, बलात्कारगण, सरस्वती गच्छ और कुन्दकुन्दान्वय की पट्टावली कहा गया है। यदि ये भूमिकारूप 3 श्लोक इसी पट्टावली के अंश हैं, तो फिर यह पट्टावली पर्याप्त परवर्ती ही सिद्ध होगी, क्योंकि बलात्कारगण का उल्लेख सन् 1075 ई. के पूर्व नहीं मिलता है। स्वयं कुन्दकुन्दान्वय का, जिसकी यह पट्टावली कही जाती है, उल्लेख भी ई. सन् 931 के पूर्व कहीं नहीं मिलता है।[6] ऐसी स्थिति में पुष्पदन्त और भूतबलि के गुरु परंपरा और काल का निर्णय दि. पट्टावलियों और अभिलेखों के आधार पर कर पाना कठिन है। यद्यपि धवला और जयधवला में आये उनके उल्लेखों से उनकी ऐतिहासिकता सुनिश्चित है, किन्तु इस आधार पर उनको गुरु परंपरा तथा उनके काल का निर्णय नहीं किया जा सकता है। उनके काल और परंपरा का निर्णय करने का साधन हमारे पास उनके ग्रंथ की विषयवस्तु के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। यदि हम यह मानते हैं कि उनके विद्यागुरु धरसेन थे, तो उन्हें हमें ई. सन् की चौथी से पाँचवीं शताब्दी के बीच कहीं भी तो स्थापित करना होगा, किन्तु यह काल-निर्णय उनकी परंपरा का आधार नहीं बन सकता। यद्यपि इतना निश्चित है कि इस काल में यापनीय संघ सुस्थापित हो चुका था और इसलिए इनके यापनीय होने की संभावना को निरस्त नहीं किया जा सकता। वस्तुतः, षट्खण्डागम को यापनीय ग्रंथ सिद्ध करने के लिए सबसे आवश्यक तथ्य उसमें स्थापित उन मान्यताओं को स्पष्ट करना है, जिनके आधार पर उसे यापनीय ग्रंथ सिद्ध किया जा सके। अग्रिम पंक्तियों में हम उन तथ्यों को प्रस्तुत करेंगे, जिनके आधार पर षटखण्डागम और उनके कर्ता पुष्पदन्त और भूतबलि को यापनीय परंपरा का माना जा सकता है।

षट्खण्डागमऔर उसकी विषयवस्तु

षट्खण्डागम के यापनीय परंपरा से संबंधित होने का सबसे महत्वपूर्ण एवं अन्यतम प्रमाण उसमें सत्प्ररूपणा नामक अनुयोगद्वार का 93वाँ सूत्र है, जिसमें पर्याप्त मनुष्यनी (स्त्री) में संयत-गुणस्थान की उपस्थिति को स्वीकार किया गया है, जो प्रकारान्तर से स्त्री - मुक्ति का सूचक है।[7] यद्यपि दिगम्बर परंपरा में इस सूत्र के 'संजद' पद को लेकर काफी ऊहापोह हुआ और मूलग्रंथ से प्रतिलिपि करते समय कागज और ताम्रपत्र पर की गई प्रतिलिपियों से इसे छोड़ दिया गया था। यद्यपि अन्त में संपादकों के आग्रह को मानकर मुद्रित प्रति में संजद पद रखा गया और यह 'संजद' पद भावस्त्री के

संबंध में है, ऐसा मानकर संतोष किया गया। प्रस्तुत प्रसंग में मैं उन सभी चर्चाओं को उठाना नहीं चाहता, केवल इतना ही कहना चाहूँगा कि षट्खण्डागम के सूत्र 89 से लेकर 93 तक में केवल पर्याप्त मनुष्य और अपर्याप्त मनुष्य, पर्याप्त मनुष्यनी और अपर्याप्त मनुष्यनी की चर्चा है, द्रव्य और भाव मनुष्य या भावी मनुष्यनी की वहाँ कोई चर्चा ही नहीं है, अतः इस प्रसंग में द्रव्य स्त्री और भाव स्त्री का प्रश्न उठाना ही निरर्थक है। धवलाकार स्वयं भी इस स्थान पर शंकित था, क्योंकि इससे स्त्री-मुक्ति का समर्थन होता है, अतः उसने अपनी टीका में यह प्रश्न उठाया है कि मनुष्यनी के संदर्भ में सप्तम गुणस्थान मानने पर उसमें 14 गुणस्थान भी मानने होंगे और फिर स्त्री-मुक्ति भी माननी होगी,[8] किन्तु जब देव, मनुष्य, तिर्यंच आदि किसी के भी संबंध में मूल ग्रंथ में द्रव्य और भाव-स्त्री की चर्चा का प्रसंग नहीं उठाया गया, तो टीका में मनुष्यनी के संबंध में यह प्रसंग उठाना केवल साम्प्रदायिक आग्रह का ही सूचक है। वस्तुतः, प्रस्तुत ग्रंथ यापनीय सम्प्रदाय का रहा है। चूँकि उक्त सम्प्रदाय स्त्रीमुक्ति को स्वीकारता था, अतः उसे यह सूत्र रखने में कोई आपत्ति ही नहीं हो सकती थी। समस्या तो उन टीकाकार आचार्यों के सामने आई, जो स्त्री-मुक्ति का निषेध करने वाली दिगम्बर परंपरा की मान्यता के आधार पर इसका अर्थ करना चाहते थे। अतः, मूलग्रंथ में 'संजद' पद की उपस्थिति से षट्खण्डागम मूलतः यापनीय परंपरा का ग्रंथ सिद्ध है, इसमें किंचित् भी संशय का स्थान नहीं रह जाता है।

यापनीय परंपरा के संबंध में यह भी सुनिश्चित है कि वे श्वेताम्बर आगमों को मानते थे और उनकी परंपरा में उनका अध्ययन-अध्यापन भी होता था। यही कारण है कि षट्खण्डागम की विषयवस्तु बहुत कुछ रूप में श्वेताम्बर परंपरा के प्रज्ञापना सूत्र से मिलती है, यद्यपि षट्खण्डागम में चिंतन का जो विकास है, वह प्रज्ञापना में नहीं है। इस संबंध में पं. दलसुख भाई मालवणिया ने विस्तार से जो चर्चा की है[9], उसे हम अतिसंक्षेप में यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं-

1. प्रज्ञापना और षट्खण्डागम- दोनों का आधार 'दृष्टिवाद' है, अतः दोनों की सामग्री का स्रोत एक ही है।

2. दोनों की विषयवस्तु में बहुत कुछ समानता है, किन्तु दोनों की निरूपण शैली भिन्न है- एक जीव को केन्द्र में रखकर विवेचना करता है तो दूसरा बद्ध कर्मों के क्षय के कारण निष्पन्न गुणस्थानों को दृष्टि में रखकर जीव का विवेचन करता है।

3. प्रज्ञापना के 36 पदों में से कर्मबंधक, कर्मवेदक, वेदबंधक, वेदवेदक और वेदना- ये छः खण्ड, षट्खण्डागम में भी इसी नाम से सूचित किये गये हैं,जिनकी समानता तुलनीय है।

4. जहाँ प्रज्ञापनासूत्र भगवती के समान प्रश्नोत्तर शैली में लिखा गया है, वहाँ षट्खण्डागम में कुछ प्रश्न-उत्तर भी संग्रहीत हैं।

5. प्रज्ञापना एक ही आचार्य की संग्रहकृति है, उसमें कोई चूलिका नहीं है, किन्तु षट्खण्डागम की स्थिति इससे भिन्न है, उसमें अनेक चूलिकाएँ भी समाविष्ट हैं।

6. जहाँ प्रज्ञापना सूत्र - शैली का ग्रंथ है, वहां षट्खण्डागम अनुयोग-शैली या व्याख्या- शैली का ग्रंथ है।

7. उपर्युक्त कुछ भिन्नताओं के होते हुए भी षट्खण्डागम और प्रज्ञापना में निरूपणसाम्य और शब्दसाम्य है । प्रज्ञापना की गाथाएं क्र. 99-100-101 षट्खण्डागम में सूत्र क्र. 122-23-24 में पाई जाती हैं, किन्तु जहाँ **'इमं भणिदं'** कहकर इन गाथाओं को षट्-खण्डागम में उद्धृत किया गया है, वहां प्रज्ञापना में ऐसा कोई निर्देश नहीं है। इन गाथाओं के अतिरिक्त महादण्डक की चर्चा दोनों में बहुत कुछ समानरूप से मिलती है। अल्पबहुत्व की इस चर्चा को प्रज्ञापना में 26 द्वारों के द्वारा विवेचित किया गया है, जबकि षट्खण्डागम में मात्र गति आदि 14 द्वारों के आधार पर इसकी चर्चा की गई है। प्रज्ञापना में जो अधिक द्वार हैं, उनका कारण यह है कि उनमें जीव और अजीव - दोनों की दृष्टि से विचार किया गया है, जबकि षट्खण्डागम में मात्र जीव की दृष्टि से विचार किया गया है। षट्खण्डागम के 14 द्वार प्रज्ञापना में भी उसी नाम से मिलते हैं, मात्र क्रम का अंतर है।

8.जहाँ प्रज्ञापना में महादण्डक में जीव के 98 भेदों का उल्लेख है, वहां षट्खण्डागम के महादण्डक में जीव के मात्र 78 भेदों का उल्लेख है। प्रस्तुत प्रकरण में प्रज्ञापना में वैचारिक विकास देखा जाता है, जबकि यहाँ षट्खण्डागम प्राचीन परंपरा का अनुसरण करता है, किन्तु अन्य प्रकरणों में प्रज्ञापना की अपेक्षा षट्खण्डागम में विकास देखा जाता है।

9. प्रज्ञापना और षट्खण्डागम- दोनों में ही तीर्थंकर, चक्रवर्त्ती, बलदेव, वासुदेव आदि पद की प्राप्ति की चर्चा है।

10. जिस प्रकार प्रज्ञापना में निर्युक्तियों की अनेक गाथाएं हैं, उसी प्रकार

षट्खण्डागम में भी निर्युक्तियों की अनेक गाथाएं मिलती हैं, इससे यह ज्ञात होता है कि दोनों किसी समान परंपरा से ही विकसित हुए है। षट्खण्डागम पुस्तक 13 में सूत्र 4 से 16 तक की गाथाएं आवश्यकनिर्युक्ति में गाथा क्र. 31 से आगे और विशेषावश्यक भाष्य में गाथा क्र. 604 से यथावत् मिलती है।

षट्खण्डागम और प्रज्ञापना के मूल स्त्रोत की यह एकरूपता यही सूचित करती है कि षट्खण्डागम का विकास भी उसी धारा से हुआ है, जिसमें प्रज्ञापना की रचना हुई। यद्यपि षट्-खण्डागम में कुछ स्थल तो ऐसे हैं, जो प्रज्ञापना की अपेक्षा भी प्राचीन परंपरा का अनुसरण करते हैं, किन्तु षट्खण्डागम में अनुयोगद्वार के माध्यम से जो व्याख्या शैली अपनाई गई है, उसमें नय-निक्षेप पद्धति का जो अनुसरण पाया जाता है, वह प्रज्ञापना में उपलब्ध नहीं है और इस दृष्टि से प्रज्ञापना षट्खण्डागम की अपेक्षा प्राचीन प्रतीत होता है। उसी प्रकार, प्रज्ञापना में गुणस्थान-सिद्धांत का कोई भी निर्देश उपलब्ध नहीं होता, जबकि षट्खण्डागम में तो गुणस्थान-सिद्धान्त विवेचन का मुख्य आधार रहा है । इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रज्ञापना की अपेक्षा षट्खण्डागम परवर्ती है । जहाँ प्रज्ञापना ईसा पूर्व प्रथम शती की रचना है, वहाँ षट्खण्डागम ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी के पूर्व की रचना नहीं है, फिर भी दोनों में विषयवस्तु एवं शैलीगत साम्य यही सूचित करता है कि दोनों के विकास का मूल स्त्रोत एक ही परंपरा है।

प्रो. हीरालाल जैन और प्रो. आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये ने षट्खण्डागम की धवला टीका की पुस्तक 1, खण्ड 1, भाग 1 के द्वितीय संस्करण की अपनी भूमिका में पं. दलसुख भाई मालवणिया के उपर्युक्त विचारों की समीक्षा की है, किन्तु वे भी यह तो मानते ही है कि षट्खण्डागम और प्रज्ञापना में विषयवस्तुगत साम्य है।[10] चाहे वे यह नहीं मानें कि षट्खण्डागम पर प्रज्ञापना का प्रभाव है, किन्तु इतना तो मानना ही होगा कि इस समानता का आधार दोनों की पूर्व परंपरा का होना है और यह सत्य है कि श्वेताम्बर और यापनीय- दोनों ही उत्तर भारत की निर्ग्रन्थ परंपरा के समान रूप से उत्तराधिकारी रहे हैं और इसीलिए दोनों की आगमिक परंपरा एक ही है तथा यही उनके आगमिक ग्रंथों की निकटता का कारण है। षट्खण्डागम में स्त्री-मुक्ति का समर्थन और श्वेताम्बर आगमिक और निर्युक्ति साहित्य से उसकी शैली और विषयवस्तुगत समानता यही सिद्ध करती है कि यह यापनीय परंपरा का ग्रंथ है।

मूल षट्खण्डागम की श्वेताम्बर आगम साहित्य से किस प्रकार निकटता है, उसे निम्न तुलनात्मक विवरणों से सम्यक् रूप से जाना जा सकता है-

प्रज्ञापना और षट्खण्डागम

प्रज्ञापना सूत्र

समयं वक्कंताणं समयं तेसिं सरीरनिव्वत्ती।

समयं आणुग्गहणं समयं ऊसास-नीसासे॥99॥

षट्खण्डागम

समगं वक्कंताणं समगं तेसिं सरीरणिप्पत्ती।

समगं च अणुग्गहणं समगं उस्सासणिस्सासो॥ सूत्र 124

प्रज्ञापना सूत्र

एक्कस्स उ जं गहणं बहूण साहारणाण तं चेव।

जं बहुयाणं गहणं समासओ तं पि एगस्स॥100॥

षट्खण्डागम

एयस्स अणुग्गहणं बहूण साहारणाणमेयस्स।

एयस्स जं बहूणं समासदो तं पि होदि एयस्स॥ - सूत्र - 123

प्रज्ञापना सूत्र

साहारणमाहारो साहारणमाणुपाणगहणं च।

साहारणजीवाणं साहारणलक्खणं एयं॥101॥

षट्खण्डागम

साहारणमाहारो साहारणमाणपाणगहणं च।

साहारणजीवाणं साहारणलक्खणं भणिदं॥ (सूत्र 122)

स्थानांग और षट्खण्डागम

स्थानांग

मणसा वयसा काएण वावि जुत्तस्स विरियपरिणामो।

जीवस्स अप्पणिज्जो स जोगसन्नो जिणक्खाओ॥

-स्थानांग, स्थान 3,पृ. 101

षट्खण्डागम

मणसा वचसा काएण चावि जुत्तस्स विरियपरिणामो।
जीवस्सप्पणियोओ जोगो त्ति जिणेहि णिद्दिट्ठो ॥

- षट्खण्डागम, खण्ड 1, भाग 1, पुस्तक 1, पृ. 101

आवश्यकनिर्युक्ति और षटखण्डागम

आवश्यकनिर्युक्ति-

अंगुलमावलियाणं, भागसंखिज्ज दोसु संखिज्जा।
अंगुलमावलिअंतो, आवलिया अंगुलपुहुत्तं ॥32॥

षट्खण्डागम-

अंगुलमावलियाए मागमसंखेज्ज दो वि संखेज्जा।
अंगुलमावलियंतो आवलियं चांगुलपुधत्तं ॥304॥

आवश्यक निर्युक्ति-

भरहंमि अद्धमासो, जंबूदीवंमि साहिओ मासो।
वासं च मणुअलोए, वासपुहुत्तं च रुयगंमि ॥34॥

षट्खण्डागम-

भरहम्मि अद्धमासं साहियमासं च जंबुदीवम्मि।
वासं च मणुअलोए वासपुधत्तं च रूजगम्मि ॥307॥

आवश्यकनिर्युक्ति-

संखिज्जमि उ काले, दीवसमुद्दावि हुंति संखिज्जा।
कालंमि असंखिज्जे, दीवसमुद्दा उ भइयव्वा ॥35॥

षट्खण्डागम-

संखेज्जदिमे काले दीव - समुद्दा हवंति संखेज्जा।
कालम्मि असंखेज्जे दीव - समुद्दा असंखेज्जा ॥308॥

आवश्यकनिर्युक्ति-

काले चउण्ह वुड्ढी, कालो भइयव्वु खित्तबुड्ढीए।

वुड्ढीइ दव्वपज्जव, भइयव्वा खित्तकाला उ ॥36॥

षटखण्डागम-

कालो चदुण्ण वुड्ढी कालो भजिदव्वो खेत्तवुड्ढीए।

वुड्ढीए दव्व-पज्जय भजिदव्वा खेत्त-काला दु ॥309॥

आवश्यकनिर्युक्ति-

सक्कीसाणा पढमं, दुच्चं च सणंकुमारमाहिंदा।

तच्चं च बंभलंतग, सुक्कसहस्सार य चउत्थीं ॥48॥

षट्खण्डागम-

सक्कीसाणा पढमं दोच्चं तु सणक्कुमार-माहिंदा।

तच्चं तु बम्ह-लंतय सुक्क-सहस्सारया चोत्थं ॥316॥

आवश्यकनिर्युक्ति-

आणयपाणयकप्पे, देवा पासंति पंचमिं पुढवीं ।

तं चेव आरणच्चूय, ओहीनाणेण पासंति ॥49॥

षट्खण्डागम-

आणद-पाणदवासी तह आरण-अच्चुदा य जे देवा।

पस्संति पंचमखिदिं छट्ठिम गेवज्जया देवा ॥318॥

आवश्यकनिर्युक्ति-

उक्कोसो मणुएसुं, मणुस्सतिरिएसु य जहण्णे य।

उक्कोस लोगमित्तो, पडिवाइ परं अपडिवाई ॥53॥

षट्खण्डागम-

उक्कस्स माणुसेसु य माणुस-तेरिच्छए जहण्णोही।

उक्कस्स लोगमेत्तं पडिवादी तेण परमपडिवादी ॥327॥

विवेचन शैलीगत समानता

	प्रज्ञापना	**षट्खण्डागम**
1.	दिशा	-

2.	गति	1. गति
3.	इन्द्रिय	2. इन्द्रिय
4.	काय	3. काय
5.	योग	4. योग
6.	वेद	5. वेद
7.	कषाय	6. कषाय
8.	लेश्या	10 लेश्या
9.	सम्यक्त्व	12. सम्यक्त्व
10.	ज्ञान	7. ज्ञान
11.	दर्शन	9. दर्शन
12.	संयत	8. संयम
13.	उपयोग	-
14.	आहार	14. आहारक
15.	भाषक	-
16.	परित्त	-
17.	पर्याप्त	-
18.	सूक्ष्म	-
19.	संज्ञी	13. संज्ञी
20.	भव	11. भव्य
21.	अस्तिकाय	-
22.	चरिम	-
23.	जीव	-
24.	क्षेत्र	-
25.	बंध	-
26.	पुद्गल	-

इस तुलनात्मक अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि षट्खण्डागम भी उमास्वाति और प्रज्ञापना के कर्त्ता श्यामाचार्य के बाद का ग्रंथ है। इसका काल ईसा की पाँचवीं या छठवीं शती से पूर्व नहीं जाता है। यद्यपि इसमें दिगम्बर मान्य सात नयों के

स्थान पर उमास्वाति के भाष्यमान्य पाठ के अनुरूप पाँच ही नयों का उल्लेख है। यदि उमास्वाति चौथी या पाँचवीं शती के हैं, तो यह ग्रंथ भी पांचवीं या छठवीं शती से प्राचीन नहीं हो सकता और इसका जो काल है, वहीं पुष्पदंत और भूतबलि का काल है फिर भी इतना निश्चित है कि पुष्पद और भूतबलि कर्म सिद्धांत के गहन ज्ञाता थे।

संदर्भ :

1. जैन शिलालेख संग्रह, भाग-1, सिद्धरवसति अभिलेख, क्रमांक 105.
2. षट्खण्डागम धवला टीका समन्वित, खण्ड-1, भाग-1 पुस्तक - 1, प्रस्तावना, पृ. 21-22 पर उद्धृत.
3. पट्टावली पराग संग्रह, पृ - 117-118.
4. षट्खण्डागम, धवला टीका समन्वित, खण्ड-1, भाग-1, पुस्तक-1 प्रस्तावना, पृ. 42.
5. वही, प्रस्तावना, पृ.-23.
6. जैन शिलालेख संग्रह, भाग-3, प्रस्तावना, पृ. 62.
7. मणुसिणीसु मिच्छाइट्ठि सासण सम्माइट्ठि ट्ठाणे सिया पज्जत्तियाओ सिया अपज्जतियाओ ॥92॥
   सम्मामिच्छाइट्ठि असंजद सम्माइट्ठि संजदासंजद संजद णियमा पज्जत्तियाओ॥93॥
8. देखें - वही खण्ड 1, भाग 1, पुस्तक 1, पृष्ठ 334 पर धवला टीका.
9. पण्णवणासुत्त भाग-प्रस्तावना (गुजराती), पृ., महावीर विद्यालय बम्बई.
10. देखें- षट्खण्डागम, खण्ड 1, भाग 1, पुस्तक 1 के द्वितीय संस्करण की भूमिका, पृ. 10.

5. आचार्य कुन्दकुन्द
(ईस्वी सन् लगभग 5वीं या 6ठीं शती)

आचार्य कुन्दकुन्द दिगम्बर जैन साहित्याकाश के वे सूर्य है, जिनके आलोक से उनके परवर्तीकाल का सम्पूर्ण जैन साहित्य आलोकित है। किन्तु दुर्भाग्य यह है कि अन्य भारतीय आचार्यो के समान ही उनके जीवनवृत्त के सम्बन्ध में कोई भी अधिकृत जानकारी उनके और उनके सहवर्ती साहित्य से हमें नहीं मिलती है। उनके और उनके साहित्य के आधार पर मात्र अटकलें ही लगाई जाती है।

उनका वास्तविक गृही जीवन का नाम क्या था ?, उनके माता पिता कौन थे ?, वे कब और किस काल में हुए – इसकी अधिकृत जानकारी का प्रायः अभाव ही है। यद्यपि यह बात सही लगती है कि उनके जन्मस्थान या निवासस्थान – कौण्डकौण्डपुर के आधार पर ही वे कुन्दकुन्द नाम से विख्यात हुए है। सामान्यतया उन्हें निम्न पाँच नामों से पहचाना जाता है– कुन्दकुन्द, पद्मनन्दी, वक्रगीव, गृद्धपिच्छ और एलाचार्थ कही–कही उन्हें बलाकपिच्छ भी कहा गया है। इनमें परवर्ती चार नाम तो निश्चय ही उनकी मुनि अवस्था से सम्बन्धित है और प्रथम नाम उनके निवासस्थल कौण्डकौण्डपुर से सम्बन्धित है। आज भी दक्षिण भारत के कुछ क्षेत्रों में व्यक्तियों के गाँव या नगर के नाम उनके नाम का ही एक हिस्सा होते हैं। सम्भवतः कुन्दकुन्द के साथ भी ऐसा ही हुआ हो और अपने गाँव के नाम से ही वे प्रख्यात हुए हो। पद्मनन्दी नाम उनकी दीक्षित अवस्था का नाम हो, किन्तु दिगम्बर आम्नाय में पद्मनन्दी नाम के अनेक आचार्य हो गये है, अतः इस नाम से उनकी पहचान कर पाना कठिन ही है, यद्यपि नन्दी नामान्त से कुछ विद्वनों ने उन्हें दिगम्बर आम्नाय के नन्दी संघ से जोडने का प्रयास किया है, किन्तु यह कितना.प्रमाणिक है, यह सिद्ध कर पाना कठिन है, यद्यपि नन्दीसंघ पट्टावली के पूर्व की हार्नले द्वारा सम्पादित नन्दीसंघ पट्टावली में पाचवें क्रम पर कुन्दकुन्द का नाम दिया है अन्य पट्टावलीयों में कुन्दकुन्द का नाम नही है। कुछ शिलालेखों में कुन्दकुन्दान्वयं का नाम मिलता है। शिलालेखों में भी उनके नाम कुन्दकुन्द या पद्मनन्दी उत्कीर्ण है। अतः इतना निश्चित है कि ईसा की प्रथम सहस्राब्दि में वे निश्चित हुए है। शिलालेखों में ईसा की सातवीं शती के बाद से कुन्दकुन्दान्वय के होने

के कुछ प्रमाण उपलब्ध है। गृद्धपिच्छ यह नाम उनके द्वारा मयूरपिच्छ के स्थान पर गृद्ध के पंख की पिच्छी धारण करने से हुआ है और वक्रगीव उनके अत्याधिक लेखन और पठन करने से गर्दन टेडी हो जाने के कारण हुआ हो, ऐलाचार्य भी उनका एक और भी मिलता है, किन्तु ये तीनों विशेषण लगभग ईस्वी सन् की तेहरवीं शती से ही प्रचलन में देखे जाते है अतः ये उनके ही विशेष नाम थे, यह सिद्ध कर पाना कठिन प्रतीत होता है विद्वानों ने कुन्दकुन्द और पद्मनन्दी इन दो नामों को ही प्रमाणिक माना है। किन्तु इतना निश्चित है कि वे दक्षिण भारतीय दिगम्बर परम्परा के जैनाचार्य हुए है जिन्होने विपुल साहित्य की रचना की थी।

गुरू परम्परा और सम्प्रदाय

अचार्य कुन्दकुन्द के गुरू कौन थे, यह भी पूर्णतः एक विवादास्पद प्रश्न रहा है, उन्होंने अपने ग्रन्थ पाहुड (प्राभृत) में अपने गुरू के रूप में भद्रबाहु का उल्लेख किया है, किन्तु भद्रबाहु नाम के भी अनेक आचार्य हुए है उनके गुरू के रूप में उल्लेखित भद्रबाहु कौन से है, यह निर्णय कर पाना कठिन है। दिगम्बर विद्वानों ने दो भद्रबाहु की कल्पना की है – प्रथम भद्रबाहु जो पूर्वधर थे और भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् ई. पू. लगभग तीसरी शती में हुए है, वे आचार्य कुन्दकुन्द के वास्तविक गुरू नहीं हो सकते है, क्योंकि दोनों में काल का लम्बा अन्तराल है, दिगम्बर विद्वानों दूसरे भद्रबाहु की कल्पना ईसा की दूसरी शती में होने की है, किन्तु उनके साथ पूर्वधर आदि होने जो विशेषण दिये गये है, वे तो प्रथम भद्रबाहु के सम्बन्ध में युक्त या सुसंगत हो सकते हैं। पुनः कुछ दिगम्बर विद्वानों ने भद्रबाहु प्रथम को ही गमक गुरू मानकर यह संगति बिठाई हैं, किन्तु यह वास्तविक संगति नहीं है, गमक गुरू मानने में कोई बाधा तो नहीं है, किन्तु इससे समकालिकता या प्राचीनता का निर्णय नहीं हो पाता है, क्योंकि आज भी भगवान महावीर या गौतम हमारे सबके गमक गुरू तो है ही। अस्तु। श्वेताम्बरों ने जिन दूसरे भद्रबाहु (बरामिहर के भाई) की कल्पना की है, उनका काल लगभग ई.सा. की सातवीं शती है, अतः उनसे भी कुन्दकुन्द की कालिक समरूपता ठीक से नहीं बैठती है। कुन्दकुन्द के गुरू के रूप में दूसरा नाम जिनचन्द्र का भी माना जाता है, किन्तु ये जिनचन्द्र कौन थे, कब हुए, ऐसा कोई भी सबल प्रमाण नहीं मिलता है। श्वेताम्बरों में जिनचन्द्र

नाम के अनेक आचार्य हुए है, इनमें कुन्दकुन्द के गुरू कौन से जिनचन्द्र थे, यह निर्णय कर पान कठिन है। सम्भवतः जिनचन्द्र नाम के आधार पर आचार्य हस्तीमलजी ने यह कल्पना करली हो कि कुन्दकुन्द पहले श्वेताम्बर परम्परा में दीक्षित हुए, फिर शिवभूति के प्रभाव से यापनीय या बोटिक हो गये और फिर दिगम्बर होकर मुनि की अचेलता का जोरो से समर्थन करने लगे, किन्तु इस सम्बन्ध में सबल प्रमाण खोज पाना कठिन है। अतः यह आचार्य श्री की स्वैर कल्पना ही हो सकती है। प्रमाणिक तौर पर निश्चयात्मक रूप से कुछ भी कल्पना कर पाना कठिन ही है। इतना निश्चित ही है कि वे अपने लेखन के आधार पर तो दिगम्बर परम्परा के ही आचार्य सिद्ध होते है। दक्षिण में दिगम्बर परम्परा का ही बाहुल्या था, अतः यह निश्चित उनका समस्त लेखन दिगम्बर परम्परा से प्रभावित रहा है।

कुन्दकुन्द का काल

कुन्दकुन्द का समय क्या है ?, यह अत्यन्त ही विवादास्पद विषय रहा है। जहाँ कुछ दिगम्बर विद्वान उन्हें ई.पू. प्रथम शताब्दी में रखते है, वही कुछ विद्वान उन्हें विक्रम की सातवीं या आठवीं शती का मानते है, इनमें से किसे सत्य माना जाये, यह निर्णय अति कठिन है। फिर भी उनके लेखन में प्रस्तुत संकेतो या अवधारणाओं के आधार पर उनके कार्यकाल का निर्णय सम्भव है। सर्वप्रथम पट्टावली के आधार पर डॉ. रतनचंदजी और हार्नले आदि कुछ पश्चिमी विद्वानों ने उन्हें ई.पू. या ईसा की प्रथम शताब्दी का माना है तो दूसरी ओर प्रो. ढाकी दिगम्बर आचार्यो द्वारा सातवीं तक उनका उल्लेख भी नहीं करना, कुन्दकुन्दान्वय के सभी अभिलेखीय एवं साहित्यिक प्रमाण सातवीं शती के बाद के होने के आधार पर उन्हें विक्रम की सातवीं–आठवीं शती या उसके भी बाद का मानते हैं। मैनें भी अपने पूर्व लेखों में प्रों. ढाकी का समर्थन करते हुए और उनके द्वारा कथित सप्तभंगी, गुणस्थान, मार्गणास्थान और जीवस्थान तथा इनके पारस्परिक सम्बन्ध की स्पष्टता के आधार पर इन्हें पाचवी शती के बाद का ही माना है। कुछ दिगम्बर विद्वान उन्हें पूर्वापर दोनों तिथियों के मध्य रखते हैं यथा प्रो. हीरालालजी ने उन्हें ईसा की द्वितीय शती का माना है। पं. नाथूरामजी प्रेमी ने भी नियमसार की गाथा के लोकविभाग शब्द को आधार बनाकर लगभग उनका समय विक्रम की छठी शती स्वीकार किया है। पं.

जुगलकिशोरजी मुख्तार ने यह माना है कि कुन्दकुन्द ई. पूर्व सन् ८ से ई. सन् १६५ के बीच स्थित थे, अर्थात ईसा की दूसरी शती में हुए। पं. कैलाशचन्दजी मर्करा अंभिलेख के आधार पर उन्हे ईसा की तीसरी–चौथी शती का मानते है। वह पट्टावली, जिसके आधार पर कुन्दकुन्द को ई.पू. प्रथम शताब्दि में रखा जाता है, वह बहुत ही परवर्ती काल की है। उसकी समय रचना विक्रम संवत् १८०० के आस–पास है। इस प्रकार अपने से अठारह सौ वर्ष पूर्व हुए व्यक्ति के सम्बन्ध वह कितनी प्रमाणिक होगी, यह विचारणीय है। मैने ही नहीं, अपितु दिगम्बर जैन विद्वान पं. जुगलकिशोरजी मुख्तार ने भी इस पट्टावली को अप्रमाणिक माना है वे लिखते हैं कि "इसमें प्राचीन आचार्यो का समय और क्रम बहुत कुछ गडबड में पाया जाता है उदाहरण के लिए पूज्यपाद (देवनन्दी) के समय को ही लीजिये, पट्टावली में वह वि. सं. २५८ से ३०८ तक दिया है। परन्तु इतिहास में वह ४५० के करीब आता है। इतिहास में वसुनन्दी का समय विक्रम की १२वीं शती माना जाता है। परन्तु पट्टावली में छठीं शताब्दि (५२५–५३१) दिया गया, मेरी दृष्टि में यह ६०० वर्ष की भूल प्रारम्भ से चली आ रही है। अतः पं. जुगलकिशोरजी मुख्तार लिखते हैं – यह पट्टावली संदिग्ध अवस्था में है और केवल इसी के आधार पर किसी के समयादि का निर्णय कैसे किया जा सकता है ?प्रो. हार्नले, डॉ. पिटर्सन ने इसी आधार पर उमास्वाती को ईसा की पहली शती का विद्वान लिखा है और इससे यह मालूम होता है कि उन्होंने इस पट्टावली की कोई विशेष जाँच नहीं की। (देखें – स्वीमी समन्तभद्र पृ. १४५–१४६)। प्रो. रतनचन्दजी इसे प्रमाण मानकर कुन्दकुन्द को ई. पूर्वोत्तर प्रथम शती का मान रहे है, यह बात कितनी प्रामाणिक होगी ?यदि यह पट्टावली अन्यों के बारे में भी समय की अपेक्षा अप्रमाणिक है, तो कुन्दकुन्द के बारे में प्रमाणिक कैसे होगी ?वे भगवती आराधना, मूलाचार आदि में समान गाथाएँ दिखाकर यह कैसे सिद्ध कर सकते है, वे गाथाएँ या प्रसगं कुन्दकुन्द से उनमें लिये गये है। यह भी हो सकता है कि कुन्दकुन्द ने ये प्रसंग वहाँ से लिये हों। कुन्दकुन्द के समय के सम्बन्ध में इन सभी विद्वानों के मत न केवल एक–दूसरे के विरोधी है अपितु समीक्ष्य भी है। मेरी दृष्टि में कुन्दकुन्द ईसा की छठी शताब्दि के पूर्व के नहीं हो सकते हैं ?–

(१) यदि वे ईसा की प्रथम से लेकर तीसरी, चौथी शती तक के भी होते तो कोई

न कोई दिगम्बर आचार्य जो ईसा की ८वीं शती से पूर्व हुआ हैं, उनका निर्देश अवश्य करते। लेकिन समन्तभद्र, जिनसेन प्रथम, अकलंक, विद्यानन्दी आदि कोई भी चाहे उनके पक्ष में हो या विपक्ष में हो उनका निर्देश अवश्य करते। लेकिन आठवीं शती तक कोई भी दिगम्बर या श्वेताम्बर आचार्य उनका निर्देश नहीं करते है।

(२) आचार्य कुन्दकुन्द की अमर कृतियाँ समयसार, नियमसार, पंचास्तिकायसार, प्रवचनसार आदि की अमृतचन्द्र के पूर्व तक टीका की बात तो अलग, किसी भी आचार्य ने उनका निर्देश तक नहीं क्यों नहीं किया ?यदि वे उनके पक्षधर होते तो उनका निर्देश करते या उन पर टीका लिखते, काश यदि उनके मन्तव्यों के विरोधी होते तो उनका खण्डन करते। किन्तु ईसा की आठवीं–नवीं शती तक न तो उन कृतियों का कहीं कोई निर्देश मिलता है और उन पर टीका ही लिखी गई है। यहाँ तक कि उनका नाम स्मरण भी कोई नहीं करता है। जबकि अनेक पूर्व आचार्यो का नाम निर्देश आदर पूर्वक किया गया है।

(३) मर्करा अभिलेख (राक सं. ३८८) जिसके आधार पर कुन्दकुन्द को ईसा की चौथी शती का भी माना जाता है, वह जाली है, प्रमाणिक नहीं है। प्रथमतः न केवल इतिहासविदों ने, अपितु स्वयं दिगम्बर विद्वानों ने भी उसे जाली मान लिया है। ईसा की पाँचवी, छठी शती के पूर्व के सभी अभिलेख प्राकृत भाषा और ब्राह्मी लिपी के मिलते है, जबकि यदि अभिलेख संस्कृत भाषा और देवनागरी लिपि में है।

(४) कुन्दकुन्द ने जो सुत्तपाहुड गाथा २२–२३ में स्त्री मुक्ति का निषेध किया है, उसका निर्देश आठवीं शती के पूर्ववर्ती किसी भी श्वेताम्बर या दिगम्बर मान्य किसी भी ग्रन्थ में नहीं मिलता है। नवीं शताब्दि में दिगम्बर आचार्य वीरस्वामी मात्र उसका समर्थन करते हुए षट्खण्डागम के प्रथम खण्ड के ९३ वें सूत्र की धवलाटीका में करते है, जबकि आठवीं शती में श्वेताम्बर आचार्य हरिभद्र ने उसका निर्देशकर उस सम्बन्ध में यापनीय मान्यता का समर्थन किया है। जो अचेलकता की समर्थक होकर भी स्त्रीमुक्ति और केवलीमुक्ति की सापोषक रही है।

(५) प्रो. रतनचंद्रजी भी अपने ग्रन्थ 'जैन परम्परा और यापनीय संघ' में कुन्दकुन्द के अनुल्लेखन सम्बन्धी इस प्रश्न का सीधा उत्तर न देकर माना विस्मृति का तर्क देकर छुट्टी पा लेते है। जबकि छटीं, सातवीं शती के दिगम्बर

आचार्यो को अपने पूर्ववर्ती अनेक आचार्यो के नाम स्मरण में रहे और उन्हें आदर–पूर्वक नमस्कार किया, वे कुन्दकुन्द जैसे महान आचार्य को कैसे भूल गये ? मेरी दृष्टि में इसके दो ही कारण हो सकते है, या तो वे उन्हें अपनी परम्परा का न मानकर किसी अन्य परम्परा का मानते हो, या फिर उनके काल तक कुन्दकुन्द का अस्तित्त्व भी नहीं रहा हो। भाई श्री रतनचंदजी ने माना कि गुणस्थान के सम्बन्ध में मेरा मत परिवर्तित हुआ है, परन्तु ऐसा नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में न केवल गुणस्थान अपितु मार्गणास्थान और जीवस्थान की चर्चा भी है न केवल चर्चा है, उनके सहसम्बन्ध की ओर संकेत भी है। ने केवल श्वेताम्बर आगम साहित्य में एक अपवाद को छोडकर जहाँ उन्हें 'जीवठाण' कहा है, श्वेताम्बरों के समान षट्खण्डागम में भी प्रारम्भ में उन्हें 'जीवठाण' ही कहा है। तत्त्वार्थ में तो कहीं भी गुणस्थान की चर्चा नही है जबकि कुन्दकुन्द उसकी चर्चा करते हैं, जिन दस अवस्थाओं का तत्त्वार्थ के ९ वें अध्याय में उल्लेख है, वे भी गुणस्थान की अवधारणा के विकास के पूर्व की है और षटखण्डागम के कृतिअनुयोगद्वार के परिशिष्ट में पाई जाती है, वे ही दोनों गाथाएँ आचारांग निर्युक्ति में यथावत् है। मै तो मात्र यह कहना चाहता हूँ कि यदि १४ गुणस्थानों की अवधारणा उमास्वाति के पूर्व थी, तो उन्होंने उसे क्यों नहीं अपनाया ? क्यों मात्र दस अवस्था की चर्चा की, चौदह की क्यों नही की ?जैनदर्शन और उसकी तत्त्वमीमांसा और ज्ञानमीमांसा में अनेक अवधारणाएँ कालक्रम में विकसित हुई है जैसे पंचास्तिकाय से षट्द्रव्य और तीन प्रमाणों से छह प्रमाणों की अवधारणादि तीन त्रस और तीन स्थावर से पंच स्थावरों और एक त्रस की अवधारणा। अतः गुणस्थान, मार्गणास्थान, सप्तभंगी आदि की सुस्पष्ट अभिव्यक्ति के आधार पर आचार्य कुन्दकुन्द ईसा की छठी शती के बाद ही कभी हुए है। मर्करा अभिलेख को डॉ. हीरालालजी, प्रो. गुलाबचन्दजी चौधरी आदि ने जाली सिद्ध कर ही दिया है, यदि प्रो. रतनचंद्रजी उसे आंशिक सत्य भी माने तो भी वह लेख शक संवत् का है और शक सं. ३८८ भी उसे (३८८+७८+५७=५३३ ई. सन्) ईसा की छठी शती का ही सिद्ध करता है। अतः केवल दिगम्बर विद्वानों की बात को ही माने तो भी कुन्दकुन्द का समय ई. सन् की छठी शती पूर्व नहीं ले जाया सकता है। मर्करा अभिलेख के अतिरिक्त अन्य अभिलेख जो शक संवत् ७१९ एवं ७२४ आदि के

है वे भी ईसा की ६वीं शती के ही हैं। यदि कुन्दकुन्दान्वय से कुन्दकुन्द का काल सौ वर्ष पूर्व भी मान लिया जाए तो भी कुन्दकुन्द का समय ईसा की छठी शती से पूर्व नहीं जाता है।

प्रों. रतनचन्द्रजी ने सभी प्राचीन स्तर के ग्रन्थों अर्थात् मूलचार, भगवती आराधना, षट्खण्डागम, तत्त्वार्थसूत्र आदि में कुन्दकुन्द के ग्रन्थों से गाथाएँ लेने का जो संकेत किया है, उस सम्बन्ध में मेरा एक ही प्रश्न है यदि इन सभी ग्रन्थकारों ने कुन्दकुन्द के ग्रन्थों से गाथाएँ और अवधारणाएँ गृहीत की है, तो वे उनके नाम का उल्लेख क्यों नहीं करते है ?गाथाएँ ले ले और नामं लेना भूल जाये, यह तो एक गृहस्थ के लिए उचित नहीं है तो साधु और वह भी शुद्ध आचारवान् दिगम्बर मुनियों के लिए कैसे क्षम्य होगा ?यह विचारणीय अवश्य है ?आदरणीय भाई रतनचन्द्रजी ने मेरे से असहमत होकर भी उनके ग्रन्थ में और लेखों में मेरे प्रति जो आदरभाव प्रकट किया है वही यह संकेत करता है कि पूज्य मुनिवरों ने जब कुन्दकुन्द के ग्रन्थों से अनेकों गाथाएँ और सैद्धान्तिक अवधारणाएँ गृहीत की, तो वे आदर पूर्वकउनके नाम का स्मरण करना कैसे भूल गये ? यदि हम पंचास्तिकाय के टीकाकार जयसेन और बालचन्द्रजी की बात को मानकर यह कहे कि कुन्दकुन्द ने यह ग्रन्थ महाराज शिवकुमार के लिए लिखा और ये शिवकुमार, शिवमृगेश वर्मा ही थे, जो शक संवत् ४५० में राज्य करते थे तो भी कुन्दकुन्द का काल ईसा की छठी शती से पूर्व नहीं ले जाया सकता है। इस प्रकार मेरी दृष्टि में कुन्दकुन्द के काल की अपर सीमा ई. सन् की छठीं शती और निम्न सीमा ई. सन् की आठवीं शती मानी जा सकती है। आगे हम उनके साहित्यि अवदान की चर्चा करेगे।

आचार्य कुन्दकुन्द का साहित्यक अवदान –

आचार्य कुन्दकुन्द का साहित्यिक अवदान स्तर और ग्रन्थ संख्या दोनों ही अपेक्षा से महान है। यह माना जाता है कि उनके २२ या २३ ग्रन्थ आजभी उपलब्ध है। यद्यपि उन्हें ८४ पाहुडों (प्राभृतों) का लेखक माना जाता है तथापि आज वे सभी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, यदि अष्ट पाहुड़ को आठ बारस्साणुवेक्खा को बारह और दस भक्ति को दस ग्रन्थ माना जाये तो आज भी यह संख्या लगभग 35 के आसपास पहुँच जाती है। उनके उपलब्ध ग्रन्थों की सूची बनाते समय जुगल किशोर जी मुख्तार ने अष्ट प्राभृतों और दस भक्तियों

को क्रमशः आठ और दस ग्रन्थ माने है। उनके अनुसार यह सूची निम्न है –
1. समयसार, 2. नियमसार, 3. पंचास्तिकायसार, 4. प्रवचनसार, 5. बारस्सांणुवेक्खा, 6. दंसणपाहुड, 7. सुत्तपाहुड, 8. चारित्तपाहुड, 9. शीलपाहुड, 10. बोधपाहुड, 11. भावपाहुड, 12. मोक्खपाहुड, 13. लिंगडपाहुड, 14. रयणसार, 15. सिद्धभक्ति, 16. श्रुतभवित, 17. योगीभवित, 18. चारित्रभवित, 19. आचार्यभवित, 20. निर्वाणभवित, 21. पंचगुरूभवित, 22. थोरसामिभक्ति। कुछ लोगों ने वट्टकेर के २३ मूलाचार का कर्ता भी उन्हें माना है। इस प्रकार मुख्तारजी उनके ग्रन्थों की संख्या २२ या २३ बताते है। कुछ विद्वानों ने अष्टपाहुड, रयणसार और मूलाचार के उनके कृर्तव्य के सम्बन्ध में शंका भी उठाई है। यहाँ मै इस विवाद में पड़कर मात्र उनके इन ग्रन्थों का अति–संक्षिप्त परिचय मात्र दूगाँ।

(१) समयसार – आचार्य कुन्द के साहित्य में श्रेष्ठ आध्यात्मिक ग्रन्थ के रूप में समयसार का स्थान सर्वोपरि है। यह ग्रन्थ मूलतः शौरसेनी प्राकृत में उपलब्ध है, इसकी गाथा संख्या विभिन्न सस्करणों में अलग–अलग है, यथा – अमृतचन्द्रजी की टीका में समयसार की गाथा सं. ४१५ है, जबकि जयसेन की टीका में गाथा संख्या ४३६ है। यही स्थिति अन्य संस्करणों की भी है जैसे – कहानजी स्वामी के संस्करण में ४१५ गाथाएँ है। इस ग्रन्थ में निश्चयदृष्टि और व्यवहारदृष्टि से आस्रव, पुण्य, पाप, बध, संवर, निर्जरा और मोक्ष की अवस्थाओं का सुन्दर चित्रण है। वैदिक परम्परा में इसी प्रकार की दृष्टि को लेकर अष्टावक्रगीता नामक ग्रन्थ मिलता है। दोनो में आध्यात्मिक दृष्टि से बहुत समरूपता है। यह तो निश्चित है कि अष्टावक्र उपनिषदकालीन ऋषि है। अतः उनकी अष्टावक्रगीता से या उनकी आध्यात्मिकदृष्टि से कुन्दकुन्द के समयसार का प्रभावित होना भी पूर्णतः अमान्य नहीं किया जा सकता है। यद्यपि समयसार में निश्चयनय की प्रधानता से अनेक कथन है, किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द ने कही भी व्यवहारनय की उपेक्षा नहीं की है। जबकि उनके टीकाकार अमृतचंद्रजी ने व्यवहार की उपेक्षा कर निश्चय पर अधिक बल दिया है। अमृतचंद्रजी की विशेषता यह है कि वे अपनी डोर को जैनदर्शन के खूंटे से बाधकर अपनी पतंग वेदान्त के आकाश में उडाते है। कुन्दकुन्द ने अनेक स्थलों पर श्वेताम्बर मान्य आगमों का आश्रय लिया है जैसे गाथा संख्या १५ का

अर्थ श्वेताम्बर आगम आचारांग के आधार पर ही ठीक बैठता है, कहानजी स्वामी के संस्करण में तो पाठ ही बदल दिया है, "अपदेस सुत्तमज्झं" के स्थान पर "अपदेस संत मज्झं" कर दिया है। मूल अर्थ है शास्त्र या आगम में (आचारांग में) उसे अव्यपदेश्य अर्थात् अनिर्वचनीय कहा है।

(२) पंचास्तिकायसार – तत्त्वमीमासीय दृष्टि से यह भी आचार्य श्री का एक बहुत ही महत्वपूर्ण ग्रन्थ है, यह भी मूलतः शौरसेनी प्राकृत में रचित है। इसकी गाथा संख्या अमृतचंद्रजी की टीका के अनुसार १७३ है, जबकि जयसेनाचार्य ने १८१ मानी है। इसमें जैनतत्वमीमांसा की एक महत्वपूर्ण अवधारणा अर्थात् पंचास्तिकायों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। मेरी दृष्टि में जैनदर्शन में पंचास्तिकायो की अवधारणा मूल है और उसी से षट्द्रव्यों की अवधारणा का विकास हुआ है। पंचास्तिकाय है – १. जीवास्तिकाय, २. पुद्गलस्तिकाय, ३. धर्मास्तिकाय, ४. अधर्मास्तिकाय और ५. आकाशस्तिकाय। जैनदर्शन में प्राचीनकाल में लोक को पंचास्तिकाय रूप माना गया था और कालक्रम में उसमें अनास्तिकाय के रूप में काल को जोडकर ही षट्द्रव्यों की अवधारणा बनी है।

(३) प्रवचनसार – आचार्य कुन्दकुन्द के महत्वपूर्ण ग्रन्थों में प्रवचनसार का नाम आता है। यह ग्रन्थ भी मूलतः शौरसेनी प्राकृत में रचित है। आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों पर अर्द्धमागधी एवं महाराष्ट्री प्राकृत का प्रभाव होने से उनकी भाषा को अजैन विद्वानों ने जैन शौरसेनी भी कहा है। अमृतचंद्रजी कृत टीका में इसकी गाथा संख्या २७५ है जबकि जयसेनाचार्य कृत टीका में इसकी गाथा संख्या ३११ है। कहमजी स्वामी ने भी अमृतचंद्रजी का अनुसरण कर गाथा संख्या २७५ ही मानी है। इसके प्रथम ज्ञानतत्त्व प्रज्ञापन अधिकार के चार उप अधिकार है – १. शुद्धोपयोगधिकार, २. ज्ञानाधिकार, ३. सुखाधिकार और ४. शुद्ध परिणामाधिकार। इसी प्रकार दूसरे ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन–अधिकार को द्रव्य सामान्य अधिकार और द्रव्य–विशेष अधिकार तथा ज्ञाताज्ञेय अधिकार ऐसे तीन भागों में विभाजित किया है। तीसरे चरगाणुयोग चूलिका महाधिकार को भी चार अधिकारों में विभाजित किया गया है – १. आचरण प्रज्ञापनाधिकार, २. मोक्षमार्ग प्रज्ञापनाधिकार, ३. शुद्धोपयोग प्रज्ञापनाधिकार और ४. पंचरत्नाधिकार। सामान्य तथा इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य मोक्षमार्ग ही है।

(४) नियमसार – यह शौरसेनी प्राकृत में रचित एक संक्षिप्त ग्रन्थ है। इसकी गाथा संख्या पद्मप्रभ के अनुसार १८७ है। इस पर अमृतचंद्रजी और जयसेन की कोई टीकाएँ नहीं है। पद्मप्रभ के अतिरिक्त इसकी अन्य टीकाएँ उपलब्ध नहीं होती है। इस ग्रन्थ का मूल विषय सम्यक्–दर्शन, सम्यक्–ज्ञान, सम्यक्–चारित्र एवं षट्द्रव्य ही है। जहाँ तक मेरी जानकारी सामायिक आदि सम्बन्धी इसकी कुछ गाथाएं नन्दीसूत्र में भी उपलब्ध होती है। यद्यपि इनको किसने किससे लिया है यह विषय विवादास्पद ही रहा है। यदि हम कुन्दकुन्द को ईस्वी सन् की छठी शती का माने तो उनके द्वारा ये गाथाएँ नन्दीसूत्र से अवतरित किया जाना सिद्ध हो सकता है, अन्यथा नहीं। इति अलम्।

(५–१२) अष्टप्राभृत या अट्ठपाहुड – वस्तु अष्टप्राभृत या अट्ठपाहुड वस्तुतः एक ग्रन्थ न होकर आठ ग्रन्थों का समूह है इसके अन्तर्गत– १. दंसण पाहुड, २. सुत्त पाहुड, ३. चारित्त पाहुड, ४. शील पाहुड, ५. बोध पाहुड, ६. भाव पाहुड, ७. लिग्ड पाहुड और ८. मोक्ख पाहुड – ये आठ छोटे छोटे ग्रन्थ समाहित है। पं. मुख्तारजी के अनुसार प्रत्येक पाहुड की गाथा संख्या इस प्रकार है – दंसण पाहुड – ३६, सुत्त पाहुड – २७, चारित्त पाहुड – ४४, शील पाहुड – ४०, बोध पाहुड – ६२, भाव पाहुड– १६३, लिंग पाहुड – २२, और मोक्ख पाहुड में १६ गाथाएँ है। कुछ विद्वान इन ग्रन्थों को अलग–अलग करके इन्हें आठ स्वतन्त्र ग्रन्थों में विभाजित करते है। कुछ विद्वानों ने मात्र छह पाहुडों को अलग से प्रकाशित भी किया है।

(१३) बारस्साणुवेक्खा (द्वादशाणुप्रेक्षा) – अणुप्रेक्षाएँ १२ मानी गई है, इन्हें भावनाएँ भी कहा जाता है। अणुप्रेक्षाओं या भावनाओं की संख्या को लेकर जैन परम्परा में अनेक मत है – कुछ आचार्य मैत्री, प्रमोद, करूणा और माध्यस्थ – ऐसी चार भावनाएँ मानते है। किन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ में निम्न १२ भावनाएँ मानी गई है – १. अनित्य भावना, २. अशरण भावना, ३. एकत्व भावना, ४. अन्यत्व भावना, ५. संसार भावना, ६. लोक भावना, ७. अशुचि भावना, ८. आस्रव भावना, ९. संवर भावना, १०. निर्जरा भावना, ११. धर्म भावना और १२. बोधि दुर्लभ भावना। प्रकारान्तर से श्वे. आगमों में पांच महाव्रतों की पच्चीस भावनाओं का उल्लेख भी मिलता है। फिर भी जैन परम्परा में भावनाओं को लेकर जो भी ग्रन्थ लिखे गये है उनमें उपरोक्त बारह भावनाओं की ही चर्चा हुई है आचार्य कुन्दकुन्द ने

उन्हीं का अनुसरण कर बारह भावनाओं की चर्चा की है। इस सम्बन्ध में एक अन्य ग्रन्थ स्वामी कार्तिकेय का भी है। श्वेताम्बर परम्परा में अनेक आचार्यो ने इन भावनाओं को आधार बनाकर संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, पुरानी हिन्दी आदि में अनेक ग्रन्थ लिखे है।

(१४–२१) दस भक्तियाँ – दस भक्तियों में जुगलकिशोरजी मुख्तार के अनुसार ८ भक्तियाँ ही आचार्य कुन्दकुन्द रचित है – १. थोस्सामि दण्डक (अर्हत भक्ति), २. सिद्ध भक्ति, ३. आचार्य भक्ति, ४. पंचगुरू भक्ति, ५. श्रुत भक्ति, ६. योगी भक्ति, ७. चारित्र भक्ति और ८. सिद्ध भक्ति। शेष दो भक्तियाँ किसके द्वारा रचित है, यह विचारणीय है। भक्तियों को स्वतंत्र ग्रन्थ मानने में एक समस्या है, क्योंकि ये स्तुति रूप भक्तियाँ अति संक्षिप्त है। इस कारण कुछ आचार्य इन दस भक्तियों को भी एक ही ग्रन्थ मानते है। इनमें ८ भक्तियों कुन्दकुन्द द्वारा रचित मानी गई है। इनके अरिरिक्त २२ रयणसार, २३ मूलाचार आदि अन्य कुछ ग्रन्थ भी कुन्दकुन्द रचित माने जाते है यद्यपि इनका कुन्दकुन्द रचित होना विवादास्पद है। आचार्य कुन्दकुन्द रचित माने गये इन ग्रन्थों में श्वेताम्बर मान्य आगमों से कहाँ–कहाँ और कौनसी गाथाएँ समान है यहाँ बताना भी विवाद को जन्म देगा, अतः हम इस चर्चा को विराम देकर इस विषय को यही समाप्त कर देना उचित होगा। यहाँ मेरा आशय यह है कि हम आचार्य श्री के साहित्यिक अवदान के महत्व को हम समझे यही उचित होगा।

6- आचार्य सिद्धसेन दिवाकर
(लगभग चौथी या पाँचवी शती)

सिद्धसेन दिवाकर जैन दर्शन के शीर्षस्थ विद्वान् रहे हैं । जैन दर्शन के क्षेत्र में अनेकान्तवाद की तार्किक स्थापना करने वाले वे प्रथम पुरुष हैं। जैन दर्शन के आद्य तार्किक होने के साथ-साथ वे भारतीय दर्शन के आद्य संग्राहक और समीक्षक भी हैं। उन्होंने अपनी कृतियों में विभिन्न भारतीय दर्शनों की तार्किक समीक्षा भी प्रस्तुत की है। ऐसे महान् दार्शनिक के जीवनवृत्त और कृतित्व के संबंध में तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में रचित प्रबंधों के अतिरिक्त अन्यत्र मात्र सांकेतिक सूचनाएँ ही मिलती हैं, यद्यपि उनके अस्तित्व के संदर्भ में हमें अनेक प्राचीन ग्रंथों में संकेत उपलब्ध होते हैं। लगभग चतुर्थ शताब्दी से जैन ग्रंथों में उनके और उनकी कृतियों के संदर्भ हमें उपलब्ध होने लगते हैं, फिर भी उनके जीवनवृत्त और कृतित्व के संबंध में विस्तृत जानकारी का अभाव ही है। यही कारण है कि उनके जीवनवृत्त, सत्ताकाल, परंपरा तथा कृतियों को लेकर अनेक विवाद आज भी प्रचलित हैं। यद्यपि पूर्व में पं. सुखलालजी, प्रो. ए.एन. उपाध्ये, पं. जुगलकिशोरजी मुख्तार आदि विद्वानों ने उनके व्यक्तित्व और कृतित्व के संदर्भ में प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है, किन्तु इन विद्वानों की परस्पर विरोधी स्थापनाओं के कारण विवाद अधिक गहराता ही गया। मैंने अपने ग्रंथ **'जैन धर्म का यापनीय सम्प्रदाय'** में उनकी परंपरा और सम्प्रदाय के संबंध में पर्याप्त रूप से विचार करने का प्रयत्न किया है, किन्तु उनके समग्र व्यक्तित्व और कृतित्व के संबंध में आज तक की नवीन खोजों के परिणामस्वरूप जो कुछ नये तथ्य सामने आये हैं, उन्हें दृष्टि में रखकर मैंने डॉ. श्री प्रकाश पाण्डेय को सिद्धसेन दिवाकर के व्यक्तित्व और कृतित्व के संदर्भ में एक पुस्तक तैयार करने को कहा था। आज जबकि यह कृति प्रकाशित हो चुकी है, इसके संबंध में यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि उन्होंने सिद्धसेन दिवाकर के संदर्भ में अब तक जो कुछ लिखा गया था, उसका आलोड़न और विलोड़न करके ही इस कृति का प्रणयन किया है। उनकी यह कृति मात्र उपलब्ध सूचनाओं का संग्रह ही नहीं है, अपितु उनके तार्किक चिंतन का परिणाम है। यद्यपि अनेक स्थलों पर मैं उनके निष्कर्षों से सहमत नहीं हूँ, फिर भी उन्होंने जिस तार्किकता के साथ अपने पक्ष को प्रस्तुत किया है यह निश्चय ही श्लाघनीय है।

वस्तुतः, सिद्धसेन के संदर्भ में प्रमुख रूप से तीन ऐसी बातें रही है, जिन पर

विद्वानों में मतभेद पाया जाता है-

1. उनका सत्ताकाल

2. उनकी परंपरा और

3. न्यायावतार एवं कुछ द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिकाओं के कृतित्व का प्रश्न।

यद्यपि उनके सत्ताकाल के संदर्भ में मेरे मन्तव्य एवं डॉ. पाण्डेय के मन्तव्य में अधिक दूरी नहीं है, फिर भी जहाँ उन्होंने अपने निष्कर्ष में सिद्धसेन को 6वीं शताब्दी का आचार्य माना है, वहाँ मैं इस काल सीमा को लगभग 100वाँ वर्ष पहले ले जाने के पक्ष में हूँ जिसकी चर्चा मैं यहाँ करना चाहूँगा।

सिद्धसेन का काल

उनके काल के संबंध में पं. सुखलालजी ने एवं डॉ. श्री प्रकाश पाण्डेय ने विस्तृत चर्चा की है,[1] अतः हम तो यहाँ केवल संक्षिप्त चर्चा करेंगे। प्रभावकचरित में सिद्धसेन की गुरु परंपरा की विस्तृत चर्चा हुई है। उसके अनुसार सिद्धसेन आर्य स्कन्दिल के प्रशिष्य और वृद्धवादी के शिष्य थे। आर्य स्कन्दिल को माथुरी वाचना का प्रणेता माना जाता है। यह वाचना और निर्वाण 840 में हुई थी। इस दृष्टि से आर्य स्कन्दिल का समय विक्रम की चतुर्थ शताब्दी (840 - 470 = 370) के उत्तरार्द्ध के लगभग आता है। कभी-कभी प्रशिष्य अपने प्रगुरु के समकालिक भी होता है, इस दृष्टि से सिद्धसेन दिवाकर का काल भी विक्रम की चौथी शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जा सकता है। प्रबंधों में सिद्धसेन को विक्रमादित्य का समकालीन माना गया है। यदि चन्द्रगुप्त द्वितीय को विक्रमादित्य मान लिया जाय, तो सिद्धसेन चतुर्थ शती के सिद्ध होते हैं। यह माना जाता है, उनकी सभा में कालिदास, क्षपणक आदि नौ रत्न थे। यदि क्षपणक सिद्धसेन ही थे, तो इस दृष्टि से भी सिद्धसेन का काल विक्रम की चतुर्थ शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जा सकता है, क्योंकि चन्द्रगुप्त द्वितीय का काल भी विक्रम की चतुर्थ शताब्दी का उत्तरार्द्ध सिद्ध होता है। पुनः, मल्लवादी ने सिद्धसेन दिवाकर के सन्मतितर्क पर टीका लिखी थी, ऐसा निर्देश आचार्य हरिभद्र ने किया है। प्रबंधों में मल्लवादी का काल वीर निर्वाण संवत् 884 (884-470 = 414) के आसपास माना जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि विक्रम की पाँचवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में सन्मतिसूत्र पर टीका लिखी जा चुकी थी। अतः, सिद्धसेन विक्रम की चौथी शताब्दी

के उत्तरार्द्ध में हुए होंगे। पुनः, विक्रम की छठवीं शताब्दी में पूज्यपाद देवनन्दी ने जैनेन्द्र व्याकरण में सिद्धसेन के मत का उल्लेख किया है। पूज्यपाद देवनन्दी का काल विक्रम की पाँचवीं-छठवीं शती माना गया है। इससे भी वे विक्रम संवत् छठवीं शताब्दी के पूर्व हुए हैं, यह तो सुनिश्चित हो जाता है।

मथुरा के अभिलेखों में दो अभिलेख ऐसे हैं, जिनमें आर्य वृद्धहस्ति का उल्लेख है। संयोग से इन दोनों अभिलेखों में काल भी दिया हुआ है। ये अभिलेख हुविष्क के काल के हैं। इनमें से प्रथम में वर्ष 60 का और द्वितीय में वर्ष 79 का उल्लेख है। यदि हम इसे शक संवत् मानें, तो तदनुसार दूसरे अभिलेख का काल लगभग विक्रम संवत् 215 होगा। यदि ये लेख उनकी युवावस्था के हों, तो आचार्य वृद्धहस्ति का काल विक्रम की तीसरी शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक माना जा सकता है। इस दृष्टि से सिद्धसेन का काल विक्रम की तीसरी शताब्दी के उत्तरार्द्ध से चौथी शताब्दी के पूर्वार्द्ध के बीच माना जा सकता है।

इस समग्र चर्चा से इतना निश्चित होता है कि सिद्धसेन दिवाकर के काल की सीमा- रेखा विक्रम संवत् की तृतीय शताब्दी के उत्तरार्द्ध से लेकर विक्रम संवत् की पंचम शताब्दी के पूर्वार्द्ध के बीच ही कहीं निश्चित होगी। पं. सुखलालजी, पं. बेचरदासजी ने उनका काल चतुर्थ-पंचम शताब्दी निश्चित किया है। प्रो. ढाकी ने भी उन्हें पाँचवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में माना है, किन्तु इस मान्यता को उपर्युक्त अभिलेखों के आलोक में तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय से समकालिकता की दृष्टि से थोड़ा पीछे लाया जा सकता है। यदि आर्य वृद्धहस्ति ही वृद्धवादी हैं और सिद्धसेन उनके शिष्य हैं, तो सिद्धसेन का काल विक्रम की तृतीय शती के उत्तरार्द्ध से चतुर्थ शताब्दी के पूर्वार्द्ध के बीच ही मानना होगा। कुछ प्रबन्धों में उन्हें आर्य धर्म का शिष्य भी कहा गया है। आर्य धर्म का उल्लेख **कल्पसूत्र स्थविरावली** में है। ये आर्य वृद्ध के बाद तीसरे क्रम पर उल्लिखित हैं। इसी **स्थविरावली** में एक आर्य धर्म देवर्धिगणिक्षमाश्रमण के पूर्व भी उल्लेखित हैं। यदि हम सिद्धसेन के **सन्मतिप्रकरण** और **तत्त्वार्थसूत्र** की तुलना करें तो दोनों में कुछ समानता परिलक्षित होती है। विशेष रूप से **तत्त्वार्थसूत्र** के अनेकांतदृष्टि को व्याख्यायित करने के लिए 'अर्पित' और 'अनर्पित' जैसे शब्दों का प्रयोग हुआ है। इन शब्दों का प्रयोग सन्मतितर्क (1/42) में भी पाया जाता है। मेरी दृष्टि में सिद्धसेन उमास्वाति से किंचित् परवर्ती हो सकते हैं।

सिद्धसेन दिवाकर की परंपरा

जहाँ तक उनकी परंपरा का प्रश्न हैं, डॉ. पाण्डेय ने इसकी विस्तृत चर्चा नहीं की है। संभवतः, डॉ. पाण्डेय ने उनकी परंपरा के संदर्भ में विशेष उल्लेख यह जानकर नहीं किया हो कि इस संबंध में विस्तृत चर्चा मैंने अपने ग्रंथ **जैन धर्म का यापनीय सम्प्रदाय** में की है, अतः मैं यह आवश्यक समझता हूँ कि यह चर्चा इस भूमिका में कर दी जाए।

सिद्धसेन दिवाकर के सम्प्रदाय के विषय में विभिन्न दृष्टिकोण परिलक्षित होते हैं। जिनभद्र, हरिभद्र आदि से प्रारंभ करके पं. सुखलालजी, पं. बेचरदासजी आदि सभी श्वेताम्बर परंपरा के विद्वान् एकमत से उन्हें अपने सम्प्रदाय का स्वीकार करते हैं।[2] इसके विपरीत षट्खण्डागम की धवला टीका एवं जिनसेन के हरिवंश तथा रविषेण के पद्मपुराण में सिद्धसेन का उल्लेख होने से पं. जुगलकिशोर मुख्तार जैसे दिगम्बर परंपरा के कुछ विद्वान् उन्हें अपनी परंपरा का आचार्य सिद्ध करने का प्रयास करते हैं,[3] किन्तु दिगम्बर परंपरा में उनकी कुछ भिन्नताओं को देखकर प्रो. ए.एन. उपाध्ये आदि कुछ दिगम्बर विद्वानों ने उन्हें यापनीय परम्परा का आचार्य सिद्ध करने का प्रयास किया है।[4] प्रो. उपाध्ये ने जो तर्क दिये, उन्हें स्पष्ट करते हुए तथा अपनी ओर से कुछ अन्य तर्कों को प्रस्तुत करते हुए डॉ. कुसुम पटोरिया ने भी उन्हें यापनीय परंपरा का सिद्ध किया है।[5] प्रस्तुत संदर्भ में हम इन विद्वानों के मन्तव्यों की समीक्षा करते हुए यह निश्चय करने का प्रयत्न करेंगे कि वस्तुतः सिद्धसेन की परंपरा क्या थी ?

क्या सिद्धसेन दिगम्बर हैं ?

समन्तभद्र की कृति के रूप में मान्य **रत्नकरण्डक श्रावकाचार** में प्राप्त न्यायावतार की जिस समान कारिका को लेकर विवाद है कि यह सिद्धसेन ने समन्तभद्र से ली है, इस संबंध में प्रथम तो यह निश्चित नहीं है कि **रत्नकरण्ड** समन्तभद्र की कृति है, दूसरे, यह कि यह कारिका दोनों ग्रंथों में अपने योग्य स्थान पर है, अतः इसे सिद्धसेन से समन्तभद्र ने लिया है या समन्तभद्र से सिद्धसेन ने लिया है- यह कह पाना कठिन है। तीसरे, यदि समन्तभद्र भी लगभग 5वीं शती के आचार्य हैं और **न्यायावतार** को सिद्धसेन की कृति मानने में बाधा नहीं है, तो यह भी संभव है, समन्तभद्र ने इसे सिद्धसेन से लिया हो। समन्तभद्र की **आप्तमीमांसा** में भी **सन्मतितर्क** की कई गाथाएँ अपने संस्कृत रूप में मिलती है।

पं. जुगलकिशोरजी मुख्तार **सन्मतिसूत्र** के कर्त्ता सिद्धसेन को दिगम्बर परंपरा का आचार्य सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं, तथापि मुख्तारजी उन्हें दिगम्बर परंपरा का आचार्य होने के संबंध में कोई भी आधारभूत प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर पाये हैं। उनके तर्क मुख्यतः दो बातों पर स्थित है[6] - प्रथमतः सिद्धसेन के ग्रंथों से यह फलित नहीं होता कि वे स्त्रीमुक्ति, केवलीभुक्ति और सवस्त्रमुक्ति आदि के समर्थक थे। दूसरे, यह कि सिद्धसेन अथवा उनके ग्रंथ **सन्मतिसूत्र** का उल्लेख जिनसेन, हरिषेण, वीरषेण आदि दिगम्बर आचार्यों ने किया है- इस आधार पर वे उनके दिगम्बर परंपरा के होने की संभावना व्यक्त करते हैं। यदि आदरणीय मुख्तारजी उनके ग्रंथों में स्त्रीमुक्ति, केवलीभुक्ति या सवस्त्रमुक्ति का समर्थन नहीं होने के निषेधात्मक तर्क के आधार पर उन्हें दिगम्बर मानते हैं, तो फिर इसी प्रकार के निषेधात्मक तर्क के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि उनके ग्रंथों में स्त्रीमुक्ति, केवलीभुक्ति और सवस्त्र मुक्ति का खण्डन नहीं है, अतः वे श्वेताम्बर परंपरा के आचार्य हैं।

पुनः, मुख्तारजी ये मान लेते हैं कि रविषेण और पुन्नाटसंघीय जिनसेन दिगम्बर परंपरा के हैं, यह भी उनकी भ्रांति है। रविषेण यापनीय परंपरा के हैं, अतः उनके परदादा गुरु के साथ में सिद्धसेन दिवाकर का उल्लेख मानें, तो भी वे यापनीय सिद्ध होंगे, दिगम्बर तो किसी भी स्थिति में सिद्ध नहीं होंगे। आदरणीय मुख्तारजी ने एक यह विचित्र तर्क दिया है कि श्वेताम्बर प्रबन्धों में सिद्धसेन के **सन्मतिसूत्र** का उल्लेख नहीं है, इसलिए प्रबन्धों में उल्लिखित सिद्धसेन अन्य कोई सिद्धसेन हैं, वे **सन्मतिसूत्र** के कर्त्ता सिद्धसेन नहीं हैं। किन्तु मुख्तारजी ये कैसे भूल जाते हैं कि प्रबंध ग्रंथों में लिखे जाने के पाँच सौ वर्ष पूर्व हरिभद्र के **पंचवस्तु** तथा जिनभद्र की **निशीथचूर्णि** में **सन्मतिसूत्र** और उसके कर्त्ता के रूप में सिद्धसेन के उल्लेख उपस्थित हैं। जब प्रबन्धों से प्राचीन श्वेताम्बर ग्रंथों में **सन्मतिसूत्र** के कर्त्ता के रूप में सिद्धसेन का उल्लेख है, तो फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि प्रबन्धों में जो सिद्धसेन का उल्लेख है, वह **सन्मतिसूत्र** के कर्त्ता सिद्धसेन का न होकर कुछ **द्वात्रिंशिकाओं** और **न्यायावतार** के कर्त्ता किसी अन्य सिद्धसेन का है। पुनः, श्वेताम्बर आचार्यों ने यद्यपि सिद्धसेन के अभेदवाद का खण्डन किया है और उन्हें आगमों की अवमानना करने पर दण्डित किये जाने का उल्लेख भी किया है, किन्तु किसी ने भी उन्हें अपने से भिन्न परम्परा या सम्प्रदाय का नहीं बताया है। श्वेताम्बर परम्परा के विद्वान् उन्हें मतभिन्नता

के बावजूद भी अपनी ही परंपरा का आचार्य प्राचीन काल से मानते आ रहे हैं। श्वेताम्बर ग्रंथों में उन्हें दण्डित करने की जो कथा प्रचलित है, वह भी यही सिद्ध करती है कि वे सचेल धारा में ही दीक्षित हुए थे, क्योंकि किसी आचार्य को दण्ड देने का अधिकार अपनी ही परंपरा के व्यक्ति को होता है- अन्य परंपरा के व्यक्ति को नहीं। अतः सिद्धसेन दिगम्बर परंपरा के आचार्य थे, यह किसी भी स्थिति में सिद्ध नहीं होता है।

केवल यापनीय ग्रंथों और उनकी टीकाओं में सिद्धसेन का उल्लेख होने से इतना ही सिद्ध होता है कि सिद्धसेन यापनीय परंपरा में मान्य रहे हैं। पुनः, श्वेताम्बर धारा से कुछ बातों में अपनी मत - भिन्नता रखने के कारण उनको यापनीय या दिगम्बर परंपरा में आदर मिलना अस्वाभाविक भी नहीं है। जो भी हमारे विरोधी का आलोचक होता है, वह हमारे लिए आदरणीय होता है- यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। कुछ श्वेताम्बर मान्यताओं का विरोध करने के कारण सिद्धसेन यापनीय और दिगम्बर- दोनों परंपराओं के आदरणीय रहे हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वे दिगम्बर या यापनीय हैं। यह तो उसी लोकोक्ति के आधार पर हुआ है कि 'शत्रु का शत्रु मित्र होता है।' किसी भी दिगम्बर परंपरा के ग्रंथ में सिद्धसेन के जीवनवृत्त का उल्लेख[7] होने से तथा श्वेताम्बर परंपरा द्वारा उन्हें कुछ काल के लिए संघ से निष्कासित किये जाने के विवरणों[8] से यही सिद्ध होता है कि वे दिगम्बर या यापनीय परंपरा के आचार्य नहीं थे। मतभेदों के बावजूद भी श्वेताम्बरों ने सदैव ही उन्हें अपनी परंपरा का आचार्य माना है। दिगम्बर आचार्यों ने उन्हें 'द्वेष्य-सितपट' तो कहा, किन्तु अपनी परंपरा का कभी नहीं माना। एक भी ऐसा स्पष्ट उल्लेख नहीं है, जिसमें सन्मतिसूत्र के कर्त्ता सिद्धसेन को दिगम्बर परंपरा का कहा गया हो, जबकि श्वेताम्बर भण्डारों में उपलब्ध कृतियों की प्रतिलिपियों में उन्हें श्वेताम्बराचार्य कहा गया है।

श्वेताम्बर परंपरा के साहित्य में छठवीं-सातवीं शताब्दी से लेकर मध्यकाल तक सिद्धसेन के अनेक उल्लेख उपलब्ध होते हैं। पुनः, सिद्धसेन की कुछ द्वात्रिंशिकाएं स्पष्ट रूप से महावीर के विवाह आदि श्वेताम्बर मान्यता एवं आगम ग्रंथों की स्वीकृति और आगमिक सन्दर्भों का उल्लेख करती है।[9] यद्यपि श्वेताम्बर परंपरा के ग्रंथ यह भी उल्लेख करते हैं कि कुछ प्रश्नों को लेकर उनका श्वेताम्बर मान्यताओं से मतभेद था, किन्तु इससे यह तो सिद्ध नहीं होता है कि वे किसी अन्य परंपरा के आचार्य थे। यद्यपि सिद्धसेन श्वेताम्बर मान्य आगम साहित्य को स्वीकार

करते थे, किन्तु वे आगमों को युगानुरूप तर्क पुरस्सरता भी प्रदान करना चाहते थे, इसलिए उन्होंने **सन्मतिसूत्र** में आगमभीरु आचार्यों पर कटाक्ष किया तथा आगमों में उपलब्ध असंगतियों का निर्देश भी किया है।[10] परवर्ती प्रबंधों में उनकी कृति **सन्मतिसूत्र** का उल्लेख नहीं होने का स्पष्ट कारण यह है कि **सन्मतिसूत्र** में श्वेताम्बर आगम मान्य क्रमवाद का खण्डन है और मध्ययुगीन सम्प्रदायगत मान्यताओं से जुड़े हुए श्वेताम्बराचार्य यह नहीं चाहते थे कि उनके **सन्मतिसूत्र** का संघ में व्यापक अध्ययन हो, अतः जानबूझकर उन्होंने उसकी उपेक्षा की।

पं. जुगलकिशोरजी मुख्तार ने **सन्मतिसूत्र** के कर्त्ता सिद्धसेन को दिगम्बर सिद्ध करने के उद्देश्य से यह मत भी प्रतिपादित किया है कि **सन्मतिसूत्र** के कर्त्ता सिद्धसेन, कतिपय द्वात्रिंशिकाओं के कर्त्ता सिद्धसेन और न्यायावतार के कर्त्ता सिद्धसेन - ये तीनों अलग-अलग व्यक्ति हैं।[11] उनकी दृष्टि में **सन्मतिसूत्र** के कर्त्ता सिद्धसेन दिवाकर दिगम्बर हैं- शेष दोनों श्वेताम्बर हैं, किन्तु यह उनका दुराग्रह मात्र है- वे यह बता पाने में पूर्णतः असमर्थ रहे हैं कि आखिर ये दोनों सिद्धसेन कौन हैं ? सिद्धसेन के जिन ग्रंथों में दिगम्बर मान्यता का पोषण नहीं होता हो, उन्हें अन्य किसी सिद्धसेन की कृति कहकर छुटकारा पा लेना उचित नहीं कहा जा सकता। उन्हें यह बताना चाहिए कि आखिर ये द्वात्रिंशिकाएं कौनसे सिद्धसेन की कृति हैं और क्यों इन्हें अन्य सिद्धसेन की कृति माना जाना चाहिए ? मात्र श्वेताम्बर मान्यताओं का उल्लेख होने से उन्हें सिद्धसेन की कृति होने से नकार देना तो युक्तिसंगत नहीं है। यह तो तभी संभव है, जब अन्य सुस्पष्ट आधारों पर यह सिद्ध हो चुका हो कि **सन्मतिसूत्र** के कर्त्ता सिद्धसेन दिगम्बर हैं। इसके विपरीत, प्रतिभा समानता के आधार पर पं. सुखलालजी इन द्वात्रिंशिकाओं को **सन्मतिसूत्रकार** सिद्धसेन की ही कृतियाँ मानते हैं।[12] श्वेताम्बर परंपरा में सिद्धसेन दिवाकर, सिद्धसेनगणि और सिद्धर्षि का उल्लेख मिलता है, किन्तु इनमें सिद्धसेन दिवाकर को ही **'सन्मतिसूत्र'**, स्तुतियों (द्वात्रिंशिकाओं) और **न्यायावतार** का कर्त्ता माना गया है। सिद्धसेनगणि **तत्त्वार्थाधिगमभाष्य** की वृत्ति के कर्त्ता हैं और सिद्धर्षि-सिद्धसेन के ग्रंथ **न्यायावतार** के टीकाकार हैं। सिद्धसेनगणि और सिद्धर्षि को कही भी **द्वात्रिंशिकाओं** और **न्यायावतार** का कर्त्ता नहीं कहा गया है।

पुनः, आज तक एक भी ऐसा प्रमाण उपलब्ध नहीं है कि किसी भी यापनीय या दिगम्बर आचार्य के द्वारा महाराष्टी प्राकृत में कोई ग्रंथ लिखा गया हो। यापनीय और

दिगम्बर आचार्यों ने जो कुछ भी प्राकृत में लिखा है, वह सब शौरसेनी प्राकृत में ही लिखा है, जबकि सन्मतिसूत्र स्पष्टतः महाराष्टी प्राकृत में लिखा गया है। सन्मतिसूत्र का महाराष्टी प्राकृत में लिखा जाना ही इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण है कि सिद्धसेन यापनीय या दिगम्बर नहीं हैं। वे या तो श्वेताम्बर हैं, या फिर उत्तर भारत की उस निर्ग्रन्थ धारा के सदस्य हैं, जिससे श्वेताम्बर और यापनीय-दोनों विकसित हुए हैं, किन्तु वे दिगम्बर तो किसी भी स्थिति में नहीं हैं।

सिद्धसेन का **सन्मतिसूत्र** एक दार्शनिक ग्रंथ है और उस काल तक स्त्री-मुक्ति और केवली -भुक्ति जैसे प्रश्न उत्पन्न ही नहीं हुए थे। अतः **सन्मतिसूत्र** में न तो इनका समर्थन है और न खण्डन ही। इस काल में उत्तर भारत में आचार और विचार के क्षेत्र में जैन संघ में विभिन्न मान्यताएँ जन्म ले चुकी थीं, किन्तु अभी साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण श्वेताम्बर, दिगम्बर, यापनीय आदि रूपों में नहीं हो पाया था। वह युग था, जब जैन परंपरा में तार्किक चिन्तन प्रारंभ हो चुका था और धार्मिक एवं आगमिक मान्यताओं को लेकर मतभेद पनप रहे थे। सिद्धसेन का आगमिक मान्यताओं को तार्किकता प्रदान करने का प्रयत्न भी इसी तथ्य की पुष्टि करता है। फिर भी, उस युग में श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय ऐसे सम्प्रदाय अस्तित्व में नहीं आ पाये थे। श्वेताम्बर एवं यापनीय सम्प्रदाय के संबंध में स्पष्ट नाम निर्देश के साथ जो सर्वप्रथम उल्लेख उपलब्ध होते हैं, वे लगभग ई. सन् 475, तदनुसार विक्रम सं. 532 के लगभग अर्थात् विक्रम की छठवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध के हैं। अतः, सिद्धसेन को किसी सम्प्रदाय विशेष से नहीं जोड़ा जा सकता, क्योंकि उस युग तक न तो सम्प्रदायों का नामकरण हुआ था और न ही वे अस्तित्व में आये थे। मात्र गण, कुल, शाखा आदि का ही प्रचलन था और यह स्पष्ट है कि सिद्धसेन विद्याधर शाखा (कुल) के थे।

क्या सिद्धसेन यापनीय हैं ?

प्रो.ए.एन. उपाध्ये ने सिद्धसेन के यापनीय होने के संदर्भ में जो तर्क दिये हैं,[13] यहाँ उनकी समीक्षा कर लेना भी अप्रासंगिक नहीं होगा।

(1) उनका सर्वप्रथम तर्क यह है कि सिद्धसेन दिवाकर के लिए आचार्य हरिभद्र ने श्रुतकेवली विशेषण का प्रयोग किया है और श्रुतकेवली यापनीय आचार्यों का विशेषण रहा है, अतः सिद्धसेन यापनीय हैं। इस संदर्भ में हमारा कहना यह है कि श्रुतकेवली विशेषण न केवल यापनीय परंपरा के आचार्यों का, अपितु श्वेताम्बर

परंपरा के प्राचीन आचार्यों का भी विशेषण रहा है। यदि श्रुतकेवली विशेषण श्वेताम्बर और यापनीय- दोनों ही परंपराओं में पाया जाता है, तो फिर यह निर्णय कर लेना कि सिद्धसेन यापनीय हैं, उचित नहीं होगा।

(2) आदरणीय उपाध्यायजी का दूसरा तर्क यह है कि **सन्मतिसूत्र** का श्वेताम्बर आगमों से कुछ बातों में विरोध है। उपाध्येजी के इस कथन में इतनी सत्यता अवश्य है कि **सन्मतिसूत्र** की अभेदवादी मान्यता का श्वेताम्बर आगमों में विरोध है। मेरी दृष्टि से यह एक ऐसा कारण है कि श्वेताम्बर आचार्यों ने अपने प्रबन्धों में उनके **सन्मतितर्क** का उल्लेख नहीं किया है, लेकिन मात्र इससे वे न तो आगम विरोधी सिद्ध होते हैं और न यापनीय ही। सर्वप्रथम तो श्वेताम्बर आचार्यों ने उन्हें अपनी परंपरा का मानते हुए ही उनके इस विरोध का निर्देश किया है, कभी उन्हें भिन्न परंपरा का नहीं कहा है। दूसरे, यदि हम **सन्मतिसूत्र** को देखें, तो स्पष्ट हो जाता है कि वे आगमों के आधार पर ही अपने मत की पुष्टि करते थे। उन्होंने आगम मान्यता के अन्तर्विरोध को स्पष्ट करते हुए सिद्ध किया है कि अभेदवाद भी आगमिक धारणा के अनुकूल है। वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि आगम के अनुसार केवलज्ञान सादि और अनंत है, तो फिर क्रमवाद संभव नहीं होता है, क्योंकि केवल ज्ञानोपयोग समाप्त होने पर केवल दर्शनोपयोग हो सकता है। वे लिखते हैं कि सूत्र की आशातना से डरने वाले को इस आगम वचन पर भी विचार करना चाहिए।[14] वस्तुतः, अभेदवाद के माध्यम से वे, उन्हें आगम में जो अन्तर्विरोध परिलक्षित हो रहा था, उसका ही समाधान कर रहे थे। वे आगमों की तार्किक असंगतियों को दूर करना चाहते थे और उनका यह अभेदवाद भी उसी आगमिक मान्यता की तार्किक निष्पत्ति है, जिसके अनुसार केवलज्ञान सादि, किन्तु अनंत है। वे यही सिद्ध करते है कि क्रमवाद भी आगमिक मान्यता के विरोध में है।

(3) प्रो. उपाध्ये का यह कथन सत्य है कि सिद्धसेन दिवाकर का केवली के ज्ञान और दर्शन के अभेदवाद का सिद्धांत दिगम्बर परंपरा के युगपद्वाद के अधिक समीप है। हमें यह मानने में भी कोई आपत्ति नहीं है कि सिद्धसेन के अभेदवाद का जन्म क्रमवाद और युगपद्वाद के अन्तर्विरोध को दूर करने हेतु ही हुआ है, किन्तु यदि सिद्धसेन दिवाकर दिगम्बर या यापनीय होते तो उन्हें सीधे रूप में युगपद्वाद के सिद्धांत को मान्य कर लेना था, अभेदवाद के स्थापना की क्या आवश्यकता थी ? वस्तुतः, अभेदवाद के माध्यम से वे एक ओर केवलज्ञान के सादि-अनन्त होने की आगमिक

वचन की तार्किक सिद्धि करना चाहते थे, वहीं दूसरी ओर, क्रमवाद और युगपद्वाद की विरोधी अवधारणाओं का समन्वय भी करना चाहते थे। उनका क्रमवाद और युगपद्वाद के बीच समन्वय का यह प्रयत्न स्पष्ट रूप से यह सूचित करता है कि वे दिगम्बर या यापनीय नहीं थे। यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि यदि सिद्धसेन ने क्रमवाद की श्वेताम्बर और युगपद्वाद की दिगम्बर मान्यताओं का समन्वय किया है, तो उनका काल सम्प्रदायों के अस्तित्व के बाद होना चाहिए। इस संबंध में हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि इन विभिन्न मान्यताओं का विकास पहले हुआ है और बाद में साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण की प्रक्रिया में किसी सम्प्रदाय विशेष ने किसी मान्यता विशेष को अपनाया है। पहले मान्यताएँ अस्तित्व में आईं और बाद में सम्प्रदाय बनें। युगपद्वाद भी मूल में दिगम्बर मान्यता नहीं है, यह बात अलग है कि बाद में दिगम्बर परंपरा ने उसे मान्य रखा है। युगपद्वाद का सर्वप्रथम निर्देश श्वेताम्बर कहे जाने वाले उमास्वाति के **तत्त्वार्थाधिगमभाष्य** में है।[15] सिद्धसेन के समक्ष क्रमवाद और युगपदवाद- दोनों उपस्थित थे। चूँकि श्वेताम्बरों ने आगम मान्य किए थे, इसलिए उन्होंने आगमिक क्रमवाद को मान्य किया। दिगम्बरों को आगम मान्य नहीं थे, अतः उन्होंने तार्किक युगपद्वाद को प्रश्रय दिया। अतः यह स्पष्ट है कि क्रमवाद एवं युगपद्वाद की ये मान्यताएँ साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण के पूर्व की हैं। इस प्रकार युगपद्वाद और अभेदवाद की निकटता के आधार पर सिद्धसेन को किसी सम्प्रदाय विशेष का सिद्ध नहीं किया जा सकता है, अन्यथा फिर तो **तत्त्वार्थ** भाष्यकार को भी दिगम्बर मानना होगा, किन्तु कोई भी **तत्त्वार्थभाष्य** की सामग्री के आधार पर उसे दिगम्बर मानने को सहमत नहीं होगा।

(4) पुनः, आदरणीय उपाध्येजी का यह कहना कि एक **द्वात्रिंशिका** में महावीर के विवाहित होने का संकेत चाहे सिद्धसेन दिवाकर को दिगम्बर घोषित नहीं करता हो, किन्तु उन्हें यापनीय मानने में इससे बाधा नहीं आती है, क्योंकि यापनीयों को भी **कल्पसूत्र** तो मान्य था ही, किन्तु **कल्पसूत्र** को मान्य करने के कारण वे श्वेताम्बर भी तो माने जा सकते हैं। अतः, यह तर्क उनके यापनीय होने का सबल तर्क नहीं है। **कल्पसूत्र** श्वेताम्बर और यापनीयों के पूर्व का ग्रंथ हैं और दोनों को मान्य है, अतः **कल्पसूत्र** को मान्य करने से वे दोनों के पूर्वज भी सिद्ध होते हैं।

आचार्य सिद्धसेन के कुल और वंश संबंधी विवरण भी उनकी परंपरा निर्धारण

में सहयोगी सिद्ध हो सकते हैं। प्रभावकचरित्र और प्रबंधकोश में उन्हें विद्याधर गच्छ का बताया गया है, अतः हमें सर्वप्रथम इसी संबंध में विचार करना होगा। दिगम्बर परंपरा ने सेन नामान्त के कारण उनको सेनसंघ का मान लिया है, यद्यपि यापनीय और दिगम्बर ग्रंथों में जहाँ उनका उल्लेख हुआ है, वहाँ उनके गण या संघ का कोई उल्लेख नहीं है। कल्पसूत्र स्थविरावली के अनुसार आर्य सुस्थित के पाँच प्रमुख शिष्यों में स्थविर विद्याधरगोपाल एक प्रमुख शिष्य थे। उन्हीं से विद्याधर शाखा निकली। यह विद्याधर शाखा कोटिक गण की एक शाखा थी। हमारी दृष्टि में आचार्य सिद्धसेन इसी विद्याधर शाखा में हुए हैं। परवर्ती काल में गच्छ नाम प्रचलित होने के कारण ही प्रबन्धों में इसे विद्याधर गच्छ कहा गया है।

कल्पसूत्र स्थविरावली में सिद्धसेन के गुरु आर्य वृद्ध का भी उल्लेख मिलता है। इस आधार पर यदि हम विचार करें, तो आर्य वृद्ध का काल देवर्धिगणि से चार पीढ़ी पूर्व होने के कारण उनसे लगभग 120 वर्ष पूर्व रहा होगा, अर्थात् वे वीर निर्वाण सम्वत् 860 में हुए होंगे। इस आधार पर उनकी आर्य स्कंदिल से निकटता भी सिद्ध हो जाती है, क्योंकि माथुरी वाचना का काल वीर निर्वाण सं. 840 माना जाता है। इस प्रकार, उनका काल विक्रम की चौथी शताब्दी निर्धारित होता है। मेरी दृष्टि में आचार्य सिद्धसेन इन्हीं आर्य वृद्ध के शिष्य रहे होंगे। अभिलेखों के आधार पर आर्य वृद्ध कोटिक गण की व्रजी शाखा के थे। विद्याधर शाखा भी इसी कोटिक गण की एक शाखा थी। गण की दृष्टि से तो आर्य वृद्ध और सिद्धसेन एक ही गण के सिद्ध होते हैं, किन्तु शाखा का अंतर अवश्य विचारणीय है। संभवतः, आर्य वृद्ध सिद्धसेन के विद्यागुरु हों, फिर भी इतना निश्चित है कि आचार्य सिद्धसेन का संबंध उसी कोटिकगण से है, जो श्वेताम्बर और यापनीय- दोनों ही परंपराओं के पूर्वज हैं । ज्ञातव्य है कि उमास्वाति भी इसी कोटिक गण की उच्चनागरी शाखा में हुए थे।

हम चाहे उनके गण (वंश) की दृष्टि से विचार करें या काल की दृष्टि से विचार करें, सिद्धसेन दिगम्बर, श्वेताम्बर एवं यापनीय परंपराओं के अस्तित्व में आने के पूर्व ही हो चुके थे। वे उत्तर भारत की निर्ग्रन्थ धारा में हुए हैं, जो आगे चलकर श्वेताम्बर और यापनीय के रूप में विभाजित हुई। यापनीय परंपरा के ग्रंथों में सिद्धसेन का आदरपूर्वक उल्लेख उन्हें अपनी पूर्वज धारा के एक विद्वान् आचार्य होने के कारण ही है। वस्तुतः, सिद्धसेन को श्वेताम्बर या यापनीय सिद्ध करने के प्रयत्न इसलिए निरर्थक हैं कि पूर्वज धारा में होने के कारण क्वचित् मतभेदों के होते हुए भी वे दोनों के लिए

समान रूप से ग्राह्य रहे हैं। श्वेताम्बर और यापनीय- दोनों को यह अधिकार है कि वे उन्हें अपनी परंपरा को बताएँ, किन्तु उन्हें साम्प्रदायिक अर्थ में श्वेताम्बर या यापनीय नहीं कहा जा सकता है। वे दोनों के ही पूर्वज हैं।

(7) प्रो. ए.एन. उपाध्ये ने उन्हें कर्नाटकीय ब्राह्मण बताकर कर्नाटक में यापनीय परंपरा का प्रभाव होने से उनको यापनीय परंपरा से जोड़ने का प्रयत्न किया है, किन्तु उत्तर-पश्चिम कर्नाटक में उपलब्ध पाँचवीं, छठवीं शताब्दी के अभिलेखों से यह सिद्ध होता है कि उत्तर भारत के श्वेतपट्ट महाश्रमण संघ का भी उस क्षेत्र में उतना ही मान था, जितना निर्ग्रंथ संघ और यापनीयों का था। उत्तर भारत के ये आचार्य भी उत्तर कर्नाटक तक की यात्राएँ करते थे। सिद्धसेन यदि दक्षिण भारतीय ब्राह्मण भी रहे हों, तो इससे यह फलित नहीं होता कि वे यापनीय थे। उत्तर भारत की निर्ग्रन्थ धारा, जिसमें श्वेताम्बर और यापनीयों का विकास हुआ है, का भी बिहार दक्षिण में प्रतिष्ठानपुर अर्थात् उत्तर पश्चिमी कर्नाटक तक निर्बाध रूप से होता रहा है। अतः, सिद्धसेन का कर्नाटकीय ब्राह्मण होना उनके यापनीय होने का प्रबल प्रमाण नहीं माना जाता है।

मेरी दृष्टि में इतना मानना ही पर्याप्त है कि सिद्धसेन कोटिकगण की उस विद्याधर शाखा में हुए थे, जो कि श्वेताम्बर और यापनीयों की पूर्वज है।

(8) पुनः, कुन्दकुन्द के ग्रंथों और वट्टकेर के मूलाचार की जो सन्मतिसूत्र से निकटता है, उसका कारण यह नहीं है कि सिद्धसेन दक्षिण भारत के वट्टकेर या कुन्दकुन्द से प्रभावित हैं। अपितु स्थिति इसके ठीक विपरीत है। वट्टकेर और कुन्दकुन्द- दोनों ही ने प्राचीन आगमिक धारा और सिद्धसेन का अनुकरण किया। कुन्दकुन्द के ग्रंथों में त्रस-स्थावर का वर्गीकरण, चतुर्विध मोक्ष मार्ग की कल्पना आदि पर आगमिक धारा का प्रभाव स्पष्ट है, चाहे यह यापनियों के माध्यम से ही उन तक पहुँचा हो। **मूलाचार** का तो निर्माण ही आगमिक धारा के **निर्युक्ति** और **प्रकीर्णक** साहित्य के आधार पर हुआ है। उस पर सिद्धसेन का प्रभाव होना भी अस्वाभाविक नहीं है। आचार्य जटिल के **वरांगचरित** से भी **सन्मति** की अनेक गाथाएँ अपने संस्कृत रूपान्तर में प्रस्तुत हैं। यह सब इसी बात का प्रमाण है कि ये सभी अपने पूर्ववर्ती आचार्य सिद्धसेन से प्रभावित हैं।

प्रो. उपाध्ये का यह मानना कि महावीर का सन्मति नाम कर्नाटक में अति प्रसिद्ध है और सिद्धसेन ने इसी आधार पर अपने ग्रंथ का नाम सन्मति दिया होगा, अतः

सिद्धसेन यापनीय है, मुझे समुचित नहीं लगता है। श्वेताम्बर साहित्य में भी महावीर के सन्मति विशेषण का उल्लेख मिलता है, जैसे सन्मति से युक्त होने से वे श्रमण कहे गए हैं। इस प्रकार, प्रो. ए.एन. उपाध्ये ने सिद्धसेन के यापनीय होने के जो-जो प्रमाण दिये हैं, वे सबल प्रतीत नहीं होते हैं।

सुश्री कुसुम पटोरिया ने जुगलकिशोर मुख्तार एवं प्रो. उपाध्ये के तर्कों के साथ-साथ सिद्धसेन को यापनीय सिद्ध करने के लिए अपने भी कुछ तर्क प्रस्तुत किये हैं । वे लिखती हैं कि **सन्मतिसूत्र** का श्वेताम्बर ग्रंथों में भी आदरपूर्वक उल्लेख है । **जीतकल्पचूर्णि** में **सन्मतिसूत्र** को **सिद्धिविनिश्चय** के समान प्रभावक ग्रंथ कहा है। श्वेताम्बर परंपरा में **सिद्धिविनिश्चय** को शिवस्वामी की कृति कहा गया है । **शाकटायन व्याकरण** में भी शिवार्य के **सिद्धिविनिश्चय** का उल्लेख है। यदि एक क्षण के लिए मान भी लिया जाये कि ये शिवस्वामी **भगवती आराधना** के कर्त्ता शिवार्य ही हैं, तो भी इससे इतना ही फलित होगा कि कुछ यापनीय कृतियाँ श्वेताम्बरों को मान्य थीं, किन्तु इससे सिद्धसेन का यापनीयत्व सिद्ध नहीं होता है।

पुनः, **सन्मतिसूत्र** में अर्द्धमागधी आगम के उद्धरण भी यही सिद्ध करते हैं कि वे उस आगमिक परंपरा के अनुसरणकर्त्ता हैं, जिसके उत्तराधिकारी श्वेताम्बर एवं यापनीय- दोनों हैं। यह बात हम पूर्व में ही प्रतिपादित कर चुके हैं कि आगमों के अन्तर्विरोध को दूर करने के लिए ही उन्होंने अपने अभेदवाद की स्थापना की थी। सुश्री कुसुम पटोरिया ने विस्तार से **सन्मतिसूत्र** में उनके आगमिक अनुसरण की चर्चा की है । यहाँ हम उस विस्तार में न जाकर केवल इतना ही कहना पर्याप्त समझते हैं कि सिद्धसेन उस आगमिक धारा में ही हुए हैं, जिसका अनुसरण श्वेताम्बर और यापनीय- दोनों ने किया है और यही कारण है कि दोनों ही उन्हें अपनी-अपनी परंपरा का कहते हैं।

आगे वे पुनः यह स्पष्ट करती हैं कि गुण और पर्याय के संदर्भ में भी उन्होंने आगमों का स्पष्ट अनुसरण किया है और प्रमाणरूप में आगम-वचन उद्धृत किये हैं। यह भी उन्हें आगमिक धारा का ही सिद्ध करता है। श्वेताम्बर और यापनीय- दोनों धाराएँ अर्द्धमागधी आगम को प्रमाण मानती हैं। सिद्धसेन के सम्मुख जो आगम थे, वे देवर्द्धि वाचना के न होकर माथुरी वाचना के रहे होंगे, क्योंकि देवर्द्धि निश्चित ही सिद्धसेन से परवर्ती हैं।

सुश्री पटोरिया ने मदनूर जिला नेल्लौर के एक अभिलेख[16] का उल्लेख करते

हुए यह बताया है कि कोटमुडुवगण में मुख्य पुष्यार्हनन्दि गच्छ के गणधर के सदृश जिननन्दी मुनीश्वर हुए हैं। उनके शिष्य पृथ्वी पर विख्यात केवलज्ञान निधि के धारक स्वयं जिनेन्द्र के सदृश दिवाकर नाम के मुनि हुए। यह सत्य है कि यह कोटिमुडुवगण यापनीय है, किन्तु इस अभिलेख में उल्लेखित दिवाकर सिद्धसेन दिवाकर है, यह कहना कठिन है, क्योंकि इसमें इन दिवाकर के शिष्य श्री मंदिर देवमुनि का उल्लेख है, जिनके द्वारा अधिष्ठित कंटकाभरण नामक जिनालय को यह दान दिया गया था। यदि दिवाकर मंदिरदेव के गुरु हैं, तो वे सिद्धसेन दिवाकर न होकर अन्य कोई दिवाकर हैं, क्योंकि इस अभिलेख के अनुसार मंदिरदेव का काल ईस्वी 942 अर्थात् वि.सं. 999 है। इनके गुरु इनमें 50 वर्ष पूर्व भी माने जाएं तो वे दसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में ही सिद्ध होंगे, जबकि सिद्धसेन दिवाकर तो किसी भी स्थिति में पाँचवीं शती से परवर्ती नहीं हैं। अतः, वे दिवाकर सिद्धसेन नहीं हो सकते हैं। दोनों के काल में लगभग 600 वर्ष का अंतर है। यदि इसमें उल्लेखित दिवाकर को मंदिर देव का साक्षात् गुरु न मानकर परंपरा गुरु मानें, तो इससे उनका यापनीय होना सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि परंपरा गुरु के रूप में तो गौतम आदि गणधरों एवं भद्रबाहु आदि प्राचीन आचार्यों का भी उल्लेख किया जाता है। अंत में, सिद्ध यही होता है कि सिद्धसेन दिवाकर यापनीय न होकर यापनीयों के पूर्वज थे।

सिद्धसेन श्वेताम्बरों के पूर्वज आचार्य हैं

सिद्धसेन को पाँचवीं शती के पश्चात् के सभी श्वेताम्बर आचार्यों ने अपनी परंपरा का माना है। अनेकशः श्वेताम्बर ग्रंथों में श्वेताम्बर आचार्य के रूप में उनका स्पष्ट निर्देश भी है और यह भी निर्देश है कि वे कुछ प्रश्नों पर आगमिक धारा से मतभेद रखते हैं, फिर भी कहीं भी उन्हें अपनी परंपरा से भिन्न नहीं माना गया है। अतः, सभी साधक प्रमाणों की समीक्षा के आधार पर यही फलित होता है कि वे उस उत्तर भारतीय निर्ग्रन्थ धारा के विद्याधर कुल में हुए हैं, जिसे श्वेताम्बर आचार्य अपनी परंपरा का मानते हैं, अतः वे श्वेताम्बरों के पूर्वज आचार्य हैं।

इसी प्रकार, तीसरा प्रश्न **'न्यायावतार'** के कृतित्व के संदर्भ में है। इस संबंध में मेरे और डॉ. श्री प्रकाश पाण्डेय के मन्तव्य में स्पष्टतः मतभेद है। असंग के ग्रंथों में स्पष्ट रूप से 'अभ्रांत' पद मिल जाने के बाद मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि **न्यायावतार** जैन न्याय का प्रथम ग्रंथ होने के नाते आचार्य सिद्धसेन दिवाकर की ही रचना है। इस संबंध में मेरा तर्क निम्न है-

न्यायावतार, सन्मतिसूत्र के कर्त्ता सिद्धसेन की कृति है या नहीं, यह एक विवादास्पद प्रश्न है। इस संदर्भ में श्वेताम्बर विद्वान् भी मतैक्य नहीं रखते हैं। पं. सुखलालजी,पं. बेचरदासजी एवं पं. दलसुख मालवणिया ने **न्यायावतार** को सिद्धसेन की कृति माना है, किन्तु एम.ए. ढाकी आदि कुछ श्वेताम्बर विद्वान् उनसे मतभेद रखते हुए उसे सिद्धर्षि की कृति मानते हैं।[17] डॉ. श्री प्रकाश पाण्डेय ने प्रस्तुत कृति में इस प्रश्न की विस्तृत समीक्षा की है तथा प्रो. ढाकी के मत का समर्थन करते हुए **न्यायावतार** को सिद्धसेन दिवाकर की कृति न मानते हुए इसे सिद्धर्षि की कृति माना है, किन्तु कुछ तार्किक आधारों पर मेरी व्यक्तिगत मान्यता यह है कि **न्यायावतार** भी सिद्धसेन की कृति है। प्रथम तो यह कि **न्यायावतार** भी एक **द्वित्रिंशिका** है और सिद्धसेन ने स्तुतियों के रूप में **द्वित्रिंशिकाएं** ही लिखी हैं। उनके परवर्ती आचार्य हरिभद्र ने **अष्टक, षोडशक** एवं **विशिंकाएं** तो लिखीं, किन्तु **द्वात्रिंशिका** नहीं लिखी। दूसरे, न्यायावतार में आगम युग के प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम- इन तीन प्रमाणों की ही चर्चा हुई है, दर्शन युग में विकसित जैन परंपरा में मान्य स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क की प्रमाण के रूप में मूल ग्रंथ में कोई चर्चा नहीं है, जबकि परवर्ती सभी श्वेताम्बर एवं दिगम्बर आचार्य एवं **न्यायावतार** के टीकाकार सिद्धर्षि स्वयं भी इन प्रमाणों की चर्चा करते हैं। यदि सिद्धर्षि स्वयं ही इसके कर्त्ता होते तो कम से कम एक कारिका बनाकर इन तीनों प्रमाणों का उल्लेख तो मूलग्रंथ में अवश्य करते। पुनः, सिद्धर्षि की टीका में एक भी ऐसे लक्षण नहीं मिलते हैं, जिससे वह स्वोपज्ञ सिद्ध होती है। इस कृति में कहीं भी उत्तम पुरुष के प्रयोग नहीं मिलते। यदि यह उनकी स्वोपज्ञ टीका होती, तो इससे उत्तम पुरुष के कुछ तो प्रयोग मिलते।

प्रत्यक्ष की परिभाषा में प्रयुक्त 'अभ्रान्त' पद तथा समन्तभद्र के **रत्नकरण्डक श्रावकाचार** के जिस श्लोक को लेकर यह शंका की जाती है कि न्यायावतार सिद्धसेन दिवाकर की कृति नहीं है- अन्यथा वे धर्मकीर्त्ति और समन्तभद्र के परवर्ती सिद्ध होंगे। प्रथम तो यही निश्चित नहीं है कि **रत्नकरण्डक श्रावकाचार** समन्तभद्र की कृति है या नहीं। उसमें जहाँ तक 'अभ्रान्त' पद का प्रश्न है, प्रो. टूची के अनुसार यह धर्मकीर्ति के पूर्व भी बौद्धन्याय में प्रचलित था। अनुशीलन करने पर असंग के गुरु मैत्रेय की कृतियों में एवं स्वयं असंग की कृति **अभिधर्म समुच्चय** में प्रत्यक्ष की परिभाषा में 'अभ्रान्त' पद का प्रयोग हुआ। **अभिधर्म समुच्चय** में असंग स्वयं लिखते हैं-

ज्ञातव्य है कि असङ्ग वसुबन्धु के बड़े भाई थे और इनका काल लगभग तीसरी-चौथी शताब्दी है। अतः, सिद्धसेन दिवाकर की कृति **न्यायावतार** में अभ्रान्त पद को देखकर उसे न तो परवर्ती माना जा सकता है और न यह माना जा सकता है कि वह धर्मकीर्त्ति से परवर्ती किसी अन्य सिद्धसेन की कृति है। यदि बौद्ध न्याय में अभ्रान्त पद का उल्लेख तीसरी-चौथी शताब्दी के ग्रन्थों में उपलब्ध है, तो फिर न्यायावतार (चतुर्थ-शती) में अभ्रान्त पद का प्रयोग अस्वाभाविक नहीं माना जा सकता है। डॉ. पाण्डेय ने भी अपनी इस कृति में इस तथ्य को स्वीकार कर लिया है, फिर भी वे **न्यायावतार** को सिद्धसेन की कृति मानने में संकोच कर रहे हैं?

उनका दूसरा तर्क यह है कि **न्यायावतार** की अनुमान प्रमाण की परिभाषा पर दिगम्बर विद्वान् पात्र केसरी का प्रभाव है । उनके अनुसार, **न्यायावतार** की 22वीं कारिका का पात्र केसरी की **त्रिलक्षण कदर्थन** की कारिका से आंशिक साम्य है, लेकिन इस आधार पर यह मानना की पात्र केसरी (7वीं शती) का प्रभाव **न्यायावतार** पर है, मुझे तर्कसंगत नहीं जान पड़ता, क्योंकि इसके विपरीत यह भी तो माना जा सकता है कि सिद्धसेन दिवाकर का ही अनुसरण पात्र केसरी ने किया है।

तीसरे, जब **न्यायावतार** के वार्त्तिक में शान्तिसूरि स्पष्ट रूप से 'सिद्धसेनार्क सूत्रितम्' **(न्यायावतार वार्तिक- 1/1)** ऐसा स्पष्ट उल्लेख करते हैं, तो फिर यह संदेह कैसे किया जा सकता है कि **न्यायावतार** के कर्त्ता सिद्धसेन दिवाकर पदवी वाले सिद्धसेन नहीं हैं । यदि न्यायावतार सिद्धर्षि की कृति होती, तो वार्त्तिककार शान्त्याचार्य, जो उनसे लगभग दो सौ वर्ष पश्चात् हुए हैं, यह उल्लेख अवश्य करते। उनके द्वारा सिद्धसेन के लिए 'अर्क' विशेषण का प्रयोग यही सिद्ध करता है कि **न्यायावतार** के कर्त्ता अन्य कोई सिद्धसेन न होकर सिद्धसेन दिवाकर ही हैं, क्योंकि अर्क का मतलब स्पष्ट रूप से दिवाकर (सूर्य) ही है।

उन्हें **न्यायावतार** की कारिकाओं की समन्तभद्र की कारिकाओं में समरूपता दिखाई देने पर भी **न्यायावतार** को सिद्धसेन दिवाकरकृत मानने पर बाधा नहीं आती, क्योंकि समन्तभद्र की आप्तमीमांसा आदि कृतियों में सिद्धसेन के सन्मतितर्क का स्पष्ट प्रभाव देखा जाता है। इनमें न केवल भावगत समानता है, अपितु प्राकृत और संस्कृत के शब्द रूपों को छोड़कर भाषागत भी समानता है और यह निश्चित है कि सिद्धसेन

दिवाकर समन्तभद्र से पूर्ववर्ती है। अतः, सिद्धसेन की कृतियों की समन्तभद्र की कृतियों में समरूपता दिखाई देने के आधार पर यह अनुमान कर लेना उचित नहीं होगा कि **न्यायावतार** सिद्धसेन दिवाकर की कृति नहीं है। समन्तभद्र ने जब सिद्धसेन के **सन्मतितर्क** से **आप्तमीमांसा** में अनेक श्लोकों को ग्रहण किया है, तो यह भी संभव है कि उन्होंने **रत्नकरण्डकश्रावकाचार** (जिसका समन्तभद्रकृत होना भी विवादास्पद है) में भी सिद्धसेन के न्यायावतार से कुछ श्लोक अभिगृहीत किये हों।

पुनः, जब न्यायावतार का दूसरा व चौथा पूरा का पूरा श्लोक याकनीसूनु हरिभद्र के **अष्टकप्रकरण** और **षड्दर्शनसमुच्चय** में पाया जाता है, तो फिर **न्यायावतार** को हरिभद्र के बाद होने वाले सिद्धर्थि की वृत्ति कैसे माना जा सकता है ? इससे यह स्पष्ट है कि **न्यायावतार** की रचना हरिभद्र से पूर्व हो चुकी थी फिर इसे सिद्धर्षि की कृति कैसे माना जा सकता है ? अतः डॉ. पाण्डेय और प्रो. ढाकी का यह मानना कि **न्यायावतार** मूल सिद्धर्षि की कृति है, किसी भी दृष्टि से तर्कसंगत नहीं है। अपने पक्ष के बचाव में डॉ. पाण्डेय का यह तर्क कि ये श्लोक सिद्धसेन की लुप्त प्रमाण **द्वात्रिंशिका** के हों, अधिक वजनदार नहीं लगता है। जब **न्यायावतार** के ये श्लोक स्पष्ट रूप से हरिभद्र के **अष्टकप्रकरण** और **षट्दर्शन समुच्चय** से मिल रहे हों, तो फिर द्राविड़ी प्राणायाम के द्वारा यह कल्पना करना कि वे किसी लुप्त **प्रमाणद्वात्रिंशिका** के श्लोक होंगे, युक्तिसंगत नहीं है। जब सिद्धसेन के इस न्यायावतार में अभी 32 श्लोक हैं, तो फिर संभव यह भी है कि इसका ही अपर नाम प्रमाणद्वात्रिंशिका हो ? पुनः, जब हरिभद्र के द्वारा **न्यायावतार** पर वृत्ति लिखे जाने पर स्पष्ट सूचनाएं प्राप्त हो रही हैं, तो फिर यह कल्पना करना कि वे हरिभद्र प्रथम न होकर कोई दूसरे हरिभद्र होंगे, मुझे उचित नहीं लगता। जब यकिनीसूनु हरिभद्र **न्यायावतार** की कारिका अपने ग्रंथों में उद्धृत कर रहे हैं, तो यह मानने में क्या बाधा है कि वृत्तिकार भी वे ही हों ?

न्यायावतार की विषयवस्तु से यह स्पष्ट है कि वह जैन प्रमाणशास्त्र की आद्य रचना है। उसमें अकलंक के काल में विकसित तीन प्रमाणों, यथा-स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क या ऊह का उपलब्ध नहीं होना तथा आगमिक तीन प्रमाणों की सूचना प्राप्त होना यही प्रमाणित करता है कि वह अकलंक (8वीं शती) से पूर्व का ग्रंथ है। सिद्धर्षि का काल अकलंक से परवर्ती है और उन्होंने अपने **न्यायावतार** की वृत्ति में स्पष्टतः इन प्रमाणों की चर्चा की है, जबकि आठवीं शती तक के किसी श्वेताम्बर आचार्य में

इनकी चर्चा नहीं है, यहाँ तक कि हरिभद्र भी इन प्रमाणों की चर्चा नहीं करते हैं- पूर्ववर्ती श्वेताम्बराचार्य आगमिक तीन प्रमाणों प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द की चर्चा करते हैं। अतः, यह सिद्ध हो जाता है कि **न्यायावतार,** आगमिक तीन प्रमाणों का ही उल्लेख करने के कारण सिद्धसेन दिवाकर की ही कृति है। यदि यह सिद्धर्षि की कृति होती, तो निश्चय ही मूल कारिका में इनकी चर्चा होनी थी। पुनः, डॉ. पाण्डेय का यह कथन की स्वोपज्ञवृत्ति में कतिपय विषय-बिन्दु ऐसे मिलते हैं कि जिनका उल्लेख मूल में नहीं है, परंतु भाष्य या वृत्ति में होता है, किन्तु मैं डॉ. पाण्डेय के इस तर्क से सहमत नहीं हूँ, क्योंकि यदि **न्यायावतार** सिद्धर्षि की वृत्ति होती, तो वे कम से कम यह तर्क नहीं देते कि इस न्यायावतार प्रकरण में अनुमान से ऊह को पृथक् करके नहीं दिखाया गया, क्योंकि यह प्रकरण संक्षिप्त रुचि के जीवों के अनुग्रह के लिए लिखा गया। इस प्रसंग में यदि सिद्धर्षि ने स्वयं ही मूलग्रंथ लिखा होता, तो अवश्य यह लिखते कि मैंने यह प्रकरण संक्षिप्त रुचि वाले लोगों के लिये बनाया। सिद्धर्षि ने कहीं भी इस तथ्य का निर्देश नहीं किया है कि मूलग्रंथ मेरे द्वारा बनाया गया है। अतः, यह कल्पना करना निराधार है कि मूल न्यायावतार सिद्धर्षि की कृति है और उस पर उन्होंने स्वोपज्ञवृत्ति लिखी है।

यह सत्य है कि उस युग में स्वोपज्ञ टीका या वृत्ति लिखे जाने की प्रवृत्ति प्रचलन में थी, किन्तु इस सिद्धर्षि की वृत्ति से कहीं भी फलित नहीं होता है कि वह स्वोपज्ञ है। पुनः, स्वोपज्ञवृत्ति में मूल में वर्णित विषयों का ही स्पष्टीकरण किया जाता है, उसमें नये विषय नहीं आते। उदाहरण के रूप में **तत्त्वार्थसूत्र** मूल में गुणस्थान सिद्धांत की कोई चर्चा नहीं है, तो उसके स्वोपज्ञभाष्य में भी किसी भी स्थान में गुणस्थान सिद्धांत की चर्चा नहीं की गई, किन्तु अन्य आचार्यों के द्वारा जब उस पर टीकाएं लिखी गईं, तो उन्होंने विस्तार से गुणस्थान सिद्धांत की चर्चा की। इससे यही फलित होता है कि **न्यायावतार** की मूल कारिकाएं सिद्धर्षि की कृति नहीं हैं। यदि मूलकारिकाएँ भी सिद्धर्षि की कृति होतीं, तो उनमें नैगमादि नयों एवं स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क आदि प्रमाणों की कहीं कोई चर्चा नहीं होनी थी।

नय विवेचन के संदर्भ में डॉ. पाण्डेय का यह तर्क भी समीचीन नहीं है कि "यदि सिद्धर्षि सिद्धसेन के ग्रंथ पर वृत्ति लिखे होते, तो जो सिद्धसेन को अभीष्ट नहीं है या तो उसका उल्लेख नहीं करते, या उल्लेख करते भी, तो यह कहकर कि मूलाकार इसे नहीं मानता"। यहाँ उन्हें यह स्मरण रखना चाहिए कि टीकाकारों के द्वारा अपनी

नवीन मान्यता को प्रस्तुत करते समय कहीं भी यह लिखने की प्रवृत्ति नहीं रही है कि वे आवश्यक रूप से जो मूलग्रन्थकार का मंतव्य नहीं है, उसका उल्लेख करें। सिद्धर्षि की **न्यायावतार** वृत्ति में नयों की जो चर्चा है, वह किसी मूल कारिका की व्याख्या न हो करके एक परिशिष्ट के रूप में की गई चर्चा ही है, क्योंकि मूल ग्रंथ की 29वीं कारिका में मात्र 'नय' शब्द आया है, उसमें कहीं भी नय कितने है, यह उल्लेख नहीं है, यह टीकाकार की अपनी व्याख्या है और टीकाकार के लिए यह बाध्यता नहीं होती है कि वह उन विषयों की चर्चा न करे, जो मूल नहीं हैं। इतना निश्चित है कि यदि सिद्धर्षि की वृत्ति स्वोपज्ञ होती, तो वे मूल में कहीं न कहीं नयों की चर्चा करते। इससे यही फलित होता है कि मूल ग्रंथकार और वृत्तिकार- दोनों अलग-अलग व्यक्ति हैं।

टीका में नवीन-नवीन विषयों का समावेश यही सिद्ध करता है कि न्यायावतार की सिद्धर्षि की वृत्ति स्वोपज्ञ नहीं है। जहाँ तक डॉ. पाण्डेय के इस तर्क का प्रश्न है कि वृत्तिकार ने मूलग्रन्थकार का निर्देश प्रारंभ में क्यों नहीं किया, इस संबंध में मेरा उत्तर यह है कि जैन परंपरा में ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जहाँ वृत्तिकार मूलग्रन्थकार से भिन्न होते हुए भी मूल ग्रंथकार का निर्देश नहीं करता है। उदाहरण के रूप में, **तत्त्वार्थसूत्र** की **सर्वार्थसिद्धि** टीका में कहीं भी यह निर्देश नहीं है कि वह उमास्वाति के मूल ग्रंथ पर टीका लिख रहा है। ये लोग प्रायः केवल ग्रंथ का निर्देश करके ही संतोष कर लेते थे, ग्रंथकार का नाम बताना आवश्यक नहीं समझते थे, क्योंकि वह जनसामान्य में ज्ञात ही होता था। अतः, यह मानना कि '**न्यायावतार**' सिद्धसेन दिवाकर की कृति न होकर सिद्धर्षि की कृति है और उस पर लिखी गई **न्यायावतार** वृत्ति स्वोपज्ञ है, उचित प्रतीत नहीं होता।

न्यायावतार सिद्धसेन की कृति है, इसका सबसे महत्वपूर्ण प्रमाण तो यह है कि मल्लवादी ने अपने ग्रंथ **नयचक्र** में स्पष्ट रूप से सिद्धसेन को **न्यायावतार** का कर्त्ता कहा है। मुझे ऐसा लगता है कि प्रतिलिपिकारों के प्रमाद के कारण ही कहीं **न्यायावतार** की जगह **नयावतार** हो गया है। प्रतिलिपियों में ऐसी भूलें सामान्यतया हो ही जाती हैं।

जहाँ तक सिद्धसेन की उन स्तुतियों का प्रश्न है, जिनमें महावीर के विवाह आदि के संकेत हैं, दिगम्बर विद्वानों की यह अवधारणा कि यह किसी अन्य सिद्धसेन की कृति है, उचित नहीं है। केवल अपनी परंपरा से समर्थित न होने के कारण किसी अन्य सिद्धसेन की कृति कहें, यह उचित नहीं है।

उपरोक्त दो प्रश्नों पर लेखक डॉ. श्री प्रकाश पाण्डेय से मतभेद रखते हुए भी मैं इतना अवश्य कह सकता हूँ कि उन्होंने इस कृति का प्रणयन पक्ष व्यामोह से ऊपर उठकर तटस्थ दृष्टि से किया है। यह कृति सिद्धसेन दिवाकर के व्यक्तित्व एवं कृतित्व को उजागर करने में सफल सिद्ध होगी, यह मेरा पूर्ण विश्वास है। उन्होंने कतिपय बिन्दुओं पर मतवैभिन्न्य होते हुए भी इस कृति के लिए भूमिका लिखने का आग्रह किया, अतः मैं उनके प्रति आभार व्यक्त करता हूँ तथा यह अपेक्षा करता हूँ कि भविष्य में भी वे जैन विद्या के ग्रंथ भण्डार को अपनी नवीन- नवीन कृतियों से आपूरित करते रहेंगे।

28 नवंबर, 1997 **डॉ. सागरमल जैन**

वाराणसी

संदर्भ

1. दखें - सन्मति प्रकरण, सम्पादक- पं. सुखलालजी संघवी, ज्ञानोदय टस्ट, अहमदाबाद, प्रस्तावना, पृष्ठ 6 से 16.

2अ. दंसणगाही - दंसणणाणप्पभावगणि सत्थाणि सिद्धिविणिच्छय - संमतिमादि गेण्हंतो असंथरमाणे जं अकप्पियं पडिसेवति जयणाते तत्थ सो सुद्धो अप्रायश्चित्ती भवतीत्यर्थः। - निशीथचूर्णि, भाग 1, पृष्ठ 162.
दंसणप्पभावगाण सत्थाण सम्मदियादिसुतणाणे य जो विसारदो णिस्सकियसुत्तथो त्ति वुत्तं भवति। - वही, भाग 3, पृष्ठ 202.

ब. आयरिय सिद्धसेणेण सम्मई ए पइट्ठि अजसेणं।
दूसमणिसादिवागर कप्पत्तणओ तदक्खेणं॥ - **पंचवस्तु** (हरभिद्र) 1048.

स. श्रीदशाश्रुतस्कन्ध मूल, निर्युक्ति, चूर्णिसह, पृ. 16 (श्रीमणिविजय ग्रंथमाला नं. 14, सं 2011) (यहाँ सिद्धसेन को गुरु से भिन्न अर्थ करने वाला भाव-अभिनय का दोषी बताया गया है)।

द. पूर्वाचार्य विरचितेषु सन्मति-नयावतारादिषु ...।
(ज्ञातव्य है कि नयावतार ही कालक्रम में - न्यायावतार होता है)
- **द्वादशारं नयचक्रम्**, (मल्लवादि)। भावनगरस्या श्री आत्मानन्द सभा, 1988, तृतीय विभाग, पृ. 886.

3अ. अणेण सम्मदसुत्तेणसह कथमिदं वक्खाणं ण विरूज्झदे।
(ज्ञातव्य है कि इसके पूर्व **सन्मतिसूत्र** की गाथा 6 उद्धृत है)
- **धवला**, टीका समन्वित, **षट्खण्डागम**- 1/1/1, पुस्तक 1, पृष्ठ 16.

ब. जगत्प्रसिद्ध बोधस्य, वृषभस्येव निस्तुषाः ।
बोधयंति सतां बुद्धिं सिद्धसेनस्य सूक्तयः ॥
- हरिवंशपुराण (जिनसेन)- 1/30.

स. सिद्धसेनोऽभय भीमसेनकौ गुरु परौ तौ जिनशांतिषेणकौ ।- वही- 66/29.

स. प्रवादिकरियूथानां केसरी नयकेसरः ।
सिद्धसेन कविर्जीयाद्विकल्पनखराङ्कुरः ॥ **-आदिपुराण** (जिनसेन)- 1/42.

द. असीदिन्द्रगुरुर्दिवाकरयतिः शिष्योऽस्य चार्हन्मुनिः।
तस्माल्लक्ष्मणसेन सन्मुनिरदः शिष्यो रविस्तु स्मृतः ॥
-पद्मरित (रविषेण) 123/167.

ज्ञातव्य है कि हरिवंशपुराण के अंत में पुन्नाटसंघीय जिनसेन की अपनी गुरुपरम्परा में उल्लिखित सिद्धसेन तथा रविषेण द्वारा पद्मचरित के अंत में अपनी गुरु परंपरा में उल्लिखित दिवाकर यति - ये दोनों सिद्धसेन दिवाकर से भिन्न हैं। यद्यपि हरिवंश के प्रारंभ में तथा आदिपुराण के प्रारंभ में पूर्वाचार्यों का स्मरण करते हुए जिन सिद्धसेन का उल्लेख किया गया है, वे सिद्धसेन दिवाकर ही हैं।

इ. देखें - **जैन साहित्य और इतिहास पर विशद् प्रकाश,** जुगलकिशोर मुख्तार, पृष्ठ 500-585.

फ. **धवला** और **जयधवला** में **सन्मतिसूत्र** की कितनी गाथाएँ कहाँ उद्धृत हुईं, इसका विवरण पं. सुखलालजी ने सन्मतिप्रकरण की अपनी भूमिका में किया है। देखें - **सन्मतिप्रकरण** 'भूमिका', पृष्ठ 58.

ज. इसी प्रकार जटिल के वरांगचरित में भी सन्मतितर्क की अनेक गाथाएँ अपने संस्कृत रूपांतर में पायी जाती हैं। इसका विवरण मैंने इसी ग्रंथ के इसी अध्याय से वरांगचरित्र के प्रसंङ्ग में किया है।

4. Siddhasenas Nyayavatara and other works, A.N. Upadhye, Jaina Sahitya Vikas Mandal, Bombay. 'Introduction' pp XIV-XVII

5 **यापनीय और उनका साहित्य** - डॉ. कुसुम पटोरिया, वीर सेवा मंदिर टस्ट प्रकाशन, वाराणसी-1988, पृ. 143/148.

6. देखें- **जैन साहित्य और इतिहास पर विशद् प्रकाश,** पं. जुगल किशोर मुख्तार, पृष्ठ 580-582.
7. देखें- **प्रभावकचरित्त,** प्रभाचन्द्र, सिंघी जैन ग्रंथमाला, पृ. 54-61.
प्रबंधकोश (चतुर्विंशतिप्रबंध), राजशेखरसूरि, सिंघी जैन ज्ञानपीठ, पृ. 15-21.
प्रबंध चिन्तामणि, मेरुतुंग, सिंघी जैन ज्ञानपीठ, पृ. 7-9.
8. **प्रभावकचरित** - वृद्धवादिसूरिचरितम्, पृ. 107-120.
9. 'अनेकजन्मान्तरभग्नमानः स्सरो यशोदाप्रिय यत्पुरस्ते' - पंचम **द्वात्रिंशिका** 36.
10. देखें - **सन्मतिसूत्र** 2/4, 2/7, 3/46.
11. **जैन साहित्य और इतिहास पर विशद् प्रकाश**- पं. जुगलकिशोर मुख्तार, पृ. 527-528.
12. **सन्मतिप्रकरण**- संपादक पं. सुखलालजी एवं बेचरदासजी, ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदाबाद, पृ. 36-37.
13. Siddhasena's Nyayavatar and other works. A.N. Upadhye, Introduction - pp. xiii to zviii.
14. सुत्तासायणभीरूहि तं च दट्ठव्वयं होई।
संतम्मि केवले दंसणम्मि णाणस्स संभवो णत्थि॥
सुत्तम्मि चेव साई-अपज्जवसियं ति केवलं वुत्तं।
केवलणाणम्मि य दंसणस्स तम्हा सणिहणाइं॥ - **सन्मतिप्रकरण**- 2/7-8.
15. सम्भिन्न ज्ञानदर्शनस्य तु भगवतः केवलिनो युगपत् सर्वभाव ग्राहके निरपेक्षे केवलज्ञाने केवलदर्शने चानुसमयमुपयोगो भवति। - तत्वार्थभाष्य- 1/31.
16. **कल्पसूत्र**.
17. जैन शिलालेख संग्रह, भाग 2, लेख क्रमांक 143.
18. "The Date and authorship of Nyayavatar, M.A. Dhaky, 'Nirgrantha' Edited by M.A. Dhaky & Jitendra Shah, Sharadaben Chimanbhai Educational Research Centre, Ahmedabad-4.
19. **अभिधर्मसमुच्चय**, विश्वभारती शांतिनिकेतन 1950, सांकथ्य परिच्छेद, पृ. 105.

7- शिवार्य और उनकी भगवती आराधना
(ईस्वी सन् 7वीं शती)

'आराधना' या 'भगवती आराधना' यापनीय परंपरा का एक और महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इसके रचयिता शिवार्य हैं। ग्रंथ के अंत में ग्रंथकार ने स्वयं लिखा है कि ''आर्य जिननंदी गणि, आर्य सर्वगुप्त गणि और आर्य मित्रनंदी के चरणों के निकट सूत्रों और उनके अभिप्राय को अच्छी तरह से समझ करके पूर्वाचार्यों द्वारा निबद्ध की हुई रचनाओं के आधार से पाणितल भोजी शिवार्य ने यह आराधना अपनी शक्ति के अनुसार रची।[1] ग्रंथकर्त्ता ने अपने और अपने तीनों गुरुओं के लिए 'आर्य' विशेषण का प्रयोग किया है, साथ ही जिणनन्दी और सर्वगुप्त को गणि भी कहा है। मथुरा एवं विदिशा के अभिलेखों एवं कल्प तथा नन्दीसूत्र की स्थविरावलियों से हमें यह ज्ञात होता है कि ईसा की पाँचवीं शती तक मुनियों के नामों के आगे 'आर्य' तथा साध्वी के लिए 'आर्या' शब्द के प्रयोग का प्रचलन था तथा आचार्य को गणि शब्द से अभिसूचित किया जाता था।[2] विदिशा के अभिलेख में तो आर्यकुल का भी उल्लेख है।[3] यह आर्यकुल यापनीय था- यह बात हम पूर्व में बता चुके हैं । विदिशा के एक अभिलेख[4] में आर्यचन्द्र के लिए 'पाणितल भोजी' विशेषण का प्रयोग हुआ है। आराधना में शिवार्य ने भी अपने लिए 'पाणितल भोजी' का विशेषण प्रयोग किया है। अतः, दोनों एक ही परंपरा के प्रतीत होते हैं। मुनि के नाम के साथ 'आर्य' विशेषण का प्रयोग श्वेताम्बर और यापनीय परंपराओं में लगभग छठवीं-सातवीं शती तक प्रचलित रहा है, जबकि दिगम्बर परंपरा में इसका प्रयोग नहीं देखा जाता है। शिवार्य के साथ लगे हुए 'आर्य' और 'पाणितल भोजी' विशेषण उन्हें यापनीय आर्यकुल से संबंधित सिद्ध करते हैं । उनके गुरुओं के नन्दि नामान्तक नामों के आधार पर भी उनका संबंध यापनीय परंपरा के नंदीसंघ से माना जा सकता है।

जिनसेन ने अपने आदिपुराण में इन्हें शिवकोटि कहा है।[5] यद्यपि कुछ दिगम्बर ग्रंन्थों में शिवकोटि को समन्तभद्र का शिष्य बताने का प्रयास किया गया है,[6] किन्तु यह मत भ्रामक है। पं. नाथूरामजी प्रेमी ने इस मत का अपने ग्रंथ 'आराधना और उनकी टीका' नामक लेख में विस्तारपूर्वक खण्डन किया है।[7] शाकटायन ने शिवार्य के गुरु सर्वगुप्त को बड़ा भारी व्याख्याता बताया है। चूंकि शाकटायन भी यापनीय है, अतः

मुक्ति या स्त्री मुक्ति के समर्थक अर्थात् यापनीय होने में संदेह प्रकट करते हैं। वे लिखते हैं कि हमें वे (अपराजितसूरि) सवस्त्र मुक्ति या स्त्री मुक्ति के समर्थक प्रतीत नहीं हुए[8] संभवतः, पंडितजी इस ऐतिहासिक तथ्य पर ध्यान नहीं दे पाये कि स्त्री मुक्ति और केवली मुक्ति के प्रश्न ही 6-7वीं सदी के पूर्व किसी भी श्वेताम्बर-दिगम्बर ग्रंथ में चर्चित नहीं हैं। दिगंबर परंपरा में सर्वप्रथम कुन्दकुन्द ने सुत्तपाहुड के कुन्दकुन्दकृत होने में ही संदेह प्रकट किया। दूसरे, वे कुन्दकुन्द को छठवीं शती पूर्व का नहीं मानते हैं। यापनीय मान्यताओं की चर्चा करते हुए अग्रिम अध्याय में हमने इस संबंध में विस्तृत चर्चा की है।

अतः, भगवती आराधना में स्त्री मुक्ति और केवली भुक्ति का उल्लेख न देखकर उसे एक तीसरी परंपरा का ग्रंथ कहते हुए भी उसे यापनीय परंपरा का नहीं मानना, आदरणीय पंडितजी के साम्प्रदायिक अभिनिवेश का ही सूचक है। जब मूलग्रंथ में यह चर्चा ही नहीं थी, तो टीकाकार अपराजित ने भी उसे नहीं उठाया, किन्तु इससे वे स्त्री मुक्ति के विरोधी नहीं कहे जा सकते हैं। यापनीयों के अतिरिक्त ऐसा कोई भी जैन - सम्प्रदाय नहीं था, जो अचेलता का समर्थक होते हुए भी आगमों को मान्य कर रहा था। यदि स्त्री मुक्ति और केवली भुक्ति का स्पष्ट समर्थन या निषेध ही उस ग्रंथ के किसी सम्प्रदाय विशेष से संबंधित होने का आधार हो तो फिर अनेक ग्रंथ, जिन्हें आज दिगम्बर परंपरा अपना ग्रंथ मान रही है, उन्हें दिगम्बर परंपरा का ग्रंथ नहीं मानना होगा। कुन्दकुन्द के ही समयसार, नियमसार, पंचास्तिकाय में स्त्री-मुक्ति और केवली - भुक्ति का खण्डन नहीं मिलता है। क्या इसके अभाव में इनके दिगम्बर आचार्य द्वारा रचित होने में कोई संदेह किया जाना चाहिए?

श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय परंपरा के प्राचीन अनेक ग्रंथ ऐसे हैं, जिनमें इन दोनों अवधारणाओं के समर्थन या निषेध के संबंध में कुछ नहीं कहा गया है। मात्र स्त्री-मुक्ति और केवली भुक्ति की समर्थक गाथाओं के अभाव के कारण उसे यापनीय मानने से इंकार किया जा सकता है। पंडित नाथूराम प्रेमी अपने लेख 'यापनीयों का साहित्य' में स्पष्ट रूप से यह स्वीकार करते हैं कि भगवती आराधना के कर्त्ता शिवार्य और टीकाकार अपराजित सूरि यापनीय थे। इस संबंध में हम उनके तर्कों को उनके ही शब्दों में प्रस्तुत कर रहे हैं। वे लिखते हैं कि-

अपराजित के विषय में विचार करते समय मूल भगवती आराधना में भी कुछ

बातें ऐसी मिली हैं, जिनसे उसके कर्त्ता शिवार्य भी यापनीय संघ के मालूम होते हैं। देखिए-

1. इस ग्रंथ की प्रशस्ति में लिखा है कि आर्य जिननन्दि गणि, आर्य सर्वगुप्त गणि और आर्य मित्रनन्दि गणि के चरणों में अच्छी तरह सूत्र और उनका अर्थ समझकर और पूर्वाचार्यों की रचना को उपजीव्य बनाकर 'पाणितलभोजी' शिवार्य ने यह आराधना रची।[9] हम लोगों के लिए प्रायः ये सभी नाम अपरिचित हैं।[10] अपराजित की परंपरा के समान यह परंपरा भी दिगम्बर सम्प्रदाय की किसी पट्टावली या गुर्वावली में नहीं मिलती। इस धारणा के सही होने का भी कोई पुष्ट और निर्भ्रान्त प्रमाण अभी तक नहीं मिला कि वे शिवकोटि और शिवार्य एक ही हैं, जो समन्तभद्र के शिष्य थे। जो कुछ प्रमाण इस संबंध में दिये जाते हैं, वे बहुत पीछे के गढ़े हुए मालूम होते हैं।[11] और तो और, स्वयं शिवार्य ही यह स्वीकार नहीं करते कि मैं समन्तभद्र का शिष्य हूँ।

2. अपराजितसूरि यदि यापनीय संघ के थे, तो अधिक संभव यही है कि उन्होंने अपने ही सम्प्रदाय के ग्रंथ की टीका की है।

3. आराधना की गाथाएँ काफी तादाद में श्वेताम्बर सूत्रों में मिलती हैं,[12] इससे शिवार्य के इस कथन की पुष्टि होती है कि पूर्वाचार्यों के रचे ग्रन्थों के आधार पर ही यह ग्रंथ रचित है।

4. जिन तीन गुरुओं के चरणों में बैठकर उन्होंने आराधना नामक इस ग्रंथ को रचा है, उनमें से 'सर्वगुप्त गणि' शायद वही हैं, जिनके विषय में शाकटायन की अमोघवृत्ति में लिखा है कि "उपसर्वगुप्तं व्याख्यातारः।"- 1-3-104, अर्थात् सारे व्याख्याता या टीकाकार सर्वगुप्त के पीछे हैं। चूँकि शाकटायन यापनीय संघ के थे, इसलिये संभव यही है कि सर्वगुप्त यापनीय संघ के ही सूत्रों या आगमों के व्याख्याता हों।

5. शिवार्य ने अपने को 'पाणितलभोजी' अर्थात् हथेलियों पर भोजन करने वाला कहा। यह विशेषण उन्होंने अपने को श्वेताम्बर सम्प्रदाय से अलग प्रकट करने के लिए दिया है। यापनीय मुनि हाथ पर भी भोजन करते थे। वे करतलयोजी कहे जाते थे।

6. आराधना की 1132वीं गाथा में 'मेदस्स मुण्णिस्स अक्खाणं' (मेतार्यमुनेराख्यानम्) अर्थात् मेतार्य मुनि की कथा का उल्लेख किया गया है। पं. सदासुखजी ने अपनी वचनिका में इस पद का अर्थ ही नहीं किया है। यही हाल नई

हिन्दी टीका के कर्त्ता पं. जिनदास शास्त्री का है। संस्कृत टीकाकार पं. आशाधर ने तो इस गाथा की विशेष टीका इसलिए नहीं की कि वह सुगम है, परंतु अमितगति ने इसका संस्कृतानुवाद करना क्यों छोड़ दिया ? वे मेतार्य के आख्यान से परिचित नहीं थे, शायद इसी कारण।

मेतार्यमुनि की कथा श्वेताम्बर सम्प्रदाय में बहुत प्रसिद्ध है[13] । वे एक चाण्डालिनी के लड़के थे, परंतु किसी सेठ के घर पले थे। अत्यंत दयाशील थे। एक दिन वे एक सुनार के यहाँ भिक्षा के लिये गये। उसने अपनी दुकान में उसी समय सोने के जौ बनाकर रक्खे थे। वह भिक्षा लाने के लिए भीतर गया और मुनि वहीं दुकान में खड़े रहे, जहाँ जौ रक्खे थे। इतने में एक कौंच (सारस) पक्षी ने आकार वे जौ चुग लिये। सुनार को संदेह हुआ कि मुनि ने ही जौ चुरा लिये हैं। मुनि ने पक्षी को चुगते तो देख लिया, परन्तु इस भय से नहीं कहा कि यदि सच बात मालूम हो जायेगी, तो सुनार सारस को मार डालेगा और उसके पेट में से अपने जौ निकाल लेगा, पर इससे सुनार को संदेह हो गया कि यह काम मुनि का ही है, इसने ही जौ चुराये हैं। तब उसने उन्हें बहुत कष्ट दिया और अंत में भीगे चमड़े में कस दिया। इससे उनका शरीरान्त हो गया और उन्होंने केवल ज्ञान प्राप्त किया। हरिषेणकृत कथाकोश में मेतार्य मुनि की कथा है, परंतु उसमें श्वेताम्बर कथा से बहुत भिन्नता है।

गाथा 6 की विजयोदया टीका में लिखा है- ''संस्कारिताभ्यन्तरतपसा इति वा असम्बद्धं । अन्तरेणापि बाह्यतपोऽनुष्ठानं अन्तर्मुहूर्त्तमात्रे णाधिगतरत्नत्रयाणां भद्दणराजप्रभृतीनां पुरुदेवस्य भगवतः शिष्याणां निर्वाणगमनमागमे प्रतीतमेव।'' यह भद्दणराज आदि की अन्तर्मुहूर्त में निर्वाण-प्राप्ति की कथा भी दिगम्बर साहित्य में अज्ञात है। इसी तरह, गाथा 17 की टीका में भी- भद्दणादयो राजपुत्रास्तस्मिन्नेव भवे त्रसतामापन्नाः अतएवानादिमिथ्यादृष्टयः प्रथम जिनपादमूले श्रुतधर्मसाराः समारोपितरत्नत्रयाः।

7. दस स्थितिकल्पों की नामवाली गाथा, जिसकी टीका पर अपराजित को यापनीय सिद्ध किया गया है, जीतकल्प-भाष्य की 1972 नं. की गाथा है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय की अन्य टीकाओं और निर्युक्तियों में भी यह मिलती है और प्रभाचन्द्र ने अपने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड के स्त्री-मुक्ति-विचार (नया एडीशन, पृ. 131) प्रकरण में इसका उल्लेख श्वेताम्बर सिद्धांत के रूप में ही किया है-

''नाचालेक्यं नेष्यते (आप ईष्यतेव) 'आचेलक्कुद्देसिय-सेज्जाहर रायपिंडकियिकम्मे' इत्यादेः पुरुषं प्रति दशविधस्य स्थितिकल्पस्य मध्ये तदुपदेशात्।''

आराधना की 662 और 663 नंबर की गाथाएं[14] भी दिगम्बर सम्प्रदाय के साथ मेल नहीं खाती हैं। उनका अभिप्राय यह है कि लब्धियुक्त और मायाचाररहित चार मुनि ग्लानिरहित होकर क्षपक के योग्य निर्दोष भोजन और पानक (पेय) लाएं। इस पर पं. सदासुखजी ने आपत्ति की है और लिखा है कि 'यह भोजन लाने की बात प्रमाण रूप नाहीं।' इसी तरह 'सेज्जागासणिसेज्जा'[15] आदि गाथा पर (जो मूलाचार में भी 391 नं. पर है) कविवर वृंदावनदासजी को शंका हुई थी और उसका समाधान करने के लिए दीवान अमरचन्दजी को पत्र लिखा था। दीवानजी ने उत्तर दिया कि 'इसमें वैयावृत्ति करने वाला मुनि आहार आदि से मुनि का उपकार करे, परंतु यह स्पष्ट नहीं किया है कि आहार स्वयं हाथ से बनाकर दे। मुनि की ऐसी चर्या आचारांग में नहीं बतलाई[16]।'

8. गाथा 1123 नं. की 'देसामिसिय सुत्तं' में 'तालपलंबसुतम्मि' पद में जिस सूत्र का उल्लेख किया है, वह कल्पसूत्र (बृहत्कल्प) का है, जिसका प्रारंभ है 'तालपलंबं ण कप्पदि'। आराधना की विजयोदया टीका में, 'तथा चोक्तं' कहकर कल्प की दो गाथाएं और दी हैं और वे ही आशाधर ने 'कल्पे' कहकर उद्धृत की हैं।

9. गाथा 79-83 में मुनि के उत्सर्ग और अपवाद मार्ग का विधान है, जिसके अनुसार मुनि वस्त्र धारण कर सकता है- ''वसनसहितलिंगधारिणो हि वस्त्रखंडादिकं शोधनीयं महत्। इतरस्य पिच्छादिमात्रं।''

10. गाथा 79-80-81 में शिवार्य ने भक्त प्रत्याख्यान के प्रसंग में कहा है कि उत्सर्गलिंग वाले (वस्त्रहीन) को तो, जो कि भक्त प्रत्याख्यान करना चाहता है, उत्सर्गलिंग ही चाहिए, परंतु जो अपवादलिंगी (सवस्त्र) है, उसे भी उत्सर्गलिंग ही प्रशस्त कहा है, अर्थात् उसे भी नग्न हो जाना चाहिए और जिसके लिंगसंबंधी तीन दोष दुर्निवार हों, उसे वसति में संस्तरारूढ़ होने पर उत्सर्गलिंग धारण करना चाहिए। बृहत्कल्पसूत्र, आवश्यकनिर्युक्ति भगवती आराधना की अनेक गाथाएं एक सी हैं। साधु के मृतक शरीर के संस्कार की गाथाएँ खास तौर से उल्लेखनीय हैं।

11. आराधना का चालीसगाँव 'विजहना' नाम का अधिकार भी विलक्षण और अभूतपूर्व है, जिसमें मुनि के मृत शरीर को रात्रिभर जागरण करके रखने की और दूसरे

दिन किसी अच्छे स्थान में वैसे ही (बिना जलाये) छोड़ आने की विधि वर्णित है।[17] यह पारसी लोगों जैसी विधि अन्य किसी दिगम्बर ग्रंथ में अभी तक देखने में नहीं आई।

12. नम्बर 1544 की गाथा में कहा है कि घोर अवमोदर्य या अल्प भोजन के कष्ट से बिना संक्लेश बुद्धि के भद्रबाहु मुनि उत्तम स्थान को प्राप्त हुए[18], परंतु दिगम्बर सम्प्रदाय की किसी भी कथा में भद्रबाहु का इस ऊनोदर-कष्ट से समाधिमरण का उल्लेख नहीं है।

13 नम्बर 428 की गाथा[19] में आधारवत्व गुण के धारक आचार्य को 'कप्पवबहारधारी' विशेषण दिया है और कल्प-व्यवहार, निशीथसूत्र, श्वेताम्बर सम्प्रदाय में प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। इसी तरह 407 नम्बर की गाथा[20] में निर्यापक गुरु की खोज के लिए परसंघ में जाने वाले मुनि की 'आयार-जीद-कप्पगुणदीवणा' होती है।[21] विजयोदया टीका में इस पद का अर्थ किया है, 'आचारस्य जीतसंज्ञितस्य कल्पस्य गुणप्रकाशन।' आशाधर की टीका में लिखा है, 'आचारस्य जीदस्य कल्पस्य च गुणप्रकाशना। एतानि हि शास्त्राणि रत्नत्रयतामेव दर्शयन्ति।' पं. जिनदास शास्त्री ने हिन्दी अर्थ में लिखा है कि आचारशास्त्र, जीतशास्त्र और कल्पशास्त्र इनके गुणों का प्रकाशन होता है।' अर्थात्, तीनों के मत से इन नामों के शास्त्र हैं और यह कहने की जरूरत नहीं कि आचारांग और जीतकल्प श्वेताम्बर सम्प्रदाय में हैं।

तीसरी गाथा की विजयोदया टीका- 'अनुयोगद्वारादीनां बहूनामुपन्यासमकृत्वा दिङ्मात्रोपन्यासः' आदि में अनुयोगद्वारसूत्र का उल्लेख किया है।

भगवती आराधना में (गाथा 116, पृ. 277) 'पंचवदाणि जदीणं' आदि आवश्यक सूत्र की गाथा उद्धृत की है।

499वीं गाथा की विजयोदया में 'अंगबाह्येवा बहुविधविभत्ते सामायिकं चतुर्विंशतीस्तवो, वंदना, प्रतिक्रमणं, वैनयिकं, कृतिकर्म, दशवैकालिकं, उत्तराध्ययनं, कल्पव्यव्यवहारः कल्पं महाकल्पं, पुण्डरीकं महापुण्डरीक इत्यादिनां विचित्रभेदेन विभक्तो।'' 1123 वीं गाथा की टीका- ''तथा चोक्तं कल्पे-हरित तणो सहिगुच्छा'' आदि।

इन सब बातों से सिद्ध है कि शिवार्य भी यापनीय संघ के हैं। इस तरह की और भी अनेक बातें मूल ग्रंथ में हैं जो दिगम्बर सम्प्रदाय के साथ मेल नहीं खाती।

भगवती आराधना के यापनीय परंपरा का ग्रंथ होने के संबंध में दिगम्बर परंपरा के मूर्धन्य विद्वान् पं. नाथूरामजी प्रेमी के उपर्युक्त आधारों के अतिरिक्त एक अन्य महत्वपूर्ण आधार यह भी है कि उसमें श्वेताम्बर परंपरा में मान्य प्रकीर्णकों से अनेक गाथाएँ हैं। पं. कैलाशचन्द्रजी ने भगवती आराधना कीअपनी भूमिका में इसका उल्लेख किया है। जिन प्रकीर्णकों की गाथाएँ भगवती आराधना में मिलती हैं, उनमें आउरपच्चक्खाण, भत्तपरिण्ण य संथारग, मरण समाही प्रमुख हैं। यद्यपि पंडितजी गाथाओं की इस समानता को तो सूचित करते हैं, फिर भी वे स्पष्ट रूप से यह नहीं कहते हैं कि इन ग्रंथों से ये गाथाएँ ली गई हैं। वस्तुतः, इन गाथाओं के आदान-प्रदान के संबंध में तीन विकल्प हो सकते हैं। या तो ये गाथाएँ भगवती आराधना से इन ग्रंथों में गई हों, या फिर भगवती आराधनाकार ने इन ग्रंथों से ये गाथाएँ ली हों, अथवा ये गाथाएँ दोनों की एक ही पूर्व परंपरा से चली आ रही हों, जिन्हें दोनों ने लिया हो। इसमें प्रथम विकल्प है कि भगवती आराधना से इन ग्रंथकारों ने ये गाथाएँ ली हों, यह इसलिये भी असंभव नहीं है कि ये ग्रंथ भगवती आराधना की अपेक्षा प्राचीन हैं। नन्दी, मूलाचार आदि में इनमें से कुछ ग्रंथों के उल्लेख मिलते हैं। पुनः, इन ग्रंथों में गुणस्थान जैसे विकसित सिद्धांत का भी निर्देश नहीं है। जबकि जगवती आराधना में वह सिद्धांत उपस्थित है। तीसरे, यह स्पष्ट है कि ये ग्रंथ आकार में लघु हैं, जबकि आराधना एक विशालकाय ग्रंथ है। यह सुनिश्चित है कि प्राचीन स्तर के ग्रंथ प्रायः आकार में लघु होते हैं, क्योंकि उन्हें मौखिक रूप से याद रखना होता था, अतः वे आराधना की अपेक्षा पूर्ववर्ती हैं।

भगवती आराधना में विजहना (मृतक के शरीर को जंगल में रख देने) की जो चर्चा है, वह प्रकीर्णकों में तो नहीं है,किन्तु भाष्य और चूर्णि में है, अतः प्रस्तुत आराधना भाष्य चूर्णियों के काल की रचना रही होगी। अतः, यह प्रश्न तो उठता ही नहीं है कि ये गाथाएँ आराधना से इन प्रकीर्णकों में गई हैं।

यदि हम यह स्वीकार न भी करें कि ये गाथाएँ श्वेताम्बर साहित्य से आराधना में ली गई हैं, तो यह तो मानना ही होगा कि दोनों की कोई सामान्य पूर्व परंपरा थी, जहाँ से दोनों ने ये गाथाएँ ली हैं और सामान्य पूर्व परंपरा श्वेताम्बर और यापनीय (बोटिक) की थी, क्योंकि दोनों आगम, प्रकीर्णक और निर्युक्ति साहित्य के समान रूप से उत्तराधिकारी रहे हैं। अतः, भगवती आराधना में आउरपच्चक्खाण, भत्तपरिण्ण, संथारग, मरणसमाहि एवं निर्युक्त आदि की अनेकों गाथाओं की उपस्थिति यही सिद्ध

करती है कि वह यापनीय परंपरा का ग्रंथ है। यह बात तो अनेक दिगम्बर विद्वान् भी मान रहे हैं कि मूलाचार और आराधना में अनेकों गाथाएँ समान हैं और मूलाचार में गाथाएँ आउरपच्चक्खाण, महापच्चक्खाण, निर्युक्ति आदि श्वेताम्बर परंपरा में मान्य ग्रंथों से ही उद्धृत हैं।

संदर्भ :

1. अज्जजिणणंदिगणि-सव्वगुत्त गणि-अज्जमित्तणंदीणं।
   अवगमिय पादमूले सम्मं सुत्तं च अत्थं च॥
   पुव्वायरियणिबद्धा उवजीवित्ता इमा ससत्तीए।
   आराधणा सिवज्जेण पाणिदलभोइणा रइदा॥
   छदुमत्थदाए एत्थ दुजं बद्धं होज्ज पवयणविरुद्धं।
   सोधेंतु सुगीदत्था पवयण वच्छलदाए दु॥
   आराधणा भगवती एवं भत्तीए वण्णिदा संती।
   संघस्स सिवज्जस्स य समाधिवरमुत्तमं देउ॥
   - भगवती आराधना-2159, 2160, 2161, 2162.
2. देखें - जैनशिलालेख संग्रह भाग 2, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रंथमाला समिति, लेख क्रमांक- 16, 22,24,26,29,30,31,33,36, 41, 45, 51,54,55,56,59.
3. देखें - वही, लेख क्रमांक 91.
4. जर्नल ऑफ ओरियन्टल इस्टिट्यूट बड़ौदा, जिल्द 18, सन् 1969, पृ. 247-51, श्री इन्स्क्रिप्शन्स ऑफ रामगुप्त - जी.एस. घइ,
5. आदिपुराण (जिनसेन) - 1/49.
6. देखें - जैन साहित्य और इतिहास, पृ. 76.
7. जैन साहित्य और इतिहास, पृ. 76-77.
8. वही, पृ. 30.
9. अज्जजिणणंदिगणिअज्जमित्त णंदीणं।
   अवगमियपायमूले सम्मं सुत्तं च अत्थं च॥ 2161॥
   पुव्वायरियणिवद्धा उपजीवित्ता इमा ससत्तीए।
   आराहणा सिवज्जेण पाणिदलभोइणा रइदा॥ 2162॥

10. मापनीय संघ के मुनियों में कीर्त्तिनामान्त अधिकता से है, जैसे- पाल्यकीर्त्ति, रविकीर्त्ति, विजयकीर्त्ति, धर्मकीर्त्ति आदि। नन्दि, गुप्त, चन्द्र, नामान्त भी काफी हैं,
जैसे- जिननन्दि, मित्रनन्दि, सर्वगुप्त, नागचन्द्र, नेमिचन्द्र.
11. देखो आगे के पृष्ठों में 'आराधना' और उसकी टीकाएं'.
12. अनन्तकीर्त्ति-ग्रंथमाला में प्रकाशित 'भगवती आराधना वचनिका' के अंत में उन गाथाओं की एक सूची दी है, जो मूलाचार और आराधना में एक-सी हैं और पं. सुखलालजी द्वारा सम्पादित 'पंच प्रतिक्रमण सूत्र' में मूलाचार की सूची दी है, जो भद्रबाहुकृत 'आवश्यकनिर्युक्ति' में भी है।
13. देखो - आवश्यक निर्युक्ति, गाथा 867-70.
14. चत्तारिजणा भत्तं उवकप्पंति अगिलाए पाओग्गं।
छडियमवगददोसं अमाइणो लद्धिसंपण्णा॥662॥
चत्तारिजणा पाणयमुवकप्पंति अगिलाए पाओग्गं।
छंडियमवगददोसं अमाइणो लद्धिसंपण्णा॥663॥
15. सेज्जगासणिसेज्जा उवहीपडिलेहणा उवग्गहिदे।
आहारोसयवायणविकिंचणुव्वत्तणादीसु॥305॥
16. देखो, 'आराधना और उसकी टीकायें'.
17. भगवती आराधनावचनिका की भूमिका, पृ. 12-13.
18. ओमोदरिए धोराए भद्दबाहू असंकिलिट्ठमदी।
धोराए तिगिंछाए पडि वण्णो उत्तमं ठाणं॥1544॥
19. चोद्दस-दस-णव-पुव्वी मतामदी सायरोव्व गंभीरो।
कप्पवहारधारी होदि हु आधारवं णाम॥
20. आयारजीदकप्पगुणदीवणा अत्तसोधिनिज्झंझा।
अज्जव-मद्दव-लाघव-तुट्ठी पल्हादणं च गुणा॥
यही गाथा थोड़े से पाठान्तर के साथ 130 वें नम्बर पर भी है। उसमें 'तुट्ठी पल्हादणं च गुणा' की जगह 'भत्ती पल्हादकरणं च' पाठ है।

21. 130वीं गाथा (पृ. 304) में भी 'आयारजीदकप्पगुणदीवणा' पद है। इसका अर्थ विजयोदया में किया है- 'प्रथममंगमाचारशब्देनोच्यते। आचारशास्त्रनिर्दिष्टक्रमः आचारजीदशब्देन उज्यते । कल्प्यते अभिधीयते येन अपराधानुपरो दण्डः संकल्पस्तस्य गुणः उपकारस्तेन निर्वर्त्यत्वात् । अनयोः प्रकाशनं आयारजीदकप्पगुणदीवणा।'' 59वीं गाथा (पृ. 797) में णवमम्मिय जं पुव्वे भणिदे कप्पे तहेव ववहारो। अंगेसु सेसएसु च पइण्णए चावि तं दिण्णं। 622वीं गाथा (पृ. 824) में 'छेदसुदजाणगगणी से छेदसूत्रज्ञः।'

22. भगवती आराधना, पं. कैलाशचंदजी, भूमिका, पृ 9.

8 - समदर्शी आचार्य हरिभद्र
(ईस्वी सन् की 8वीं शती)

आचार्य हरिभद्र जैनधर्म के प्रखर प्रतिभासम्पन्न एवं बहुश्रुत आचार्य मानेजातेहैं। उन्होंनेअपनी लेखनी के द्वारा विपुल एवं बहुआयामी साहित्य का सृजन किया है। उन्होंनेदर्शन, धर्म, योग, आचार, उपदेश, व्यंग्य और चरित-काव्य आदि विविध विधाओं के ग्रंथों की रचना की है। मौलिक साहित्य के साथ-साथ उनका टीका साहित्य भी विपुल है। जैन धर्म में योग सम्बंधी साहित्य के तोवेआदि प्रणेता हैं। इसी प्रकार आगमिक ग्रंथों की संस्कृत भाषा में टीका करनेवालेजैन-परम्परा में वेप्रथम टीकाकार भी हैं। उनके पूर्व तक आगमों पर जोनिर्युक्ति और भाष्य लिखेगए थेवेमूलतः प्राकृत भाषा में ही थे। भाष्यों पर आगमिक व्यवस्था के रूप में जोचूर्णियां लिखी गई थीं वेभी संस्कृत-प्राकृत मिश्रित भाषा में लिखी गईं। विशुद्ध संस्कृत भाषा में आगमिक ग्रंथों की टीका लेखन का सूत्रपात तोहरिभद्र नेही किया। भाषा की दृष्टि सेउनके ग्रंथ संस्कृत और प्राकृत दोनों ही भाषाओं में मिलतेहैं। अनुश्रुति तोयह है कि उन्होंने1444 ग्रंथों की रचना की थी, किंतु वर्त्तमान में हमें उनके नाम चढ़े हुए लगभग 75 ग्रंथ उपलब्ध होतेहैं। यद्यपि विद्वानों की यह मान्यता है कि इनमें सेकुछ ग्रंथ वस्तुतः याकिनीसूनु हरिभद्र की कृति न होकर किन्हीं दूसरेहरिभद्र नामक आचार्यों की कृतियां हैं। पंडित सुखलालजी नेइनमें सेलगभग 45 ग्रंथों कोतोनिर्विवाद रूप सेउनकी कृति स्वीकार किया है, क्योंकि इनमें 'भव-विरह' ऐसेउपनाम का प्रयोग उपलब्ध है। इनमें भी यदि हम अष्टक-प्रकरण के प्रत्येक अष्टक को, षोडशकप्रकरण के प्रत्येक षोडशक को, विंशिकाओं में प्रत्येक विंशिका कोतथा पंचाशक में प्रत्येक पंचाशक कोस्वतंत्र ग्रंथ मान लें तोयह संख्या लगभग 200 के समीप पहुंच जाती है। इससेयह सिद्ध होता है कि आचार्य हरिभद्र एक प्रखर प्रतिभा के धनी आचार्य थेऔर साहित्य की प्रत्येक विधा कोउन्होंनेअपनी रचनाओं सेसमृद्ध किया था।

प्रतिभाशाली और विद्वान होना वस्तुतः तभी सार्थक होता है जब व्यक्ति में सत्यनिष्ठा और सहिष्णुता हो। आचार्य हरिभद्र उस युग के विचारक हैं जब भारतीय चिंतन में और विशेषकर दर्शन के क्षेत्र में वाक् - छल और खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति बलवती बन गई थी। प्रत्येक दार्शनिक स्वपक्ष के मण्डन एवं परपक्ष के खण्डन में ही अपना बुद्धिकौशल मान रहा था। मात्र यही नहीं, दर्शन के साथ-साथ धर्म के क्षेत्र में भी

पारस्परिक विद्वेष और घृणा अपनी चरम सीमा पर पहुंच चुकी थी। स्वयं आचार्य हरिभद्र कोभी इस विद्वेष भावना के कारण अपनेदोशिष्यों की बलि देनी पड़ी थी। हरिभद्र की महानता और धर्म एवं दर्शन के क्षेत्र में उनके अवदान का सम्यक् मूल्यांकन तोउनके युग की इन विषम परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में ही किया जा सकता है। आचार्य हरिभद्र की महानता तोइसी में निहित है कि उन्होंनेशुष्क वाग्जाल तथा घृणा एवं विद्वेष की उन विषम परिस्थितियों में भी समभाव, सत्यनिष्ठा, उदारता, समन्वयशीलता और सहिष्णुता का परिचय दिया। यहां यह अवश्य कहा जा सकता है कि समन्वयशीलता और उदारता के गुण उन्हें जैन दर्शन की अनेकान्त दृष्टि के रूप में वरासत में मिलेथे, फिर भी उन्होंनेअपनेजीवन-व्यवहार और साहित्य-सृजन में इन गुणों कोजिस शालीनता के साथ आत्मसात् किया था वैसेउदाहरण स्वयं जैन- परम्परा में भी विरल ही हैं।

आचार्य हरिभद्र का अवदान धर्म-दर्शन, साहित्य और समाज के क्षेत्र में कितना महत्त्वपूर्ण है इसकी चर्चा के पूर्व यह आवश्यक है कि उनके जीवनवृत्त और युगीन परिवेश के सम्बंध में कुछ विस्तार सेचर्चा कर लें।

जीवनवृत्त

यद्यपि आचार्य हरिभद्र नेउदार दृष्टि सेविपुल साहित्य का सृजन किया, किंतु अपनेसम्बंध में जानकारी देनेके सम्बंध में वेअनुदार या संकोची ही रहे। प्राचीन काल के अन्य आचार्यों के समान ही उन्होंनेभी अपनेसम्बंध में स्वयं कहीं कुछ नहीं लिखा। उन्होंनेग्रंथ-प्रशस्तियों में जोकुछ संकेत दिए हैं उनसेमात्र इतना ही ज्ञात होता है कि वेजैन धर्म की श्वेताम्बर शाखा के 'विद्याधर कुल' सेसम्बंधित थे। इन्हें महत्तरा याकिनी नामक साध्वी की प्रेरणा सेजैनधर्म का बोध प्राप्त हुआ था, अतः उन्होंनेअपनी अनेक रचनाओं में अपनेआपको'याकिनीसूनु के रूप में प्रस्तुत किया है, साथ ही अपनेग्रंथों में अपनेउपमान 'भवविरह' का संकेत किया है। कुवलयमाला में उद्योतनसूरि नेभी इनका इसी उपनाम के साथ स्मरण किया है। जिन ग्रंथों में इन्होंनेअपनेइस 'भवविरह' उपनाम का संकेत किया है वेग्रंथ निम्न हैं-

अष्टक, षोडशक, पंचाशक, धर्मबिन्दु, ललितविस्तरा, शास्त्रवार्तासमुच्चय, पंचवस्तुटीका, अनेकांतजयपताका, योगबिंदु, संसारदावानलस्तुति, उपदेशपद, धर्मसंग्रहणी और सम्बोध-प्रकरण। हरिभद्र के

सम्बंध में उनके इन ग्रंथों सेइससेअधिक या विशेष सूचना उपलब्ध नहीं होती।

आचार्य हरिभद्र के जीवन के विषय में उल्लेख करनेवाला सबसेप्राचीन ग्रंथ भद्रेश्वर की कहावली है। इस ग्रंथ में उनके जन्म-स्थान का नाम बंभपुनी उल्लिखित है, किंतु अन्य ग्रंथों में उनका जन्मस्थान चित्तौड़ (चित्रकूट) माना गया है। सम्भावना है कि ब्रह्मपुरी चित्तौड़ का कोई उपनगर या कस्बा रहा होगा। कहावली के अनुसार इनके पिता का नाम शंकर भट्ट और माता का नाम गंगा था। पं. सुखलाल जी का कथन है कि पिता के नाम के साथ भट्ट शब्द सूचित करता है कि वेजाति सेब्राह्मण थे। ब्रह्मपुरी में उनका निवास भी उनके ब्राह्मण होनेके अनुमान की पुष्टि करता है। गणधरसार्धशतक और अन्य ग्रंथों में उन्हें स्पष्टरूप सेब्राह्मण कहा गया है। धर्म और दर्शन की अन्य परम्पराओं के संदर्भ में उनके ज्ञान गाम्भीर्य सेभी इस बात की पुष्टि होती है कि उनका जन्म और शिक्षा-दीक्षा ब्राह्मण कुल में ही हुई होगी।

कहा जाता है कि उन्हें अपनेपाण्डित्य पर गर्व था और अपनी विद्वत्ता के इस अभिमान में आकर ही उन्होंनेयह प्रतिज्ञा कर ली थी कि जिसका कहा हुआ समझ नहीं पाऊंगा उसी का शिष्य होजाऊंगा। जैन अनुश्रुतियों में यह माना जाता है कि एक बार वेजब रात्रि में अपनेघर लौट रहेथेतब उन्होंनेएक वृद्धा साध्वी के मुख सेप्राकृत की निम्न गाथा सुनी जिसका अर्थ वेनहीं समझ सके।

चक्कीदुगं हरिपणगं पणगं चक्की केसवोचक्की।
केसव चक्की केसव दु चक्की केसी अ चक्की अ।।

- आवश्यकनिर्युक्ति, 421

अपनी जिज्ञासुवृत्ति के कारण वेउस गाथा का अर्थ जाननेके लिए साध्वीजी के पास गए। साध्वीजी नेउन्हें अपनेगुरु आचार्य जिनदत्तसूरि के पास भेज दिया। आचार्य जिनदत्तसूरि नेउन्हें धर्म के दोभेद बताए- (1) सकामधर्म और (2) निष्कामधर्म। साथ ही यह भी बताया कि निष्काम या निस्पृह धर्म का पालन करनेवाला ही 'भवविरह' अर्थात् मोक्ष कोप्राप्त करता है। ऐसा लगता है कि प्राकृत भाषा और उसकी विपुल साहित्य-सम्पदा नेआचार्य हरिभद्र कोजैन धर्म के प्रति आकर्षित किया होऔर आचार्य द्वारा यह बताए जानेपर कि जैन साहित्य के तलस्पर्शी अध्ययन के लिए जैन मुनि की दीक्षा अपेक्षित है, अतः वेउसमें दीक्षित होगए। वस्तुतः एक राजपुरोहित के घर में जन्म लेनेके कारण वेसंस्कृत व्याकरण, साहित्य, वेद, उपनिषद्,

धर्मशास्त्र, दर्शन और ज्योतिष के ज्ञाता तोथेही, जैन परम्परा सेजुड़नेपर उन्होंनेजैन साहित्य का भी गम्भीर अध्ययन किया। मात्र यही नहीं, उन्होंनेअपनेइस अध्ययन कोपूर्व अध्ययन सेपरिपुष्ट और समन्वित भी किया। उनके ग्रंथ योगसमुच्चय, योगदृष्टि, शास्त्रवार्तासमुच्चय आदि इस बात का स्पष्ट प्रमाण हैं कि उन्होंनेअपनी पारिवारिक परम्परा सेप्राप्त ज्ञान और जैन परम्परा में दीक्षित होकर अर्जित किए ज्ञान कोएक दूसरेका पूरक बनाकर ही इन ग्रंथों की रचना की है। हरिभद्र कोजैनधर्म की ओर आकर्षित करनेवाली जैन साध्वी महत्तरा याकिनी थी, अतः अपना धर्म-ऋण चुकानेके लिए उन्होंनेअपनेकोमहत्तरा याकिनीसूनु अर्थात् याकिनी का धर्मपुत्र घोषित किया। उन्होंनेअपनी रचनाओं में अनेकशः अपनेसाथ इस विशेषण का उल्लेख किया।1 हरिभद्र के उपनाम के रूप में दूसरा विशेषण 'भवविरह' है।2 उन्होंनेअपनी अनेक रचनाओं में इस उपनाम का निर्देश किया है। विवेच्य ग्रंथ पंचाशक के अंत में हमें 'भवविरह' शब्द मिलता है। अपनेनाम के साथ यह भवविरह विशेषण लगानेका क्या कारण रहा होगा, यह कहना तोकठिन है, फिर भी इस विशेषण का सम्बंध उनके जीवन की तीन घटनाओं सेजोड़ा जाता है। सर्वप्रथम आचार्य जिनदत्त नेउन्हें भवविरह अर्थात् मोक्ष प्राप्त करनेकी प्रेरणा दी, अतः सम्भव है उनकी स्मृति में वेअपनेकोभवविरह का इच्छुक कहते हों। यह भी सम्भव है कि अपनेप्रिय शिष्यों के विरह की स्मृति में उन्होंनेयह उपनाम धारण किया हो। पं. सुखलालजी नेइस सम्बंध में निम्न तीन घटनाओं का संकेत किया है-

(1) धर्मस्वीकार का प्रसंग, (2) शिष्यों के वियोग का प्रसंग, (3) याचकों कोदिए जानेवालेआशीर्वाद का प्रसंग तथा उनके द्वारा भवविरहसूरि चिरंजीवी होकहेजानेका प्रसंग।2 इस तीसरेप्रसंग का निर्देश कहावली में है।

हरिभद्र का समय

हरिभद्र के समय के सम्बंध में अनेक अवधारणाएं प्रचलित हैं। अंचलगच्छीय आचार्य मेरुतुंग ने 'विचार श्रेणी' में हरिभद्र के स्वर्गवास के संदर्भ में निम्न प्राचीन गाथा कोउद्धत किया है-

पंचसए पणसीए विक्कम कालाउ झत्ति अत्थिमओ।
हरिभद्रसूरि भवियाणं दिसउ कल्लाणं।।

उक्त गाथा के अनुसार हरिभद्र का स्वर्गवास वि. सं. 585 में हुआ। इसी

गाथा के आधार पर प्रद्युम्नसूरि नेअपने'विचारसारप्रकरण' एवं समयसुंदरगणि नेस्वसंगृहीत 'गाथासहस्री' में हरिभद्र का स्वर्गवास वि.सं. 585 में माना है। इसी आधार पर मुनि श्रीकल्याणविजयजी ने'धर्म-संग्रहणी' की अपनी संस्कृत प्रस्तावना में हरिभद्र का सत्ता-समय वि.सं. की छठी शताब्दी स्थापित किया है।

कुलमण्डनसूरि ने'विचारअमृतसंग्रह' में और धर्मसागर उपाध्याय नेतपागच्छगुर्वावली में वीर-निर्वाण-संवत् 1055 में हरिभद्र का समय निरूपित किया है-

पणपन्नदससएहिं हरिसूरि आसि तत्थ पुव्वकई।

परम्परागत धारणा के अनुसार वी.नि. के 470 वर्ष पश्चात् वि.सं. का प्रारम्भ माननेसे(470+585 = 1055) यह तिथि पूर्वोक्त गाथा के अनुरूप ही वि. सं. 585 में हरिभद्र का स्वर्गवास निरूपित करती है।

आचार्य हरिभद्र का स्वर्गवास वि.सं. की छठी शताब्दी के उत्तरार्ध में हुआ, इसका समर्थन निम्न दोप्रमाण करतेहैं-

(1) तपागच्छ गुर्वावली में मुनिसुंदरसूरि नेहरिभद्रसूरि कोमानदेवसूरि द्वितीय का मित्र बताया है, जिनका समय विक्रम की छठी शताब्दी माना जाता है। अतः यह उल्लेख पूर्व गाथोक्त समय सेअपनी संगति रखता है।

(2) इस गाथोक्त समय के पक्ष में दूसरा सबसेमहत्त्वपूर्ण साक्ष्य हरिभद्र का *'धूर्ताख्यान'* है, जिसकी चर्चा मुनि जिनविजयजी ने*'हरिभद्रसूरि का समय निर्णय'* (पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, 1988) में नहीं की थी। सम्भवतः उन्हें निशीथचूर्णि में धूर्ताख्यान का उल्लेख सम्बंधी यह तथ्य ज्ञात नहीं था। यह तथ्य मुझे'धूर्ताख्यान' में मूल-स्रोत की खोज करतेसमय उपलब्ध हुआ है। धूर्ताख्यान के समीक्षात्मक अध्ययन में प्रोफेसर ए.एन. उपाध्येनेहरिभद्र के प्राकृत धूर्ताख्यान का संघतिलक के संस्कृत धूर्ताख्यान पर और अज्ञातकृत मरुगुर्जर में निबद्ध धूर्ताख्यान पर प्रभाव की चर्चा की है। इस प्रकार उन्होंनेधूर्ताख्यान कोहरिभद्र की मौलिक रचना माना है। यदि धूर्ताख्यान की कथा का निबंधन हरिभद्र नेस्वयं अपनी स्वप्रसूत कल्पना सेकिया है तोवेनिश्चित ही निशीथभाष्य और निशीथचूर्णि के लेखन-काल सेपूर्ववर्ती हैं, क्योंकि इन दोनों ग्रंथों में यह कथा उपलब्ध है। भाष्य में इस कथा का संदर्भ निम्न रूप में उपलब्ध होता है-

ससएलासाढ-मूलदेव, खण्डा यं जुण्णउज्जाणे।
सामत्थणेकोभत्तं, अक्खात जोण सद्दहति॥
चोरभया गावीओ, पोट्टलए बंधिऊण आणेमि।
तिलअइरूढकुहाडे, वणगय मलणा य तेल्लोदा॥
वणगयपाटण कुंडिय, छम्मास हत्थिलग्गणं पुच्छे।
रायरयग मोवादे, जहि पेच्छइ तेइमेवत्था॥

भाष्य की उपर्युक्त गाथाओं सेयह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भाष्यकार कोसम्पूर्ण कथानक जोकि चूर्णि और हरिभद्र के धूर्ताख्यान में है, पूरी तरह ज्ञात है, वेमृषावाद के उदाहरण के रूप में इसेप्रस्तुत करतेहैं। अतः यह स्पष्ट है कि संदर्भ देनेवाला ग्रंथ उस आख्यान का आद्यस्रोत नहीं होसकता। भाष्यों में जिस प्रकार आगमिक अन्य आख्यान संदर्भ रूप में आए हैं, उसी प्रकार यह आख्यान भी आया है। अतः यह निश्चित है कि यह आख्यान भाष्य सेपूर्ववर्ती है। चूर्णि तोस्वयं भाष्य पर टीका है और उसमें उन्हीं भाष्य गाथाओं की व्याख्या के रूप में लगभग तीन पृष्ठों में यह आख्यान आया है, अतः यह भी निश्चित है कि चूर्णि भी इस आख्यान का मूलस्रोत नहीं है। पुनः चूर्णि के इस आख्यान के अंत में स्पष्ट लिखा है- 'सेसं धुत्तवखाणगाहाणुसारेण' (पृ. 105)। अतः निशीथभाष्य और चूर्णि इस आख्यान के आदि स्रोत नहीं मानेजा सकते। किंतु हमें निशीथभाष्य और निशीथचूर्णि सेपूर्व रचित किसी ऐसेग्रंथ की कोई जानकारी नहीं है, जिसमें यह आख्यान आया हो।

जब तक अन्य किसी आदिस्रोत के सम्बंध में कोई जानकारी नहीं है, तब तक हरिभद्र के धूर्ताख्यान कोलेखक की स्वकल्पनाप्रसूत मौलिक रचना क्यों नहीं माना जाए। किंतु ऐसा माननेपर भाष्यकार और चूर्णिकार, इन दोनों सेही हरिभद्र कोपूर्ववर्ती मानना होगा और इस सम्बंध में विद्वानों की जोअभी तक अवधारणा बनी हुई है वह खण्डित होजाएगी। यद्यपि उपलब्ध सभी पट्टावलियों तथा उनके ग्रंथ लघुक्षेत्रसमास की वृत्ति में हरिभद्र का स्वर्गवास वीर-निर्वाण संवत् 1055 या विक्रम संवत् 585 तथा तदनुरूप ईस्वी सन् 529 में माना जाता है। किंतु पट्टावलियों में उन्हें विशेषावश्यकभाष्य के कर्त्ता जिनभद्र एवं जिनदास का पूर्ववर्ती भी माना गया है। अब हमारेसामनेदोही विकल्प हैं या तोपट्टावलियों के अनुसार हरिभद्र कोजिनभद्र और जिनदास के पूर्व मानकर उनकी कृतियों पर विशेषरूप सेजिनदास महत्तर पर हरिभद्र

का प्रभाव सिद्ध करें या फिर धूर्ताख्यान के मूलस्रोत कोअन्य किसी पूर्ववर्ती रचना या लोक-परम्परा में खोजें। यह तोस्पष्ट है कि धूर्ताख्यान चाहेवह निशीथचूर्णि का होया हरिभद्र का, स्पष्ट ही पौराणिक युग के पूर्व की रचना नहीं है। क्योंकि वेदोनों ही सामान्यतया श्रुति, पुराण, भारत (महाभारत) और रामायण का उल्लेख करतेहैं। हरिभद्र नेतोएक स्थान पर विष्णुपुराण, महाभारत के अरण्यपर्व और अर्थशास्त्र का भी उल्लेख किया है, अतः निश्चित ही यह आख्यान इनकी रचना के बाद ही रचा गया होगा। उपलब्ध आगमों में अनुयोगद्वार महाभारत और रामायण का उल्लेख करता है। अनुयोगद्वार की विषयवस्तु के अवलोकन सेऐसा लगता है कि अपनेअंतिम रूप में वह लगभग पांचवीं शती की रचना है। धूर्ताख्यान में 'भारत' नाम आता है, 'महाभारत' नहीं। अतः इतना निश्चित है कि धूर्ताख्यान के कथानक के आद्यस्रोत की पूर्व सीमा ईसा की चौथी या पांचवीं शती सेआगेनहीं जा सकती। पुनः निशीथभाष्य और निशीथचूर्णी मेंउल्लेख होनेसेधूर्ताख्यान के आद्यस्रोत की अपर-अंतिम सीमा छठी-सातवीं शती के पश्चात् नहीं होसकती। इन ग्रंथों का रचनाकाल ईसा की सातवीं शती का उत्तरार्ध होसकता है। अतः धूर्ताख्यान का आद्यस्रोत ईसा की पांचवीं सेसातवीं शती के बीच का है।

यद्यपि प्रमाणाभाव में निश्चितरूप सेकुछ कहना कठिन है, किंतु एक कल्पना यह भी की जा सकती है कि हरिभद्र की गुरु-परम्परा जिनभद्र और जिनदास की हो, आगेकहीं भ्रांतिवश जिनभद्र का जिनभट और जिनदास का जिनदत्त होगया हो, क्योंकि 'द्द' और 'ट्ट' के लेखन में और 'त्त' और 'स' के लेखन में हस्तप्रतों में बहुत ही कम अंतर रहता है। पुनः हरिभद्र जैसेप्रतिभाशाली शिष्य का गुरु भी प्रतिभाशाली होना चाहिए, जबकि हरिभद्र के पूर्व जिनभट्ट और जिनदत्त के होनेके अन्यत्र कोई संकेत नहीं मिलतेहैं। होसकता है कि धूर्ताख्यान हरिभद्र की युवावस्था की रचना होऔर उसका उपयोग उनके गुरुबंधु सिद्धसेन क्षमाश्रमण (छठी शती) नेअपनेनिशीथभाष्य में तथा उनके गुरु जिनदासगणि महत्तर नेनिशीथचूर्णि में किया हो। धूर्ताख्यान कोदेखनेसेस्पष्ट रूप सेयह लगता है कि यह हरिभद्र के युवाकाल की रचना है, क्योंकि उसमें उनकी जोव्यंग्यात्मक शैली है, वह उनके परवर्ती ग्रंथों में नहीं पाई जाती। हरिभद्र जिनभद्र एवं जिनदास की परम्परा में हुए हो, यह मात्र मेरी कल्पना नहीं है। डॉ. हर्मन जैकोबी और अन्य कुछ विद्वानों नेभी हरिभद्र के गुरु का नाम जिनभद्र माना है। यद्यपि मुनि श्री जिनविजयी नेइसेउनकी भ्रांति ही माना है। वास्तविकता जोभी

हो, किंतु यदि हम धूर्ताख्यान कोहरिभद्र की मौलिक रचना मानतेहैं तोउन्हें जिनभद्र (लगभग शक संवत् 530) और सिद्धसेन क्षमाश्रमण (लगभग शक संवत् 550) तथा उनके शिष्य जिनदासगणि महत्तर (शक संवत् 598 या विं. सं. 733) के पूर्ववर्ती या कम सेकम समकालिक तोमानना ही होगा।

यदि हम हरिभद्र कोसिद्धसेन क्षमाश्रमण एवं जिनदासगणि महत्तर का पूर्ववर्ती मानतेहैं, तब तोउनका समय विक्रम संवत् 585 माना जा सकता है। मुनि जयसुंदर विजयजी शास्त्रवार्तासमुच्चय की भूमिका में उक्त तिथि का समर्थन करतेहुए लिखतेहैं- प्राचीन अनेक ग्रंथकारों नेश्री हरिभद्रसूरि को585 वि. सं. में होना बताया है। इतना ही नहीं, किंतु श्री हरिभद्रसूरि नेस्वयं भी अपनेसमय का उल्लेख संवत् तिथि-वार-मास और नक्षत्र के साथ लघुक्षेत्रसमास की वृत्ति में किया है, जिस वृत्ति के ताडपत्रीय जैसलमेर की प्रति का परिचय मुनि श्री पुण्यविजय सम्पादित 'जैसलमेर कलेक्शन' पृष्ठ 68 में इस प्रकार प्राप्य है : 'क्रमांक 196, जम्बू द्वीपक्षेत्रसमासवृत्ति, पत्र 26, भाषा, प्राकृत-संस्कृत, कर्त्ता : हरिभद्र आचार्य, प्रतिलिपि ले.सं. अनुमानतः 14वीं शताब्दी।'

इस प्रति के अंत में इस प्रकार का उल्लेख मिलता है-

इति क्षेत्रसमासवृत्तिः समाप्ता।

विरचिता श्री हरिभद्राचार्यः ॥ छ॥

लघुक्षेत्रसमासस्य वृत्तिरेषा समासतः।

रचिताबुधबोधार्थं श्री हरिभद्रसूरिभिः ॥ 1 ॥

पंचाशितिकवर्षेविक्रमतोव्रज्रति शुक्लपंचम्याम्।

शुक्रस्य शुक्रवारेशस्येपुष्येच नक्षत्रे॥ 2 ॥

ठीक इसी प्रकार का उल्लेख अहमदाबाद, संवेगी उपाश्रय के हस्तलिखित भण्डार की सम्भवतः पंद्रहवीं शताब्दी में लिखी हुई क्षेत्र-समास की कागज की एक प्रति में उपलब्ध होता है।

दूसरी गाथा में स्पष्ट शब्दों में श्री हरिभद्रसूरि नेलघुक्षेत्रमास वृत्ति का रचनाकाल वि. सं. (5) 85, पुष्यनक्षत्र शुक्र (ज्येष्ठ) मास, शुक्रवार-शुक्लपंचमी बताया है। यद्यपि यहां वि.सं. 85 का उल्लेख है। तथापि जिन वार-तिथि-मास-नक्षत्र का यह उल्लेख है उनसेवि.सं. 585 का ही मेल बैठता है। अहमदाबाद वेधशाला के प्राचीन ज्योतिष विभाग के अध्यक्ष श्री हिम्मतराम जानी नेज्योतिष और गणित के

आधार पर जांच करके यह बताया है कि उपर्युक्त गाथा में जिन वार-तिथि इत्यादि का उल्लेख है, वह वि. सं. 585 के अनुसार बिलकुल ठीक है, ज्योतिषशास्त्र के गणितानुसार प्रामाणिक है।

इस प्रकार श्री हरिभद्रसूरि महाराज नेस्वयं ही अपनेसमय की अत्यंत प्रामाणिक सूचना देरखी है, तब उससेबढ़कर और क्या प्रमाण होसकता है जोउनके इस समय की सिद्धि में बाधा डाल सके? शंका होसकती है कि 'यह गाथा किसी अन्य नेप्रक्षिप्त की होगी' किंतु वह ठीक नहीं, क्योंकि प्रक्षेप करनेवाला केवल संवत् का उल्लेख कर सकता है, किंतु उसके साथ प्रामाणिक वार-तिथि आदि का उल्लेख नहीं कर सकता। हां, यदि धर्मकीर्ति आदि का समय इस समय में बाधा उत्पन्न कर रहा होतोधर्मकीर्ति आदि के समयोल्लेख के आधार पर श्री हरिभद्रसूरि कोविक्रम की छठी शताब्दी सेखींचकर आठवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में लेजानेकी अपेक्षा उचित यह है कि श्री हरिभद्रसूरि के इस अत्यंत प्रामाणिक समय-उल्लेख के बल सेधर्मकीर्ति आदि कोही छठी शताब्दी के पूर्वार्ध या उत्तरार्ध में लेजाया जाए।

किंतु मुनि श्रीजयसुंदरविजयजी की उपर्युक्त सूचना के अनुसार जम्बूद्वीप क्षेत्र समासवृत्ति का रचनाकाल है। पुनः इसमें मात्र 85 का उल्लेख है, 585 का नहीं। इत्सिंग आदि का समय तोसुनिश्चित है। पुनः समस्या न केवल धर्मकीर्ति आदि के समय की है, अपितु जैन-परम्परा के सुनिश्चित समयवालेजिनभद्र, सिद्धसेनक्षमाश्रमण एवं जिनदासगणि महत्तर की भी है- इनमें सेकोई भी विक्रम संवत् 585 सेपूर्ववर्ती नहीं है, जबकि इनके नामोल्लेख सहित ग्रंथावतरण हरिभद्र के ग्रंथों में मिलतेहैं। इनमें सबसेपूर्ववर्ती जिनभद्र का सत्ता-समय भी शक संवत् 530 अर्थात् विक्रम संवत् 665 के लगभग है। अतः हरिभद्र के स्वर्गवास का समय विक्रम संवत् 585 किसी भी स्थिति में प्रामाणिक सिद्ध नहीं होता।

हरिभद्र कोजिनभद्रगणि, सिद्धसेनगणि और जिनदासमहत्तर का समकालिक माननेपर पूर्वोक्त गाथा के वि. सं. 585 कोशक संवत् मानना होगा और इस आधार पर हरिभद्र का समय ईसा की सातवीं शताब्दी का उत्तरार्ध सिद्ध होता है। हरिभद्र की कृति दशवैकालिकवृत्ति में विशेषावश्यकभाष्य की अनेक गाथाओं का उल्लेख यही स्पष्ट करता है कि हरिभद्र का सत्ता-समय विशेषावश्यकभाष्य के पश्चात् ही होगा। भाष्य का रचनाकाल शक संवत् 531 या उसके कुछ पूर्व का है। अतः यदि उपर्युक्त गाथा के

585 को शक संवत् मान लिया जाए तोदोनों में संगति बैठ सकती है। पुनः हरिभद्र की कृतियों में नन्दीचूर्णि सेभी कुछ पाठ अवतरित हुए हैं। नन्दीचूर्णि के कर्त्ता जिनदासगणिमहत्तर नेउसका रचना काल शक संवत् 598 बताया है। अतः हरिभद्र का सत्त-समय शक संवत् 598 तदनुसार ई. सन् 676 के बाद ही होसकता है। यदि हम हरिभद्र के काल सम्बंधी पूर्वोक्त गाथा के विक्रम संवत् कोशक संवत् मानकर उनका काल ईसा की सातवीं शताब्दी का उत्तरार्ध एवं आठवीं शताब्दी का पूर्वार्ध मानें तोनन्दीचूर्णि के अवतरणों की संगति बैठानेमें मात्र 20-25 वर्ष का ही अंतर रह जाता है। अतः इतना निश्चित है कि हरिभद्र का काल विक्रम की सातवीं /आठवीं अथवा ईस्वी सन् की आठवीं शताब्दी ही सिद्ध होगा।

इससेहरिभद्र की कृतियों में उल्लिखित कुमारिल, भर्तृहरि, धर्मकीर्ति, वृद्धधर्मोत्तर आदि सेउनकी समकालिकता माननेमें भी कोई बाधा नहीं आती। हरिभद्र नेजिनभद्र और जिनदास के जोउल्लेख किए हैं और हरिभद्र की कृतियों में इनके जोअवतरण मिलतेहैं उनमें भी इस तिथि कोमाननेपर कोई बाधा नहीं आती। अतः विद्वानों कोजिनविजयजी के निर्णय कोमान्य करना होगा।

पुनः यदि हम यह मान लेतेहैं कि निशीथचूर्णि में उल्लिखित प्राकृत धूर्ताख्यान किसी पूर्वाचार्य की कृति थी और उसके आधार पर ही हरिभद्र नेअपनेप्राकृत धूर्ताख्यान की रचना की तोऐसी स्थिति में हरिभद्र के समय कोनिशीथचूर्णि के रचनाकाल ईस्वी सन् 676 सेआगेलाया जा सकता है। मुनि श्री जिनविजयजी नेअनेक आन्तर और बाह्य साक्ष्यों के आधार पर अपनेग्रंथ 'हरिभद्रसूरि का समय निर्णय' में हरिभद्र के समय कोई. सन् 700-770 स्थापित किया है। यदि पूर्वोक्त गाथा के अनुसार हरिभद्र का समय विक्रम सं. 585 मानतेहैं तोजिनविजयजी द्वारा निर्धारित समय और गाथोक्त समय में लगभग 200 वर्षों का अंतर रह जाता है। जोउचित नहीं लगता है। अतः इसेशक संवत् मानना उचित होगा। इसी क्रम में मुनि धनविजयजी ने 'चतुर्थस्तुतिनिर्णयशंकोद्धार' में 'रत्नसंचयप्रकरण' की निम्न गाथा का उल्लेख किया है-

पणपण्णबारससए हरिभद्दोसूरि आसि पुव्वकाए।

इस गाथा के आधार पर हरिभद्र का समय वीरनिर्वाण संवत् 1255 अर्थात् वि.सं. 785 या ईस्वी सन् 728 आता है। इस गाथा में उनके स्वर्गवास का उल्लेख

नहीं है, अतः इसेउनका सत्ता-समय माना जा सकता है। यद्यपि उक्त गाथा की पुष्टि हेतु हमें अन्य कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता है। यदि हम इसी प्रसंग में वीर निर्वाण संवत् के सम्बंध में चली आ रही 60 वर्ष की भूल कोसंशोधित कर वीर-निर्वाण कोवि. पू. 410 या ई.पू. 467 मानतेहैं जैसा कि मैंनेअपनेएक निबंध (देखें : सागर जैन-विद्या भारती, भाग 1) में सिद्ध किया है, तोऐसी स्थिति में हरिभद्र का स्वर्गवास काल 1255-467 = 788 ई. सिद्ध होजाता है और यह काल जिनविजयजी द्वारा निर्धारित हरिभद्र के सत्ता-समय ईस्वी सन् 700 से770 के अधिक निकट है।

हरिभद्र के उपर्युक्त समय-निर्णय के सम्बंध में एक अन्य महत्त्वपूर्ण समस्या खड़ी होती है सिद्धर्षिकृत उपमितिभवप्रपंचकथा के उस उल्लेख सेजिसमें सिद्धर्षि नेहरिभद्र कोअपना धर्मबोधकर गुरु कहा है। उन्होंनेयह कथा वि.सं. 962 में ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी, गुरुवार के दिन पूर्ण की थी। सिद्धर्षि के द्वारा लिखेगए इस तिथि के अनुसार यह काल 906 ई. सिद्ध होता है तथा उसमें बताए गए वार, नक्षत्र आदि भी ज्योतिष की गणना सेसिद्ध होतेहैं। सिद्धर्षि उपमितिभवप्रपंचकथा में हरिभद्र के विषय में लिखतेहैं कि उन्होंने(हरिभद्र ने) अनागत अर्थात् भविष्य में होनेवालेमुझकोजानकर ही मेरेलिए चैत्यवंदनसूत्र का आश्रय लेकर 'ललितविस्तरा-वृत्ति' की रचना की। यद्यपि कुछ जैन कथानकों में सिद्धर्षि और हरिभद्र के पारस्परिक सम्बंध कोसिद्ध किया गया है और यह बताया गया है कि सिद्धर्षि हरिभद्र के हस्तदीक्षित शिष्य थे, किंतु सिद्धर्षि का यह कथन कि 'भविष्य में होनेवालेमुझकोजानकर .....' यही सिद्ध करता है कि आचार्य हरिभद्र उनके परम्परा-गुरु थे, साक्षात् गुरु नहीं।

स्वयं सिद्धर्षि नेभी हरिभद्र कोकालव्यवहित अर्थात् पूर्वकाल में होनेवालेतथा अपनेकोअनागत अर्थात् भविष्य में होनेवाला कहा है। अतः दोनों के बीच काल का पर्याप्त अंतर होना चाहिए। यद्यपि यह सत्य है कि सिद्धर्षि कोउनके ग्रंथ ललितविस्तरा के अध्ययन सेजिन धर्म में स्थिरता हुई थी, इसलिए उन्होंनेहरिभद्र कोधर्मबोध प्रदाता गुरु कहा, साक्षात् गुरु नहीं कहा। मुनि विजयजी नेभी हरिभद्र कोसिद्धर्षि का साक्षात् गुरु नहीं माना है।

'कुवलयमाला' के कर्त्ता उद्योतनसूरि नेअपनेइस ग्रंथ में जोशक संवत् 699 अर्थात् ई. सन् 777 में निर्मित है, हरिभद्र एवं उनकी कृति 'समराइच्चकहा' तथा उनके भवविरह नाम का उल्लेख किया है। अतः हरिभद्र ई. सन् 777 के पूर्व हुए हैं , इसमें कोई विवाद नहीं रह जाता है।

हरिभद्र, सिद्धर्षि और अकलंक के पूर्ववर्ती हैं, इस सम्बंध में एक अन्य प्रमाण यह है कि सिद्धर्षि नेन्यायावतार की टीका में अकलंक द्वारा मान्य स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क- इन तीन प्रमाणों की चर्चा की है। अकलंक के पूर्व जैनदर्शन में इन तीन प्रमाणों की चर्चा अनुपस्थित है। हरिभद्र नेभी कहीं इन तीन प्रमाणों की चर्चा नहीं की है। अतः हरिभद्र, अकलंक और सिद्धर्षि सेपूर्ववर्ती हैं। अकलंक का समय विद्वानों नेई. सन् 720-780 स्थापित किया है। अतः हरिभद्र या तोअकलंक के पूर्ववर्ती या वरिष्ठ समकालीन ही सिद्ध होतेहैं।

हरिभद्र का व्यक्तित्व

हरिभद्र का व्यक्तित्व अनेक सद्गुणों की पूंजीभूत भास्वर प्रतिभा है। उदारता, सहिष्णुता, समदर्शिता ऐसेसद्गुण हैं जोउनके व्यक्तित्व कोमहनीयता प्रदान करतेहैं। उनका जीवन समभाव की साधना कोसमर्पित है। यही कारण है कि विद्या के बल पर उन्होंनेधर्म और दर्शन के क्षेत्र में नए विवाद खड़े करने के स्थान पर उनके मध्य समन्वय साधनेका पुरुषार्थ किया है। उनके लिए 'विद्या विवादाय' न होकर पक्ष-व्यामोह सेऊपर उठकर सत्यान्वेषण करनेहेतु है। हरिभद्र पक्षाग्रही न होकर सत्याग्रही हैं, अतः उन्होंनेमधुसंचयी भ्रमर की तरह विविध धार्मिक और दार्शनिक परम्पराओं सेबहुत कुछ लिया है और उसेजैन परम्परा की अनेकान्त दृष्टि सेसमन्वित भी किया है। यदि उनके व्यक्तित्व की महानता कोसमझना है तोविविध क्षेत्रों में उनके अवदानों का मूल्यांकन करना होगा और उनके अवदान का वह मूल्यांकन ही उनके व्यक्तित्व का मूल्यांकन होगा।

धर्म और दर्शन के क्षेत्र में हरिभद्र का अवदान

धर्म और दर्शन के क्षेत्र में हरिभद्र का अवदान क्या है? यह समझनेके लिए इस चर्चा कोहम निम्न बिन्दुओं में विभाजित कर रहेहैं-

(1) दार्शनिक एवं धार्मिक परम्पराओं का निष्पक्ष प्रस्तुतिकरण।

(2) अन्य दर्शनों की समीक्षा में भी शिष्ट भाषा का प्रयोग तथा अन्य धर्मों एवं दर्शनों के प्रवर्त्तकों के प्रति बहुमानवृत्ति।

(3) शुष्क दार्शनिक समालोचनाओं के स्थान पर उन अवधारणाओं के सार-तत्त्व और मूल उद्देश्यों कोसमझनेका प्रयत्न।

(1) दार्शनिक एवं धार्मिक परम्पराओं का निष्पक्ष प्रस्तुतिकरण।

(2) अन्य दर्शनों की समीक्षा में भी शिष्ट भाषा का प्रयोग तथा अन्य धर्मों एवं दर्शनों के प्रवर्त्तकों के प्रति बहुमानवृत्ति।

(3) शुष्क दार्शनिक समालोचनाओं के स्थान पर उन अवधारणाओं के सार-तत्त्व और मूल उद्देश्यों कोसमझनेका प्रयत्न।

(6) उदार और समन्वयवादी दृष्टि रखतेहुए पौराणिक अंधविश्वासों का निर्भीक रूप सेखण्डन करना।

(7) दर्शन और धर्म के क्षेत्र में आस्था या श्रद्धा की अपेक्षा तर्क एवं युक्ति पर अधिक बल, किंतु शर्त यह कि तर्क और युक्ति का प्रयोग अपनेमत की पुष्टि के लिए नहीं, अपितु सत्य की खोज के लिए हो।

(8) धर्म साधना कोकर्मकाण्ड के स्थान पर चरित्र की निर्मलता के साथ जोड़नेका प्रयत्न।

(9) मुक्ति के सम्बंध में एक उदार और व्यापक दृष्टिकोण।

(10) उपास्य के नाम-भेद कोगौण मानकर उसके गुणों पर बल।

अन्य दार्शनिक एवं धार्मिक परम्पराओं का निष्पक्ष प्रस्तुतिकरण

जैन परम्परा में अन्य परम्पराओं के विचारकों के दर्शन एवं धर्मोपदेश के प्रस्तुतिकरण का प्रथम प्रयास हमें ऋषिभाषित (इसिभासियाइं लगभग ई.पू. 3 शती) में परिलक्षित होता है। इस ग्रंथ में अन्य धार्मिक और दार्शनिक परम्पराओं के प्रवर्त्तकों, यथा-नारद, असितदेवल, याज्ञवल्क्य, सारिपुत्र आदि कोअर्हत् ऋषि कहकर सम्बोधित किया गया है और उनके विचारों कोनिष्पक्ष रूप में प्रस्तुत किया गया है। निश्चय ही वैचारिक उदारता एवं अन्य परम्पराओं के प्रति समादर भाव का यह अति प्राचीन काल का अन्यतम और मेरी दृष्टि में एकमात्र उदाहरण है। अन्य परम्पराओं के प्रति ऐसा समादर भाव वैदिक और बौद्ध परम्परा के प्राचीन साहित्य में हमें कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। स्वयं जैन परम्परा में भी यह उदार दृष्टि अधिक काल तक जीवित नहीं रह सकी। परिणामस्वरूप यह महान् ग्रंथ जोकभी अंग साहित्य का एक भाग था, वहां सेअलग कर परिपार्श्व में डाल दिया गया। यद्यपि सूत्रकृतांग, भगवती आदि आगम-ग्रंथों में तत्कालीन अन्य परम्पराओं के विवरण उपलेब्ध होतेहैं, किंतु उनमें अन्य दर्शनों और परम्पराओं के प्रति वह उदारता और शालीनता परिलक्षित नहीं होती, जोऋषिभाषित में थी। सूत्रकृतांग अन्य दार्शनिक और धार्मिक मान्यताओं का

विवरण तोदेता है, किंतु उन्हें मिथ्या, अनार्य या असंगत कहकर उनकी आलोचना भी करता है। भगवती में विशेष रूप मेंमंखलि-गोशालक के प्रसंग में तोजैन परम्परा सामान्य शिष्टता का भी उल्लंघन कर देती है। ऋषिभाषित में जिस मंखलि-गोशालक कोअर्हत् ऋषि के रूप में सम्बोधित किया गया था, भगवती में उसी का अशोभनीय चित्र प्रस्तुत किया गया है। यहां यह चर्चा मैं केवल इसलिए कर रहा हूं कि हम हरिभद्र की उदारदृष्टि का सम्यक् मूल्यांकन कर सकें और यह जान सकें कि न केवल जैन परम्परा में, अपितु समग्र भारतीय दर्शन में उनका अवदान कितना महान् है।

जैन दार्शनिकों में सर्वप्रथम सिद्धसेन दिवाकर नेअपनेग्रंथों में अन्य दार्शनिक मान्यताओं का विवरण प्रस्तुत किया है। उन्होंनेबत्तीस द्वात्रिंशिकाएं लिखी हैं, उनमें नवीं में वेदवाद, दशवीं में योगविद्या, बारहवीं में न्यायदर्शन, तेरहवीं में सांख्यदर्शन, चौदहवीं में वैशेषिकदर्शन, पंद्रहवीं में बौद्धदर्शन और सोलहवीं में नियतिवाद की चर्चा है, किंतु सिद्धसेन नेयह विवरण समीक्षात्मक दृष्टि सेही प्रस्तुत किया है। वेअनेक प्रसंगों में इन अवधारणाओं के प्रति चुटीलेव्यंग्य भी कसतेहैं। वस्तुतः दार्शनिकों में अन्य दर्शनों के जाननेऔर उनका विवरण प्रस्तुत करनेकी जोप्रवृत्ति विकसित हुई थी उसका मूल आधार विरोधी मतों का निराकरण करना ही था। सिद्धसेन भी इसके अपवाद नहीं हैं। साथ ही पं. सुखलालजी संघवी का यह भी कहना है कि सिद्धसेन की कृतियों में अन्य दर्शनों का जोविवरण उपलब्ध है वह भी पाठ-भ्रष्टता और व्याख्या के अभाव के कारण अधिक प्रामाणिक नहीं है।[4] यद्यपि सिद्धसेन दिवाकर, समन्तभद्र, जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण आदि हरिभद्र के पूर्ववर्ती दार्शनिकों नेअनेकांत दृष्टि के प्रभाव के कारण कहीं-कहीं वैचारिक उदारता का परिचय दिया है, फिर भी येसभी विचारक इतना तोमानतेही हैं कि अन्य दर्शन ऐकान्तिक दृष्टि का आश्रय लेनेके कारण मिथ्या-दर्शन हैं, जबकि जैन दर्शन अनेकान्त-दृष्टि अपनानेके कारण सम्यग्दर्शन हैं। वस्तुतः वैचारिक समन्वयशीलता और धार्मिक उदारता की जिस ऊंचाई का स्पर्श हरिभद्र नेअपनी कृतियों में किया है, वैसा उनके पूर्ववर्ती जैन एवं जैनेतर दार्शनिकों में हमें परिलक्षित नहीं होता। यद्यपि हरिभद्र के परवर्ती जैन दार्शनिकों में हेमचंद्र, यशोविजय, आनन्दघन आदि अन्य धर्मों और दर्शनों के प्रति समभाव और उदारता का परिचय देतेहैं, किंतु उनकी यह उदारता उन पर हरिभद्र के प्रभाव कोही सूचित करती है। उदाहरण के रूप में हेमचंद्र अपनेमहादेव-स्तोत्र (44) में निम्न श्लोक प्रस्तुत करतेहैं-

भव-बीजांकुरजनना रागाद्याक्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरोजिनोवा नमस्तस्मै॥

वस्तुतः 2500 वर्ष के सुदीर्घ जैन इतिहास में ऐसा कोई भी समन्वयवादी उदारचेता व्यक्तित्व नहीं है, जिसेहरिभद्र के समतुल्य कहा जा सके। यद्यपि हरिभद्र के पूर्ववर्ती और परवर्ती अनेक आचार्यों नेजैन दर्शन की अनेकान्त दृष्टि के प्रभाव के परिणामस्वरूप उदारता का परिचय अवश्य दिया है, फिर भी उनकी सृजनधर्मिता उस स्तर की नहीं है जिस स्तर की हरिभद्र की है। उनकी कृतियों में दो-चार गाथाओं या श्लाकों में उदारता के चाहेसंकेत मिल जाएं, किंतु ऐसेकितनेहैं जिन्होंनेसमन्वयात्मक और उदारदृष्टि के आधार पर षड्दर्शनसमुच्चय, शास्त्रवार्तासमुच्चय और योगदृष्टिसमुच्चय जैसी महान् कृतियों का प्रणयन किया हो।

अन्य दार्शनिक और धार्मिक परम्पराओं का अध्ययन मुख्यतः दोदृष्टियों सेकिया जाता है- एक तोउन परम्पराओं की आलोचना करनेकी दृष्टि सेऔर दूसरा उनका यथार्थ परिचय पानेऔर उनमें निहित सत्य कोसमझनेकी दृष्टि से। आलोचना एवं समीक्षा की दृष्टि सेलिखेगए ग्रंथों में भी आलोचना के शिष्ट और अशिष्ट ऐसेदोरूप मिलतेहैं। साथ ही जब ग्रंथकर्त्ता का मुख्य उद्देश्य आलोचना करना होता है, तोवह अन्य परम्पराओं के प्रस्तुतिकरण में न्याय नहीं करता है और उनकी अवधारणाओं कोभ्रांतरूप में प्रस्तुत करता है। उदाहरण के रूप में स्याद्वाद और शून्यवाद के आलोचकों नेकभी उन्हें सम्यक् रूप सेप्रस्तुत करनेका प्रयत्न नहीं किया है। यद्यपि हरिभद्र नेभी अपनी कुछ कृतियों में अन्य दर्शनों एवं धर्मों की समीक्षा की है। अपनेग्रंथ धूर्ताख्यान में वेधर्म और दर्शन के क्षेत्र में पनप रहेअंधविश्वासों का सचोट खण्डन भी करतेहैं, फिर भी इतना निश्चित है कि वेन तोअपनेविरोधी के विचारों कोभ्रांत रूप में प्रस्तुत करतेहैं और न उनके सम्बंध में अशिष्ट भाषा का प्रयोग ही करतेहैं।

दर्शन-संग्राहक ग्रंथों की रचना और उसमेंहरिभद्र का स्थान

यदि हम भारतीय दर्शन के समग्र इतिहास में सभी प्रमुख दर्शनों के सिद्धांत कोएक ही ग्रंथ में पूरी प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत करनेके क्षेत्र में हुए प्रयत्नों कोदेखतेहैं, तोहमारी दृष्टि में हरिभद्र ही वेप्रथम व्यक्ति हैं, जिन्होंनेसभी प्रमुख भारतीय दर्शनों की मान्यताओं कोनिष्पक्ष रूप सेएक ही ग्रंथ में प्रस्तुत किया है। हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय की कोटि का और उससेप्राचीन दर्शन संग्राहक कोई अन्य ग्रंथ हमें

प्राचीन भारतीय साहित्य में उपलब्ध नहीं होता।

हरिभद्र के पूर्व तक जैन, बौद्ध और वैदिक-तीनों ही परम्पराओं के किसी भी आचार्य नेअपनेकाल के सभी दर्शनों का निष्पक्ष परिचय देनेकी दृष्टि सेकिसी भी ग्रंथ की रचना नहीं की थी। उनके ग्रंथों में अपनेविरोधी मतों का प्रस्तुतिकरण मात्र उनके खण्डन की दृष्टि सेही हुआ है। जैन परम्परा में भी हरिभद्र के पूर्व सिद्धसेन दिवाकर और समन्तभद्र नेअन्य दर्शनों के विवरण तोप्रस्तुत किए हैं, किंतु उनकी दृष्टि भी खण्डनपरक ही है। विविध दर्शनों का विवरण प्रस्तुत करनेकी दृष्टि सेमल्लवादी का नयचक्र महत्त्वपूर्ण ग्रंथ कहा जा सकता है, किंतु उसका मुख्य उद्देश्य भी प्रत्येक दर्शन की अपूर्णता कोसूचित करतेहुए अनेकान्तवाद की स्थापना करना है। पं. दलसुखभाई मालवलिया के शब्दों में नयचक्र की कल्पना के पीछे आचार्य का आशय यह है कि कोई भी मत अपनेआप में पूर्ण नहीं है। जिस प्रकार उस मत की स्थापना दलीलों सेहोसकती है, उसी प्रकार उसका उत्थापन भी विरोधी मतों की दलीलों सेहोसकता है। स्थापना और उत्थापन का यह चक्र चलता रहता है। अतएव अनेकान्तवाद में येमत यदि अपना उचित स्थान प्राप्त करें, तभी उचित है अन्यथा नहीं।[5] नयचक्र की मूलदृष्टि भी स्वपक्ष अर्थात् अनेकान्तवाद के मण्डन और परपक्ष के खण्डन की ही है। इस प्रकार जैन परम्परा में भी हरिभद्र के पूर्व तक निष्पक्ष भाव सेकोई भी दर्शन-संग्राहक ग्रंथ नहीं लिखा गया।

जैनेतर परम्पराओं के दर्शन-संग्राहक ग्रंथों में आचार्य शंकर विरचित मानेजानेवाले'सर्वसिद्धांतसंग्रह' का उल्लेख किया जा सकता है। यद्यपि यह कृति माधवाचार्य के सर्वदर्शनसंग्रह की अपेक्षा प्राचीन है, फिर भी इसके आद्य शंकराचार्य द्वारा विरचित होनेमें संदेह है। इस ग्रंथ में भी पूर्वदर्शन का उत्तरदर्शन के द्वारा निराकरण करतेहुए अंत में अद्वैत वेदांत की स्थापना की गई है। अतः किसी सीमा तक इसकी शैली कोनयचक्र की शैली के साथ जोड़ा जा सकता है किंतु जहां नयचक्र, अंतिम मत का भी प्रथम मत सेखण्डन करवाकर किसी भी एक दर्शन कोअंतिम सत्य नहीं मानता है, वहां 'सर्वसिद्धान्तसंग्रह' वेदांत कोएकमात्र और अंतिम सत्य स्वीकार करता है। अतः यह एक दर्शनसंग्राहक ग्रंथ होकर भी निष्पक्ष दृष्टि का प्रतिपादक नहीं माना जा सकता है। हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय की जोविशेषता है वह इसमें नहीं है।

जैनेतर परम्पराओं में दर्शन-संग्राहक ग्रंथों ग्रंथों में दूसरा स्थान माधवाचार्य

(ई.1350?) के 'सर्वदर्शनसंग्रह' का आता है। किंतु 'सर्वदर्शनसंग्रह' की मूलभूत दृष्टि भी यही है कि वेदांत ही एकमात्र सम्यग्दर्शन है। 'सर्वसिद्धान्तसंग्रह' और 'सर्वदर्शनसंग्रह' दोनों की हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय सेइस अर्थ में भिन्नता है कि जहां हरिभद्र बिना किसी खण्डन-मण्डन के निरपेक्ष भाव सेतत्कालीन विविध दर्शनों कोप्रस्तुत करतेहैं, वहां वैदिक परम्परा के इन दोनों की मूलभूत शैली खण्डनपरक ही है। अतः इन दोनों ग्रंथों में अन्य दार्शनिक मतों के प्रस्तुतिकरण में वह निष्पक्षता और उदारता परिलक्षित नहीं होती, जोहरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय में है।

इसके पश्चात् वैदिक परम्परा के दर्शन-संग्राहक ग्रंथों में मधुसूदन सरस्वती के 'प्रस्थान-भेद'का क्रम आता है। मधुसूदन सरस्वती नेदर्शनों का वर्गीकरण आस्तिक और नास्तिक के रूप में किया है। नास्तिक-अवैदिक दर्शनों में वेछः प्रस्थानों का उल्लेख करतेहैं। इसमें बौद्ध दर्शन के चार सम्प्रदाय तथा चार्वाक और जैनों का समावेश हुआ है। आस्तिक-वैदिक दर्शनों में- न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा का समावेश हुआ है। इन्होंनेपाशुपत दर्शन एवं वैष्णव दर्शन का भी उल्लेख किया है। पं. दलसुखभाई मालवणिया के अनुसार प्रस्थान-भेद के लेखक की एक विशेषता अवश्य है जोउसेपूर्व उल्लिखित वैदिक परम्परा के अन्य दर्शन-संग्राहक ग्रंथों सेअलग करती है, वह यह कि इस ग्रंथ में वैदिक दर्शनों के पारस्परिक विरोध का समाधान यह कह कर किया गया है कि इन प्रस्थानों के प्रस्तोता सभी मुनि भ्रांत तोनहीं होसकते, क्योंकि वेसर्वज्ञ थे। चूंकि बाह्य विषयों में लगेहुए मनुष्यों का परम पुरुषार्थ में प्रविष्ट होना कठिन होता है, अतएव नास्तिकों का निराकरण करनेके लिए इन मुनियों नेदर्शन प्रस्थानों के भेद किए हैं।' इस प्रकार प्रस्थान-भेद में यत्किंचित् उदारता का परिचय प्राप्त होता है, किंतु यह उदारता केवल वैदिक परम्परा के आस्तिक दर्शनों के संदर्भ में ही है, नास्तिकों का निराकरण करना तोसर्वदर्शनकौमुदीकार कोभी इष्ट ही है। इस प्रकार दर्शन-संग्राहक ग्रंथों में हरिभद्र की जोनिष्पक्ष और उदार दृष्टि है वह हमें अन्य परम्पराओं में रचित दर्शन-संग्राहक ग्रंथों में नहीं मिलती है। यद्यपि वर्त्तमान भारतीय दार्शनिक परम्पराओं का विवरण प्रस्तुत करनेवालेअनेक ग्रंथ लिखेजा रहेहैं, किंतु उनमें भी लेखक कहीं न कहीं अपनेइष्ट दर्शन कोही अंतिम सत्य के रूप में प्रस्तुत करता प्रतीत होता है।

हरिभद्र के पश्चात् जैन परम्परा में लिखेगए दर्शन-संग्राहक ग्रंथों

मेंअज्ञातकर्तृक 'सर्वसिद्धांतप्रवेशिक' का स्थान आता है, किंतु इतना निश्चित है कि यह ग्रंथ किसी जैन आचार्य द्वारा प्रणीत है, क्योंकि इसके मंगलाचरण में 'सर्वभाव प्रणेतारं प्रणिपत्य जिनेश्वरं' ऐसा उल्लेख है। पं. सुखलाल संघवी के अनुसार प्रस्तुत ग्रंथ की प्रतिपादन शैली हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय का ही अनुसरण करती है।[7] अंतर मात्र यह है कि जहां हरिभद्र का ग्रंथ पद्य में है वहां सर्वसिद्धांतप्रवेशक गद्य में है। साथ ही यह ग्रंथ हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय की अपेक्षा कुछ विस्तृत भी है।

जैन परम्परा के दर्शन-संग्राहक ग्रंथों में दूसरा स्थान जीवदेवसूरि के शिष्य आचार्य जिनदत्तसूरि (विक्रम 1265) के 'विवेकविलास' का आता है। इस ग्रंथ के अष्टम उल्लास में षड्दर्शनविचार नामक प्रकरण है, जिसमें जैन, मीमांसक, बौद्ध, सांख्य, शैव और नास्तिक- इन छः दर्शनों का संक्षेप में वर्णन किया गया है। पं.दलसुखभाई मालवणिया के अनुसार इस ग्रंथ की एक विशेषता तोयह है कि इसमें न्याय-वैशेषिकों का समावेश शैवदर्शन में किया गया है। मेरी दृष्टि में इसका कारण लेखक के द्वारा हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय का अनुसरण करना ही है, क्योंकि उसमें भी न्यायदर्शन के देवता के रूप में शिव का ही उल्लेख किया गया है-

'अक्षपादमतेदेवः सृष्टिसंहारकृच्छिवः'॥ 13॥

यह ग्रंथ भी हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय के समान केवल परिचयात्मक और निष्पक्ष विवरण प्रस्तुत करता है और आकार में मात्र 66 श्लोक प्रमाण है।

जैन परम्परा में दर्शन-संग्राहक ग्रंथों में तीसरा क्रम राजशेखर (विक्रम 1405) के षड्दर्शनसमुच्चय का आता है। इस ग्रंथ में जैन, सांख्य, जैमिनीय, योग, वैशेषिक और सौगत (बौद्ध) इन छः दर्शनों का उल्लेख किया गया है। हरिभद्र के समान ही इस ग्रंथ में भी इन सभी कोआस्तिक कहा गया है और अंत में नास्तिक के रूप में चार्वाक दर्शन का परिचय दिया गया है। हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय और राजशेखर के षड्दर्शनसमुच्चय में एक मुख्य अंतर इस बात कोलेकर है कि दर्शनों के प्रस्तुतिकरण में जहां हरिभद्र जैनदर्शन कोचौथा स्थान देतेहैं, वहां राजशेखर जैनदर्शन कोप्रथम स्थान देतेहैं। पं.सुखलाल संघवी के अनुसार सम्भवतः इसका कारण यह होसकता है कि राजशेखर अपनेसमकालीन दार्शनिकों के अभिनिवेशयुक्त प्रभाव सेअपनेकोदूर नहीं रख सके[8]।

पं. दलसुखभाई मालवणिया की सूचना के अनुसार राजशेखर के काल का ही एक अन्य दर्शन-संग्राहक ग्रंथ आचार्य मेरुतुंगकृत 'षड्दर्शननिर्णय' है'। इस ग्रंथ में मेरुतुंग नेजैन, बौद्ध, मीमांसा, सांख्य, न्याय और वैशेषिक- इन छः दर्शनों की मीमांसा की है, किंतु इस कृति में हरिभद्र जैसी उदारता नहीं है। यह मुख्यतया जैनमत की स्थापना और अन्य मतों के खण्डन के लिए लिखा गया है। इसकी एकमात्र विशेषता यह है कि इसमें महाभारत, स्मृति, पुराण आदि के आधार पर जैनमत का समर्थन किया गया है।

पं.दलसुखभाई मालवणिया नेषड्दर्शनसमुच्चय की प्रस्तावना में इस बात का भी उल्लेख किया है कि सोमतिलकसूरिकृत 'षड्दर्शन-समुच्चय' की वृत्ति के अंत में अज्ञातकृत एक कृति मुद्रित है[10]। इसमें भी जैन, न्याय, बौद्ध, वैशेषिक, जैमिनीय, सांख्य और चार्वाक- ऐसेसात दर्शनों का संक्षेप में परिचय दिया गया है, किंतु अंत में अन्य दर्शनों कोदुर्नय की कोटि में रखकर जैनदर्शन कोउच्च श्रेणी में रखा गया है। इस प्रकार उसका लेखक भी अपनेकोसाम्प्रदायिक अभिनिवेश सेदूर नहीं रख सका।

इस प्रकार हम देखतेहैं कि दर्शन-संग्राहक ग्रंथों की रचना में भारतीय इतिहास में हरिभद्र ही एकमात्र ऐसेव्यक्ति हैं जिन्होंनेनिष्पक्ष भाव सेऔर पूरी प्रामाणिकता के साथ अपनेग्रंथ में अन्य दर्शनों का विवरण दिया है। इस क्षेत्र में वेअभी तक अद्वितीय हैं।

समीक्षा में शिष्टभाषा का प्रयोग और अन्य धर्मप्रवर्त्तकों के प्रति बहुमान

दर्शन के क्षेत्र में अपनी दार्शनिक अवधारणाओं की पुष्टि तथा विरोधी अवधारणाओं के खण्डन के प्रयत्न अत्यंत प्राचीनकाल सेहोतेरहेहैं। प्रत्येक दर्शन अपनेमंतव्यों की पुष्टि के लिए अन्य दार्शनिक मतों की समालोचना करता है। स्वपक्ष का मण्डन तथा परपक्ष का खण्डन- यह दार्शनिकों की सामान्य प्रवृत्ति रही है। हरिभद्र भी इसके अपवाद नहीं हैं। फिर भी उनकी यह विशेषता है कि अन्य दार्शनिक मतों की समीक्षा में वेसदैव ही शिष्ट भाषा का प्रयोग करतेहैं तथा विरोधी दर्शनों के प्रवर्त्तकों के लिए भी बहुमान प्रदर्शित करतेहैं। दार्शनिक समीक्षाओं के क्षेत्र में एक युग ऐसा रहा है, जिसमें अन्य दार्शनिक परम्पराओं कोन केवल भ्रष्ट रूप में प्रस्तुत किया जाता था, अपितु उनके प्रवर्त्तकों का उपहास भी किया जाता था। जैन और जैनेतर दोनों ही परम्पराएं इस प्रवृत्ति सेअपनेकोमुक्त नहीं रख सकीं। जैन परम्परा के सिद्धसेन दिवाकर, समन्तभद्र आदि दिग्गज दार्शनिक भी जब अन्य दार्शनिक परम्पराओं की समीक्षा

करतेहैं तोन केवल उन परम्पराओं की मान्यताओं के प्रति, अपितु उनके प्रवर्त्तकों के प्रति भी चुटीलेव्यंग्य कस देतेहैं। हरिभद्र स्वयं भी अपनेलेखन के प्रारम्भिक काल में इस प्रवृत्ति के अपवाद नहीं रहेहैं। जैन आगमों की टीका में और धूर्ताख्यान जैसेग्रंथों की रचना में वेस्वयं भी इस प्रकार के चुटीनेव्यंग्य कसतेहैं, किंतु हम देखतेहैं कि विद्वत्ता की प्रौढ़ता के साथ हरिभद्र में धीरे-धीरेयह प्रवृत्ति लुप्त होजाती है और अपनेपरवर्ती ग्रंथों में वेअन्य परम्पराओं और उनके प्रवर्त्तकों के प्रति अत्यंत शिष्ट भाषा का प्रयोग करतेहैं तथा उनके प्रति बहुमान सूचित करतेहैं। इसके कुछ उदाहरण हमें उनके ग्रंथ 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' में देखनेकोमिल जातेहैं। अपनेग्रंथ 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' के प्रारम्भ में ही ग्रंथ-रचना का उद्देश्य स्पष्ट करतेहुए वेलिखतेहैं-

यं श्रुत्वा सर्वशास्त्रेषु प्रायस्तत्त्वविनिश्चयः।
जायतेद्वेषशमनः स्वर्गसिद्धिसुखावहः॥

अर्थात् इसका अध्ययन करनेसेअन्य दर्शनों के प्रति द्वेष-बुद्धि समाप्त होकर तत्त्व का बोध होजाता है। इस ग्रंथ में वेकपिल कोदिव्य पुरुष एवं महामुनि के रूप में सूचित करतेहैं- कपिलोदिव्योहि स महामुनिः (शास्त्रवार्तासमुच्चय, 237)। इसी प्रकार वेबुद्ध कोभी अर्हत्, महामुनिः सुवैद्य आदि विशेषणों सेअभिहित करतेहैं- यतोबुद्धोमहामुनिः सुवैद्यवत् (वही, 465-466)। यहां हम देखतेहैं कि जहां एक ओर अन्य दार्शनिक अपनेविरोधी दार्शनिकों का खुलकर परिहास करतेहैं- न्यायदर्शन के प्रणेता महर्षि गौतम कोगाय का बछड़ा या बेल और महर्षि कणाद कोउल्लू कहतेहैं, वहीं दूसरी ओर हरिभद्र अपनेविरोधियों के लिए महामुनि और अर्हत् जैसे सम्मान सूचक विशेषणों का प्रयोग करतेहैं। 'शास्त्रवार्ता-समुच्चय' में यद्यपि अन्य दार्शनिक अवधारणाओं की स्पष्ट समालोचना है, किंतु सम्पूर्ण ग्रंथ में ऐसा कोई भी उदाहरण नहीं मिलता जहां हरिभद्र नेशिष्टता की मर्यादा का उल्लंघन किया हो। इस प्रकार हरिभद्र नेअन्य परम्पराओं के प्रति जिस शिष्टता और आदरभाव का परिचय दिया है, वह हमें जैन और जैनेतर किसी भी परम्परा के अन्य ग्रंथों में उपलब्ध नहीं होती।

हरिभद्र नेअन्य दर्शनों के अध्ययन के पश्चात् उनमें निहित सारतत्त्व या सत्य कोसमझनेका जोप्रयास किया, वह भी अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण है और उनके उदारचेता व्यक्तित्व कोउजागर करता है। यद्यपि हरिभद्र चार्वाक दर्शन की समीक्षा करतेहुए उसके भूत स्वभाववाद का खण्डन करतेहैं और उसके स्थान पर कर्मवाद की स्थापना करतेहैं।

किंतु सिद्धांत में कर्म के जोदोरूप-द्रव्यकर्म और भावकर्म मानेगए हैं उसमें एक ओर भावकर्म के स्थान कोस्वीकार नहीं करनेके कारण वहां वेचार्वाक दर्शन की समीक्षा करतेहैं, वहीं दूसरी ओर वेद्रव्यकर्म की अवधारणा कोस्वीकार करतेहुए चार्वाक के भूत स्वभाववाद की सार्थकता कोभी स्वीकार करतेहैं और कहतेहैं कि भौतिक तत्त्वों का प्रभाव भी चैतन्य पर पड़ता है।[11] पं.सुखलालजी संघवी लिखतेहैं कि हरिभद्र नेदोनों पक्षों अर्थात् बौद्ध एवं मीमांसकों के अनुसार कर्मवाद के प्रसंग में चित्तवासना की प्रमुखता कोतथा चार्वाकों के अनुसार भौतिक तत्त्व की प्रमुखता कोएक-एक पक्ष के रूप में परस्परपूरक एवं सत्य मानकर कहा कि जैन कर्मवाद में चार्वाक और मीमांसक तथा बौद्धों के मंतव्यों का सुमेल हुआ है।[12]

इसी प्रकार 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' में हरिभद्र यद्यपि न्याय-वैशेषिक दर्शनों द्वारा मान्य ईश्वरवाद एवं जगत-कर्तृत्ववाद की अवधारणाओं की समीक्षा करतेहैं, किंतु जहां चार्वाकों, बौद्धों और अन्य जैन आचार्यों नेइन अवधारणाओं का खण्डन किया है, वहां हरिभद्र इनकी भी सार्थकता कोस्वीकार करतेहैं। हरिभद्र नेईश्वरवाद की अवधारणा में भी कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यों कोदेखनेका प्रयास किया है। प्रथम तोयह कि मनुष्य में कष्ट के समय स्वाभाविक रूप सेकिसी ऐसी शक्ति के प्रति श्रद्धा और प्रपत्ति की भावना होती है, जिसके द्वारा वह अपनेमें आत्मविश्वास जागृत कर सके। पं. सुखलालजी संघवी लिखतेहैं कि मानव मन की प्रपत्ति या शरणागति की यह भावना मूल में असत्य तोनहीं कही जा सकती। उनकी इस अपेक्षा कोठेस न पहुंचेतथा तर्क व बुद्धिवाद के साथ ईश्वरवादी अवधारणा का समन्वय भी हो, इसलिए उन्होंने(हरिभद्र ने) ईश्वर-कर्तृव्यवाद की अवधारणा कोअपनेढंग सेस्पष्ट करनेका प्रयत्न किया है।[13] हरिभद्र कहतेहैं कि जोव्यक्ति आध्यात्मिक निर्मलता के फलस्वरूप अपनेविकास की उच्चतम भूमिका कोप्राप्त होकि वह असाधारण आत्मा है और वही ईश्वर या सिद्ध पुरुष है। उस आदर्श स्वरूप कोप्राप्त करनेके कारण कर्त्ता तथा भक्ति का विषय होनेके कारण उपास्य है।[14] इसके साथ ही हरिभद्र यह भी मानतेहैं कि प्रत्येक जीव तत्त्वतः अपनेशुद्ध रूप में परमात्मा और अपनेभविष्य का निर्माता है और इस दृष्टि सेयदि विचार करें तोवह 'ईश्वर' भी है और 'कर्त्ता' भी है। इस प्रकार ईश्वर-कर्तृत्ववाद भी समीचीन ही सिद्ध होता है।[15] हरिभद्र सांख्यों के प्रकृतिवाद की भी समीक्षा करतेहैं, किंतु वेप्रकृति कोजैन परम्परा में स्वीकृत कर्मप्रकृति के रूप में देखतेहैं। वेलिखतेहैं कि 'सत्य न्याय

की दृष्टि सेप्रकृति कर्म-प्रकृति ही है और इस रूप में प्रकृतिवाद भी उचित है, क्योंकि उसके वक्ता कपिल दिव्य-पुरुष और महामुनि हैं।[16]

'शास्त्रवार्तासमुच्चय' में हरिभद्र नेबौद्धों के क्षणिकवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद की भी समीक्षा की है, किंतु वेइन धारणाओं में निहित सत्य कोभी देखनेका प्रयत्न करतेहैं और कहतेहैं कि महामुनि और अर्हत् बुद्ध उद्देश्यहीन होकर किसी सिद्धांत का उपदेश नहीं करते। उन्होंनेक्षणिकवाद का उपदेश पदार्थ के प्रति हमारी आसक्ति के निवारण के लिए ही दिया है, क्योंकि जब वस्तु का अनित्य और विनाशशील स्वरूप समझ में आ जाता है तोउसके प्रति आसक्ति गहरी नहीं होती। इसी प्रकार विज्ञानवाद का उपदेश भी बाह्य पदार्थों के प्रति तृष्णा कोसमाप्त करनेके लिए ही है। यदि सब कुछ चित्त के विकल्प हैं और बाह्य रूप सत्य नहीं है तोउनके प्रति तृष्णा उत्पन्न ही नहीं होगी। इसी प्रकार कुछ साधकों की मनोभूमिका कोध्यान में रखकर संसार की निस्सारता का बोध करानेके लिए शून्यवाद का उपदेश दिया है।[17] इस प्रकार हरिभद्र की दृष्टि में बौद्ध दर्शन के क्षणिकवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद- इन तीनों सिद्धांतों का मूल उद्देश्य यही है कि व्यक्ति की जगत् के प्रति उत्पन्न होनेवाली तृष्णा का प्रहाण हो।

अद्वैतवाद की समीक्षा करतेहुए हरिभद्र स्पष्ट रूप सेयह बतातेहैं कि सामान्य की दृष्टि सेतोअद्वैत की अवधारणा भी सत्य है। इसके साथ ही साथ वेयह भी बतातेहैं कि विषमता के निवारण के लिए और समभाव की स्थापना के लिए अद्वैत की भूमिका भी आवश्यक है।[18] अद्वैत पराएपन की भावना का निषेध करता है, इस प्रकार द्वेष का उपशमन करता है। अतः वह भी असत्य नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार अद्वैत वेदांत के ज्ञान मार्ग कोभी वेसमीचीन ही स्वीकार करतेहैं।[19]

उपर्युक्त विवेचन सेयह स्पष्ट होजाता है कि अन्य दार्शनिक अवधारणाओं की समीक्षा का उनका प्रयत्न समीक्षा के लिए न होकर उन दार्शनिक परम्पराओं की सत्यता के मूल्यांकन के लिए ही है। स्वयं उन्होंने 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' के प्राक्कथन में यह स्पष्ट किया है कि प्रस्तुत ग्रंथ का उद्देश्य अन्य परम्पराओं के प्रति द्वेष का उपशमन करना और सत्य का बोध करना है[20]। उपर्युक्त विवरण सेयह स्पष्ट है कि उन्होंने ईमानदारी सेप्रत्येक दार्शनिक मान्यता के मूलभूत उद्देश्यों कोसमझानेका प्रयास किया है और इस प्रकार वेआलोचक के स्थान पर सत्य के गवेषक ही अधिक प्रतीत होतेहैं।

अन्य दर्शनों के गम्भीर अध्येता एवं निष्पक्ष व्याख्याकार

भारतीय दार्शनिकों में अपनेसेइतर परम्पराओं के गम्भीर अध्ययन की प्रवृत्ति प्रारम्भ में हमें दृष्टिगत नहीं होती है। बादरायण, जैमिनि आदि दिग्गज विद्वान् भी जब दर्शनों की समालोचना करतेहैं, तोऐसा लगता है कि वेदूसरेदर्शनों कोअपनेसतही ज्ञान के आधार पर भ्रान्तरूप में प्रस्तुत करके उनका खण्डन कर देतेहैं। यह सत्य है कि अनैकान्तिक एवं समन्वयात्मक दृष्टि के कारण अन्य दर्शनों के गम्भीर अध्ययन की परम्परा का विकास सर्वप्रथम जैन दार्शनिकों नेही किया है। ऐसा लगता है कि हरिभद्र नेसमालोच्य प्रत्येक दर्शन का ईमानदारीपूर्वक गम्भीर अध्ययन किया था, क्योंकि इसके बिना वेन तोउन दर्शनों में निहित सत्यों कोसमझा सकतेथे, न उनकी स्वस्थ समीक्षा ही कर सकतेथेऔर न उनका जैन मंतव्यों के साथ समन्वय कर सकतेथे। हरिभद्र अन्य दर्शनों के अध्ययन तक ही सीमित नहीं रहे, अपितु उन्होंनेउनके कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रंथों पर तटस्थ भाव सेटीकाएं भी लिखीं। दिंगनाग के 'न्यायप्रवेश' पर उनकी टीका महत्त्वपूर्ण मानी जाती हैं। पतंजलि के 'योगसूत्र' का उनका अध्ययन भी काफी गम्भीर प्रतीत होता है, क्योंकि उन्होंनेउसी के आधार पर नवीन दृष्टिकोण सेयोगदृष्टिसमुच्चय, योगबिंदु, योगविंशिका आदि ग्रंथों की रचना की थी। इस प्रकार हरिभद्र जैन और जैनेतर परम्पराओं के एक ईमानदार अध्येता एवं व्याख्याकार भी हैं। जिस प्रकार प्रशस्तपाद नेदर्शन ग्रंथों की टीका लिखतेसमय तद्-तद् दर्शनों के मंतव्यों का अनुसरण करतेहुए तटस्थ भाव रखा, उसी प्रकार हरिभद्र नेभी इतर परम्पराओं का विवेचन करतेसमय तटस्थ भाव रखा है।

अंधविश्वासों का निर्भीक रूप सेखण्डन

यद्यपि हरिभद्र अन्य धार्मिक एवं दार्शनिक परम्पराओं के प्रति एक उदार और सहिष्णु दृष्टिकोण कोलेकर चलतेहैं, किंतु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वेउनके अतर्कसंगत अंधविश्वासों कोप्रश्रय देतेहैं। एक ओर वेअन्य परम्पराओं के प्रति आदरभाव रखतेहुए उनमें निहित सत्यों कोस्वीकार करतेहैं, तोदूसरी ओर उनमें पल रहेअंधविश्वासों का निर्भीक रूप सेखण्डन भी करतेहैं। इस दृष्टि सेउनकी दोरचनाएं बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं- (1) धूर्ताख्यान और (2) द्विजवदनचपेटिका। 'धूर्ताख्यान' में उन्होंनेपौराणिक परम्पराओं में पल रहेअंधविश्वासों का सचोट निरसन किया है। हरिभद्र नेधूर्ताख्यान में वैदिक परम्परा में विकसित इस धारणा का खण्डन किया है कि

ब्रह्मा के मुख सेब्राह्मण, बाहु सेक्षत्रिय, पेट सेवैश्य तथा पैर सेशूद्र उत्पन्न हुए हैं। इसी प्रकार कुछ पौराणिक मान्यताओं यथा-शंकर के द्वारा अपनी जटाओं में गंगा कोसमा लेना, वायु के द्वारा हनुमान का जन्म, सूर्य के द्वारा कुन्ती सेकर्ण का जन्म, हनुमान के द्वारा पूरेपर्वत कोउठा लाना, वानरों के द्वारा सेतु बांधना, श्रीकृष्ण के द्वारा गोवर्धन पर्वत धारण करना, गणेश का पार्वती के शरीर के मैल सेउत्पन्न होना, पार्वती का हिमालय की पुत्री होना आदि अनेक पौराणिक मान्यताओं का व्यंग्यात्मक शैली में निरसन किया है। हरिभद्र धूर्ताख्यान की कथा के माध्यम सेकुछ काल्पनिक बातें प्रस्तुत करतेहैं और फिर कहतेहैं कि यदि पुराणों में कही गई उपर्युक्त बातें सत्य हैं तोयेसत्य क्यों नहीं होसकतीं। इस प्रकार धूर्ताख्यान में वेव्यंग्यात्मक किंतु शिष्ट शैली में पौराणिक मिथ्या-विश्वासों की समीक्षा करतेहैं। इसी प्रकार द्विजवदनचपेटिका में भी उन्होंनेब्राह्मण परम्परा में पल रही मिथ्या-धारणाओं एवं वर्ण-व्यवस्था का सचोट खण्डन किया है। हरिभद्र सत्य के समर्थक हैं, किंतु अंधविश्वासों एवं मिथ्या मान्यताओं के वे कठोर समीक्षक भी।

तर्क या बुद्धिवाद का समर्थन

हरिभद्र में यद्यपि एक धार्मिक की श्रद्धा है किंतु वेश्रद्धा कोतर्क-विरोधी नहीं मानतेहैं। उनके लिए तर्करहित श्रद्धा उपादेय नहीं है। वेस्पष्ट रूप सेकहतेहैं कि न तोमहावीर के प्रति मेरा कोई राग है और न कपिल आदि के प्रति कोई द्वेष ही है-

पक्षपातोन मेवीरेन द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः॥

- लोकतत्त्वनिर्णय, 38

उनके कहनेका तात्पर्य यही है कि सत्य के गवेषक और साधना के पथिक कोपूर्वाग्रहों सेयुक्त होकर विभिन्न मान्यताओं की समीक्षा करनी चाहिए और उनमें जोभी युक्ति संगत लगेउसेस्वीकार करना चाहिए। यद्यपि इसके साथ ही वेबुद्धिवाद सेपनपनेवालेदोषों के प्रति भी सचेष्ट हैं। वेस्पष्ट रूप सेयह कहतेहैं कि युक्ति और तर्क का उपयोग केवल अपनी मान्यताओं की पुष्टि के लिए ही नहीं किया जाना चाहिए, अपितु सत्य की खोज के लिए किया जाना चाहिए-

आग्रही वत निनीषति युक्तिं तत्र यत्र तस्य मतिर्निविष्टा।
निष्पक्षपातस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र तस्य मतिरेति निवेशम्॥

आग्रही व्यक्ति अपनी युक्ति (तर्क) का भी प्रयोग वहीं करता है, जिसेवह सिद्ध अथवा खण्डित करना चाहता है, जबकि अनाग्रही या निष्पक्ष व्यक्ति जोउसेयुक्तिसंगत लगता है, उसेस्वीकार करता है। इस प्रकार हरिभद्र न केवल युक्ति या तर्क के समर्थक हैं, किंतु वेयह भी स्पष्ट करतेहैं कि तर्क या युक्ति का प्रयोग अपनी मान्यताओं की पुष्टि या अपनेविरोधी मान्यताओं के खण्डन के लिए न करके सत्य की गवेषणा के लिए करना चाहिए और जहां भी सत्य परिलक्षित होउसेस्वीकार करना चाहिए। इसी प्रकार वेशुष्क तार्किक न होकर सत्यनिष्ठ तार्किक हैं।

कर्मकाण्ड के स्थान पर सदाचार पर बल

हरिभद्र की एक विशेषता यह है कि उन्होंनेधर्म साधना कोकर्मकाण्ड के स्थान पर आध्यात्मिक पवित्रता और चारित्रिक निर्मलता के साथ जोड़नेका प्रयास किया है। यद्यपि जैन परम्परा में साधना के अंगों के रूप में दर्शन (श्रद्धा), ज्ञान और चारित्र (शील) कोस्वीकार किया गया है। हरिभद्र भी धर्म-साधना के क्षेत्र में इन तीनों का स्थान स्वीकार करतेहैं, किंतु वेयह मानतेहैं कि न तोश्रद्धा कोअंधश्रद्धा बनना चाहिए, न ज्ञान कोकुतर्क आश्रित होना चाहिए और न आचार कोकेवल बाह्यकर्मकाण्डों तक सीमित रखना चाहिए। वेकहतेहैं कि 'जिन' पर मेरी श्रद्धा का कारण राग-भाव नहीं है, अपितु उनके उपदेश की युक्तिसंगतता है। इस प्रकार वेश्रद्धा के साथ बुद्धि कोजोड़तेहैं, किंतु निरा तर्क भी उन्हें इष्ट नहीं है। वेकहतेहैं कि तर्क का वाग्जाल वस्तुतः एक विकृति है जोहमारी श्रद्धा एवं मानसिक शांति कोभंग करनेवाला है। वह ज्ञान का अभिमान उत्पन्न करनेके कारण भाव-शत्रु है। इसलिए मुक्ति के इच्छुक कोतर्क के वाग्जाल सेअपनेकोमुक्त रखना चाहिए।[21] वस्तुतः वेसम्यग्ज्ञान और तर्क में एक अंतर स्थापित करतेहैं। तर्क केवल विकल्पों का सृजन करता है, अतः उनकी दृष्टि में निरी तार्किकता आध्यात्मिक विकास में बाधक ही है। 'शास्त्र-वार्तासमुच्चय' में उन्होंनेधर्म के दोविभाग किए हैं- एक संज्ञान-योग और दूसरा पुण्य-लक्षण।[22] ज्ञानयोग वस्तुतः शाश्वत सत्यों की अपरोक्षानुभूति है और इस प्रकार वह तार्किक ज्ञान सेभिन्न है। हरिभद्र के अनुसार अंधश्रद्धा सेमुक्त होनेके लिए तर्क एवं युक्ति कोसत्य का गवेषक होना चाहिए, न कि खण्डन-मण्डनात्मक। खण्डन-मण्डनात्मक तर्क या युक्ति साधना के क्षेत्र में उपयोगी नहीं है, इस तथ्य की विस्तृत चर्चा उन्होंनेअपनेग्रंथ योगदृष्टिसमुच्चय में की है।[23] इसी प्रकार धार्मिक आचार कोभी वेशुष्क कर्मकाण्ड

सेपृथक् रखना चाहतेहैं। यद्यपि हरिभद्र नेकर्मकाण्डपरक ग्रंथ लिखेहैं, किंतु पं.सुखलाल संघवी नेप्रतिष्ठाकल्प आदि कोहरिभद्र द्वारा रचित माननेमें संदेह व्यक्त किया है। हरिभद्र के समस्त उपदेशात्मक साहित्य, श्रावक एवं मुनि-आचार सेसम्बंधित साहित्य कोदेखनेसेऐसा लगता है कि वेधार्मिक जीवन के लिए सदाचार पर ही अधिक बल देतेहैं। उन्होंनेअपनेग्रंथों में आचार सम्बंधी जिन बातों का निर्देश किया है वेभी मुख्यतया व्यक्ति की चारित्रिक निर्मलता और कषायों के उपशमन के निमित्त ही हैं। जीवन में कषाएं उपशांत हों, समभाव सधेयही उनकी दृष्टि में साधना का मुख्य उद्देश्य है। धर्म के नाम पर पनपनेवालेथोथेकर्मकाण्ड एवं छद्म जीवन की उन्होंनेखुलकर निंदा की है और मुनिवेश में ऐहिकता का पोषण करनेवालों कोआड़े हाथों लिया है, उनकी दृष्टि में धर्म साधना का अर्थ है-

अध्यात्मं भावना ध्यानं समता वृत्तिसंक्षयः।
मोक्षेण योजनाद्योग एष श्रेष्ठोयथोत्तरम्॥ - योगबिन्दु, 31

साधनागत विविधता में एकता का दर्शन

धर्म साधना के क्षेत्र में उपलब्ध विविधताओं का भी उन्होंनेसम्यक् समाधान खोजा है। जिस प्रकार 'गीता' में विविध देवों की उपासना कोयुक्तिसंगत सिद्ध करनेका प्रयत्न किया गया है, उसी प्रकार हरिभद्र नेभी साधनागत विविधताओं के बीच एक समन्वय स्थापित करनेका प्रयास किया है। वेलिखतेहैं कि जिस प्रकार राजा के विभिन्न सेवक अपनेआचार और व्यवहार में अलग-अलग होकर भी राजा के सेवक हैं- उसी प्रकार सर्वज्ञों द्वारा प्रतिपादित आचार-पद्धतियां बाह्यतः भिन्न-भिन्न होकर भी तत्त्वतः एक ही हैं। सर्वज्ञों की देशना में नाम आदि का भेद होता है, तत्त्वतः भेद नहीं होता है।24

हरिभद्र की दृष्टि में आचारगत और साधनागत जोभिन्नता है वह मुख्य रूप सेदोआधारों पर है। एक साधकों की रुचिगत विभिन्नता के आधार पर और दूसरी नामों की भिन्नता के आधार पर। वेस्पष्ट रूप सेकहतेहैं कि ऋषियों के उपदेश में जोभिन्नता है वह उपासकों की योग्यता के आधार पर है। जिस प्रकार वैद्य अलग-अलग व्यक्तियों कोउनकी प्रकृति की भिन्नता और रोग की भिन्नता के आधार पर अलग-अलग औषधि प्रदान करता है, उसी प्रकार महात्माजन भी संसाररूपी व्याधि हरण करनेहेतु साधकों की प्रकृति के अनुरूप साधना की भिन्न-भिन्न विधियां बतातेहैं।25 वेपुनः कहतेहैं कि ऋषियों के उपदेश की भिन्नता, उपासकों की प्रकृतिगत भिन्नता अथवा

देशकालगत भिन्नता के आधार पर होकर तत्त्वतः एक ही होती है। 26 वस्तुतः विषय-वासनाओं सेआक्रान्त लोगों के द्वारा ऋषियों की साधनागत विविधता के आधार पर स्वयं धर्म-साधना की उपादेयता पर कोई प्रश्नचिह्न लगाना अनुचित ही है। वस्तुतः हरिभद्र की मान्यता यह है कि धर्म-साधना के क्षेत्र में बाह्य आचारगत भिन्नता या उपास्य की नामगत भिन्नता बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है। महत्त्वपूर्ण यह है कि व्यक्ति अपनेजीवन में वासनाओं का कितना शमन कर सका है, उसकी कषाएं कितनी शांत हुई हैं और उसके जीवन में समभाव और अनासक्ति कितनी सधी है।

मोक्ष के सम्बंध में उदार दृष्टिकोण

हरिभद्र अन्य धर्माचार्यों के समान यह अभिनिवेश नहीं रखतेहैं कि मुक्ति केवल हमारी साधना-पद्धति या हमारेधर्म सेही होगी। उनकी दृष्टि में मुक्ति केवल हमारेधर्म में है- ऐसी अवधारणा ही भ्रान्त है। वेस्पष्ट रूप सेकहते हैं कि -

नासाम्बरत्वेन सिताम्बरत्वे, न तर्कवादेन च तत्त्ववादे।
न पक्षसेवाश्रयेन मुक्ति, कषाय मुक्ति किल मुक्तिरेव।।

अर्थात् मुक्ति न तोसफेद वस्त्र पहननेसेहोती है, न दिगम्बर रहनेसे, तार्किक वाद-विवाद और तत्त्वचर्चा सेभी मुक्ति प्राप्त नहीं होसकती। किसी एक सिद्धांत विशेष में आस्था रखनेया किसी व्यक्ति विशेष की सेवा करनेसेभी मुक्ति असम्भव है। मुक्ति तोवस्तुतः कषायों अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ सेमुक्त होनेसेहै। वेस्पष्ट रूप सेइस बात का प्रतिपादन करतेहैं कि मुक्ति का आधार कोई धर्म, सम्प्रदाय अथवा विशेष वेशभूषा नहीं है। वस्तुतः जोव्यक्ति समभाव की साधना करेगा, वीतराग दशा कोप्राप्त करेगा, वह मुक्त होगा। उनके शब्दों में -

सेयंबरोय आसंबरोय बुद्धोय अहव अण्णोवा।
समभावभावि अप्पा लहइ मुक्खं न संदेहो।।

अर्थात् जोभी समभाव की साधना करेगा वह निश्चित ही मोक्ष कोप्राप्त करेगा, फिर चाहेवह श्वेताम्बर होया दिगम्बर हो, बौद्ध होया अन्य किसी धर्म कोमाननेवाला हो।

साधना के क्षेत्र में उपास्य का नाम-भेद महत्त्वपूर्ण नहीं

हरिभद्र की दृष्टि में आराध्य के नाम-भेदों कोलेकर धर्म के क्षेत्र में विवाद

करना उचित नहीं है। लोकतत्त्वनिर्णय में वेकहतेहैं-

यस्य अनिखिलाश्च दोषा न सन्ति सर्वेगुणाश्च विद्यन्ते।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरोजिनोवा नमस्तस्मै ।।

वस्तुतः जिसके सभी दोष विनष्ट होचुके हैं और जिनमें सभी गुण विद्यमान हैं फिर उसेचाहेब्रह्मा कहा जाए, चाहेविष्णु, चाहेजिन कहा जाए, उसमें भेद नहीं। सभी धर्म और दर्शनों में उस परमतत्त्व या परमसत्ता कोराग-द्वेष, तृष्णा और आसक्ति सेरहित विषय-वासनाओं सेऊ पर उठी हुई पूर्णप्रज्ञ तथा परम कारुणिक माना गया है, किंतु हमारी दृष्टि उस परमतत्त्व के मूलभूत स्वरूप पर न होकर नामों पर टिकी होती है और इसी के आधार पर हम विवाद करतेहैं। जब कि यह नामों का भेद अपनेआप में कोई अर्थ नहीं रखता है। योगदृष्टिसमुच्चय में वेलिखतेहैं कि-

सदाशिवः परं ब्रह्म सिद्धात्मा तथतेति च।
शब्देस्तद् उच्यतेऽन्वर्थाद् एक एवैवमादिभिः ।।

अर्थात् सदाशिव, परमब्रह्म, सिद्धात्मा, तथागत आदि नामों में केवल शब्द भेद हैं, उनका अर्थ तोएक ही है। वस्तुतः यह नामों का विवाद तभी तक रहता है जब तक हम उस आध्यात्मिक सत्ता की अनुभूति नहीं कर पातेहैं। व्यक्ति तब वीतराग, वीततृष्णा या अनासक्ति की भूमिका का स्पर्श करता है तब उसके सामनेनामों का यह विवाद निरर्थक होजाता है। वस्तुतः आराध्य सेनामों की भिन्नता भाषागत भिन्नता है, स्वरूपगत भिन्नता नहीं। जोइन नामों के विवादों में उलझता है, वह अनुभूति सेवंचित होजाता है। वेकहतेहैं कि जोउस परमतत्त्व की अनुभूति कर लेता है उसके लिए यह शब्दगत समस्त विवाद निरर्थक होजातेहैं।

इस प्रकार हम देखतेहैं कि उदारचेता, समन्वयशील और सत्यनिष्ठ आचार्यों में हरिभद्र के समतुल्य किसी अन्य आचार्य कोखोज पाना कठिन है। अपनी इन विशेषताओं के कारण भारतीय दार्शनिकों के इतिहास में वेअद्वितीय और अनुपम हैं।

क्रांतदर्शी समालोचक : जैन परम्परा के संदर्भ में

हरिभद्र के व्यक्तित्व के सम्बंध में यह उक्ति अधिक सार्थक है- 'कुसुमों सेअधिक कोमल और वज्र सेअधिक कठोर।' उनके चिंतन में एक ओर उदारता है, समन्वयशीलता है, अपनेप्रतिपक्षी के सत्य कोसमझनेऔर स्वीकार करनेका विनम्र

प्रयास है तोदूसरी ओर असत्य और अनाचार के प्रति तीव्र आक्रोश भी है। दुराग्रह और दुराचार फ़िर चाहेवह अपनेधर्म-सम्प्रदाय में होया अपनेविरोधी के, उनकी समालोचना का विषय बनेबिना नहीं रहता है। वेउदार हैं, किंतु सत्याग्रही भी। वेसमन्वयशील हैं, किंतु समालोचक भी। वस्तुतः एक सत्य-द्रष्टा में येदोनों तत्त्व स्वाभाविक रूप सेही उपस्थित होतेहैं। जब वह सत्य की खोज करता है तोएक ओर सत्य को, चाहेफ़िर वह उसके अपनेधर्म-सम्प्रदाय में होया उसके प्रतिपक्षी में, वह सदाशयतापूर्वक उसेस्वीकार करता है, किंतु दूसरी ओर असत्य को, चाहेफ़िर वह उसके अपनेधर्म-सम्प्रदाय में होया उसके प्रतिपक्षी में , वह साहसपूर्वक उसेनकारता है। हरिभद्र के व्यक्तित्व का यही सत्याग्रही स्वरूप उनकी उदारता और क्रांतिकारिता का उत्स है। पूर्व में मैनेहरिभद्र के उदार और समन्वयशील पक्ष की विशेष रूप सेचर्चा की थी, अब मैं उनकी क्रांतिधर्मिता की चर्चा करना चाहूंगा।

क्रान्तदर्शी हरिभद्र

हरिभद्र धर्म-दर्शन में क्रांतिकारी तत्त्व वैसेतोउनके सभी ग्रंथों में कहीं न कहीं दिखाई देतेहैं, फ़िर भी शास्त्रवार्तासमुच्चय, धूर्ताख्यान और सम्बोधप्रकरण में वेविशेषरूप सेपरिलक्षित होतेहैं। जहां शास्त्रवार्तासमुच्चय और धूर्ताख्यान में वेदूसरों की कमियों कोउजागर करतेहैं वहीं सम्बोधप्रकरण में अपनेपक्ष की समीक्षा करतेहुए उसकी कमियों का भी निर्भीक रूप सेचित्रण करतेहैं।

हरिभद्र अपनेयुग के धर्म-सम्प्रदायों में उपस्थित अंतर और बाह्य के द्वैत कोउजागर करतेहुए कहतेहैं , 'लोग धर्म-मार्ग की बातें करतेहैं, किंतु सभी तोउस धर्म-मार्ग सेरहित हैं [27] '। मात्र बाहरी क्रियाकाण्ड धर्म नहीं है। धर्म तोवहां होता है जहां परमात्म-तत्त्व की गवेषणा हो। दूसरेशब्दों में, जहां आत्मानुभूति हो, 'स्व' कोजाननेऔर पानेका प्रयास हो। जहां परमात्म-तत्त्व कोजाननेऔर पानेका प्रयास नहीं है वहां धर्म-मार्ग नहीं है। वेकहतेहैं- जिसमें परमात्म-तत्त्व की मार्गणा है, परमात्मा की खोज और प्राप्ति है, वही धर्म-मार्ग मुख्य-मार्ग है [28] । आगेवेपुनः धर्म के मर्म कोस्पष्ट करतेहुए लिखतेहैं- जहां विषय-वासनाओं का त्याग हो, क्रोध, मान, माया और लोभरूपी कषायों सेनिवृत्ति हो, वही धर्म-मार्ग है। जिस धर्म-मार्ग या साधना-पथ में इसका अभाव है वह तो(हरिभद्र की दृष्टि में) नाम का धर्म है[29] । वस्तुतः धर्म के नाम पर जोकुछ हुआ है और होरहा है उसके सम्बंध में हरिभद्र की यह पीड़ा मर्मान्तक है। जहां

विषय-वासनाओं का पोषण होता हो, जहां घृणा-द्वेष और अहंकार के तत्त्व अपनी मुट्ठी में धर्म कोदबोचेहुए हों, उसेधर्म कहना धर्म की विडम्बना है। हरिभद्र की दृष्टि में वह धर्म नहीं, अपितु धर्म के नाम पर धर्म का आवरण डालेहुए कुछ अन्य अर्थात् अधर्म ही है। विषय-वासनाओं और कषायों अर्थात् क्रोधादि दुष्प्रवृत्तियों के त्याग के अतिरिक्त धर्म का अन्य कोई रूप होही नहीं सकता है। उन सभी लोगों की, जोधर्म के नाम पर अपनी वासनाओं और अहंकार के पोषण का प्रयत्न करतेहैं और मोक्ष कोअपनेअधिकार की वस्तु मानकर यह कहतेहैं कि मोक्ष केवल हमारेधर्म-मार्ग का आचरण करनेसेहोगा, समीक्षा करतेहुए हरिभद्र यहां तक कह देतेहैं कि धर्म-मार्ग किसी एक सम्प्रदाय की बपौती नहीं है, जोभी समभाव की साधना करेगा वह मुक्त होगा, वह चाहेश्वेताम्बर होया दिगम्बर, बौद्ध होया अन्य कोई[30]। वस्तुतः उस युग में जब साम्प्रदायिक दुरभिनिवेश आज की भांति ही अपनेचरम सीमा पर थे, यह कहना न केवल हरिभद्र की उदारता की सदाशयता का प्रतीक है, अपितु उनके एक क्रान्तदर्शी आचार्य होनेका प्रमाण भी है। उन्होंनेजैन-परम्परा के निक्षेप के सिद्धांत कोआधार बनाकर धर्म कोभी चार भागों में विभाजित कर दिया[31] -

(1) नामधर्म - धर्म का वह रूप जोधर्म कहलाता है, किंतु जिसमें धार्मिकता का कोई लक्षण नहीं है। वह धर्मतत्त्व सेरहित मात्र नाम का धर्म है।

(2) स्थापनाधर्म - जिन क्रियाकाण्डों कोधर्म मान लिया जाता है, वेवस्तुतः धर्म नहीं धार्मिकता के परिचायक बाह्य रूप मात्र हैं। पूजा, तप आदि धर्म के प्रतीक हैं, किंतु भावना के अभाव में वेवस्तुतः धर्म नहीं हैं। भावनारहित मात्र क्रियाकाण्ड स्थापना धर्म है।

(3) द्रव्यधर्म - वेआचार-परम्पराएं जोकभी धर्म थीं या धार्मिक समझी जाती थीं, किंतु वर्त्तमान संदर्भ में धर्म नहीं हैं। तत्त्वशून्य अप्रासंगिक बनी धर्म परम्पराएं ही द्रव्यधर्म हैं।

(4) भावधर्म - जोवस्तुतः धर्म है वही भाव धर्म है। यथा-समभाव की साधना, विषयकषाय सेनिवृत्ति आदि भावधर्म हैं।

हरिभद्र धर्म के इन चार रूपों में भावधर्म कोही प्रधान मानतेहैं। वेंकहतेहैं कि जिस प्रकार तक्रादि के संयोग, मंथन की प्रक्रिया और अग्नि द्वारा परितापन के फलस्वरूप दूध रूपी आत्मा घृत रूप परमात्मतत्त्व कोप्राप्त होता है। 32 वेस्पष्ट रूप

सेकहतेहैं कि यह जोभागवत धर्म है, वही विशुद्धि का हेतु है।[33] यद्यपि हरिभद्र के इस कथन का यह आशय भी नहीं लेना चाहिए कि हरिभद्र कर्मकाण्ड के पूर्णतः विरोधी हैं। उन्होंनेस्वयं ही सम्बोधप्रकरण की लगभग 50-60 गाथाओं में आत्मशुद्धि-निमित्त जिनपूजा और उसमें होनेवाली आशातनाओं का सुंदर चित्रण किया है। मात्र उनका प्रतिपाद्य यह है कि इन कर्मकाण्डों का मूल्य भावना-शुद्धि के आधार पर ही निर्धारित होता है।[34] यदि धार्मिक जीवन में वासना और कषायों का शमन और आत्म-विशुद्धि नहीं होती है तोकर्मकाण्ड का कोई मूल्य नहीं रह जाता है। वस्तुतः हरिभद्र साध्य की उपलब्धि के आधार पर ही साधन का मूल्यांकन करतेहैं। वेउन विचारकों में सेहैं जिन्हें धर्म के मर्म की पहचान है, अतः वेधर्म के नाम पर ढोंग, आडम्बर और लोकैषणा की पूर्ति के प्रयत्नों कोकोई स्थान नहीं देना चाहतेहैं। यही उनकी क्रान्तधर्मिता है।

हरिभद्र के युग में जैन-परम्परा में चैत्यवास का विकास होचुका था। अपनेआपकोश्रमण और त्यागी कहनेवाला मुनिवर्ग जिनपूजा और मंदिर-निर्माण के नाम पर न केवल परिग्रह का संचय कर रहा था, अपितु जिनद्रव्य (जिन प्रतिमा कोसमर्पित द्रव्य) का अपनी विषय-वासनाओं की पूर्ति में उपयोग भी कर रहा था। जिन-प्रतिमा और जिन-मंदिर तथाकथित श्रमणों की ध्यान-भूमि या साधना-भूमि न बनकर भोग-भूमि बन रहेथे। हरिभद्र जैसेक्रांतिदर्शी आचार्य के लिए यह सब देख पाना सम्भव नहीं था, अतः उन्होंनेइसके विरोध में अपनी कलम चलानेका निर्णय लिया। वेलिखतेहैं- द्रव्य-पूजा तोगृहस्थों के लिए है, मुनि के लिए तोकेवल भाव-पूजा है। जोकेवल मुनि वेशधारी हैं, मुनि-आचार का पालन नहीं करतेहैं, उनके लिए द्रव्य-पूजा जिन-प्रवचन की निंदा का कारण होनेसेउचित नहीं है (सम्बोधप्रकरण, 1/273)। वस्तुतः यहां हरिभद्र नेमंदिर-निर्माण, प्रतिष्ठा, पूजा आदि कार्यों में उलझनेपर मुनि-वर्ग का जोपतन होसकता था, उसका पूर्वानुमान कर लिया था। यति संस्था के विकास सेउनका यह अनुमान सत्य ही सिद्ध हुआ। इस सम्बंध में उन्होंनेजोकुछ लिखा उसमें एक ओर उनके युग के समाज के प्रति उनकी आत्म-पीड़ा मुखर होरही है, तोदूसरी ओर उसमें एक धर्मक्रांति का स्वर भी सुनाई देरहा है। जिन-द्रव्य कोअपनी वासना-पूर्ति का साधन बनानेवालेउन श्रावकों एवं तथाकथित श्रमणों कोललकारतेहुए वेकहतेहैं- जोश्रावक जिन-प्रवचन और ज्ञान-दर्शन गुणों की प्रभावना और वृद्धि करनेवालेजिन-द्रव्य का जिनाज्ञा के विपरीत उपयोग करतेहैं,

दोहन करतेहैं अथवा भक्षण करतेहैं, वेक्रमशः भवसमुद्र में भ्रमण करनेवाले, दुर्गति में जानेवालेऔर अनन्त संसारी होतेहैं।[35] इसी प्रकार जोसाधु जिनद्रव्य का भोजन करता है वह प्रायश्चित् का पात्र है।[36] वस्तुतः यह सब इस तथ्य का भी सूचक है कि उस युग में धर्म साधना का माध्यम न रहकर वासना-पूर्ति का माध्यम बन रहा था। अतः हरिभद्र जैसेप्रबुद्ध आचार्य के लिए उसके प्रति संघर्ष करना आवश्यक होगया।

सम्बोधप्रकरण में हरिभद्र नेअपनेयुग के जैन साधुओं का जोचित्रण किया है वह एक ओर जैन धर्म में साधु-जीवन के नाम पर जोकुछ होरहा था उसके प्रति हरिभद्र की पीड़ा कोप्रदर्शित करता है, तोदूसरी ओर यह भी बताता है कि हरिभद्र तत्कालीन परिस्थितियों के मूक दर्शक और तटस्थ समीक्षक ही नहीं थे, अपितु उनके मन में सामाजिक और धार्मिक क्रांति की एक तीव्र आकांक्षा भी थी। वेअपनी समालोचना के द्वारा जनसमाज में एक परिवर्तन लाना चाहतेथे।

तत्कालीन तथाकथित श्रमणों के आचार-व्यवहार पर कटाक्ष करतेहुए वेलिखतेहैं कि जिन-प्रवचन में पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील, संसक्त और यथाछन्न (स्वेच्छाचारी)- येपांचों अवन्दनीय हैं। यद्यपि येलोग जैन मुनि का वेश धारण करतेहैं, किंतु इनमें मुनित्व का लक्षण नहीं है। मुनि-वेश धारण करके भी क्या-क्या दुष्कर्म करतेथे, इसका सजीव चित्रण तोवेअपनेग्रंथ सम्बोधप्रकरण के द्वितीय अधिकार में 'कुगुरु गुर्वाभास पार्श्वस्थ आदि स्वरूप' के अंतर्गत 171 गाथाओं में विस्तार सेकरतेहैं। इस संक्षिप्त निबंध में उन सबकी समग्र चर्चा एवं व्याख्या करना तोसम्भव नहीं है, फिर भी हरिभद्र की कठोर समालोचक दृष्टि का परिचय देनेके लिए कुछ विवरण देना भी आवश्यक है। वेलिखतेहैं, येमुनि-वेशधारी तथाकथित श्रमण आवास देनेवालेका या राजा के यहां का भोजन करतेहैं, बिना कारण ही अपनेलिए लाए गए भोजन कोस्वीकार करतेहैं, भिक्षाचर्या नहीं करतेहैं, आवश्यक कर्म अर्थात् प्रतिक्रमण आदि श्रमण-जीवन के अनिवार्य कर्त्तव्य का पालन नहीं करतेहैं, कौतुक कर्म, भूत-कर्म, भविष्य-फल, एवं निमित्त-शास्त्र के माध्यम सेधन-संचय करतेहैं, येघृत-मक्खन आदि विकृतियों कोसंचित करके खातेहैं, सूर्य-प्रमाण भोजी होतेहैं अर्थात् सूर्योदय सेसूर्यास्त तक अनेक बार खातेरहतेहैं, न तोसाधू-समूह (मण्डली) में बैठकर भोजन करतेहैं और न केशलुंचन करतेहैं।[37] फिर येकरतेक्या हैं ? हरिभद्र लिखतेहैं कि

वेसवारी में घूमतेहैं, अकारण कटि वस्त्र बांधतेहैं और सारी रात निश्चेष्ट होकर सोतेरहतेहैं। न आते-जातेसमय प्रमार्जन करतेहैं, न अपनी उपाधि (सामग्री) का प्रति-लेखन करतेहैं और न स्वाध्याय ही करतेहैं। अनेषणीय पुष्प, फूल और पेय ग्रहण करतेहैं। भोज-समारोहों में जाकर सरस आहार ग्रहण करतेहैं। जिन-प्रतिमा का रक्षण एवं क्रय-विक्रय करतेहैं। उच्चाटन आदि कर्म करतेहैं। नित्य दिन में दोबार भोजन करतेहैं तथा लवंग, ताम्बूल और दूध आदि विकृतियों का सेवन करतेहैं। विपुल मात्रा में दुकूल आदि वस्त्र, बिस्तर, जूते, वाहन आदि रखतेहैं। स्त्रियों के समक्ष गीत गातेहैं। आर्यिकाओं के द्वारा लाई सामग्री लेतेहैं। लोक-प्रतिष्ठा के लिए मुण्डन करवातेहैं तथा मुखवस्त्रिका एवं रजोहरण धारण करतेहैं। चैत्यों में निवास करतेहैं, (द्रव्य) पूजा आदि कार्य आरम्भ करवातेहैं, जिन-मंदिर बनवातेहैं, हिरण्य-सुवर्ण रखतेहैं, नीच कुलों कोद्रव्य देकर उनसेशिष्य ग्रहण करतेहैं। मृतक-कृत्य निमित्त जिन-पूजा करवातेहैं, मृतक के निमित्त जिन-दान (चढ़ावा) करवातेहैं। धन-प्राप्ति के लिए गृहस्थों के समक्ष अंग-सूत्र आदि का प्रवचन करतेहैं। अपनेहीनाचारी मृत गुरु के निमित्त नदिकर्म, बलिकर्म आदि करतेहैं। पाठ-महोत्सव रचातेहैं। व्याख्यान में महिलाओं सेअपना गुणगान करवातेहैं। यति केवल स्त्रियों के सम्मुख और आर्यिकाएं केवल पुरुषों के सम्मुख व्याख्यान करती हैं। इस प्रकार जिन-आज्ञा का अपलाप कर मात्र अपनी वासनाओं का पोषण करतेहैं। येव्याख्यान करके गृहस्थों सेधन की याचना करतेहैं। येतोज्ञान के भी विक्रेता हैं। ऐसेआर्यिकाओं के साथ रहनेऔर भोजन करनेवालेद्रव्य संग्राहक, उन्मार्ग के पक्षधर मिथ्यात्वपरायण न तोमुनि कहेजा सकतेहैं और न आचार्य ही।38 ऐसेलोगों का वंदन करनेसेन तोकीर्ति होती है और न निर्जरा ही, इसके विपरीत शरीर कोमात्र कष्ट और कर्मबंधन होता है।[39]

वस्तुतः जिस प्रकार गंदगी में गिरी हुई माला कोकोई भी धारण नहीं करता है, वैसेही येअपूज्य हैं।[40] हरिभद्र ऐसेवेशधारियों कोफटकारतेहुए कहतेहैं- यदि महापूजनीय यति (मुनि) वेश धारण करके शुद्ध चरित्र का पालन तुम्हारेलिए शक्य नहीं है तोफिर गृहस्थ वेश क्यों नहीं धारण कर लेतेहो? अरे, गृहस्थवेश में कुछ प्रतिष्ठा तोमिलेगी, किंतु मुनि-वेश धारण करके यदि उसके अनुरूप आचरण नहीं करोगेतोउल्टे निंदा के ही पात्र बनोगे।[41] यह उन जैसेसाहसी आचार्य का कार्य होसकता है जोअपनेसहवर्गियों कोइतनेस्पष्ट रूप सेकुछ कह सके। जैसा कि मैंनेपूर्व

पृष्ठों में चर्चा की है, हरिभद्र तोइतनेउदार हैं कि वेअपनी विरोधी दर्शन-परम्परा के आचार्यों कोभी महामुनि, सुवैद्य जैसेउत्तम विशेषणों सेसम्बोधित करते हैं, किंतु वेउतनेही कठोर होना भी जानतेहैं, विशेष रूप सेउनके प्रति जोधार्मिकता का आवरण डालकर भी अधार्मिक हैं। ऐसेलोगों के प्रति यह क्रांतिकारी आचार्य कहता है-

ऐसेदुश्शील, साध-पिशाचों कोजोभक्तिपूर्वक वंदन नमस्कार करता है, क्या वह महापाप नहीं है?[42] अरे! इन सुखशील स्वच्छन्दाचारी, मोक्ष-मार्ग के बैरी, आज्ञाभ्रष्ट साधुओं कोसंयति अर्थात् मुनि मत कहो। अरे! देवद्रव्य के भक्षण में तत्पर, उन्मार्ग के पक्षधर और साधुजनों कोदूषित करनेवालेइन वेशधारियों कोसंघ मत कहो। अरे, इन अधर्म और अनीति के पोषक, अनाचार का सेवन करनेवालेऔर साधुता के चोरों कोसंघ मत कहो। जोऐसे(दुराचारियों के समूह) कोराग या द्वेष के वशीभूत होकर भी संघ कहता है उसेभी छेद-प्रायश्चित्त होता है।[43] हरिभद्र पुनः कहतेहैं- जिनाज्ञा का अपलाप करनेवालेइन मुनि वेशधारियों के संघ में रहनेकी अपेक्षा तोगर्भवास और नरकवास कहीं अधिक श्रेयस्कर है।[44]

हरिभद्र की यह शब्दावली इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि धर्म के नाम पर अधर्म का पोषण करनेवालेअपनेही सहवर्गियों के प्रति उनके मन में कितना विद्रोह एवं आक्रोश है। वेतत्कालीन जैन-संघ कोस्पष्ट चेतावनी देतेहैं कि ऐसेलोगों कोप्रश्रय मत दो, उनका आदर-सत्कार मत करो, अन्यथा धर्म का यथार्थ स्वरूप धूमिल होजाएगा। वेकहतेहैं कि यदि आम और नीम की जड़ों का समागम होजाए तोनीम का कुछ नहीं बिगड़ेगा, किंतु उसके संसर्ग में आम का अवश्य विनाश होजाएगा।[45] वस्तुतः हरिभद्र की यह क्रान्तदर्शिता यथार्थ ही है, क्योंकि दुराचारियों के सान्निध्य में चारित्रिक पतन की सम्भावना प्रबल होती है। वेस्वयं कहतेहैं, जोजिसकी मित्रता करता है, तत्काल वैसा होजाता है। तिल जिस फूल में डाल दिए जातेहैं उसी की गंध के होजातेहैं।[46] हरिभद्र इस माध्यम सेसमाज कोउन लोगों कोसतर्क रहनेका निर्देश देतेहैं जोधर्म का नकाब डालेअधर्म में जीतेहैं, क्योंकि ऐसेलोग दुराचारियों की अपेक्षा भी समाज के लिए अधिक खतरनाक हैं। आचार्य ऐसेलोगों पर कटाक्ष करतेहुए कहतेहैं- जिस प्रकार कुलवधू का वेश्या के घर जाना निषिद्ध है, उसी प्रकार सुश्रावक के लिए हीनाचारी यति का सान्निध्य निषिद्ध है। दुराचारी अगीतार्थ के वचन सुननेकी अपेक्षा तोदृष्टि विष सर्प का सान्निध्य या हलाहल विष का पान कहीं अधिक अच्छा है (क्योंकि येतोएक जीवन

का विनाश करतेहैं, जबकि दुराचारी का सान्निध्य तोजन्म-जन्मांतर का विनाश कर देता है)।[47]

फिर भी ऐसा लगता है कि इस क्रान्तदर्शी आचार्य की बात अनसुनी होरही थी क्योंकि शिथिलाचारियों के अपनेतर्क थे। वेलोगों के सम्मुख कहतेथेकि सामग्री (शरीर-सामर्थ्य) का अभाव है। वक्र जड़ों का काल है। दुषमा काल में विधि मार्ग के अनुरूप आचरण कठिन है। यदि कठोर आचार की बात कहेंगेतोकोई मुनि व्रत धारण नहीं करेगा। तीर्थोच्छेद और सिद्धांत के प्रवर्त्तन का प्रश्न है, हम क्या करें[48]। उनके इन तर्कों सेप्रभावित होमूर्ख जन-साधारण कह रहा था कि कुछ भी होवेश तोतीर्थंकर प्रणीत हैं, अतः वंदनीय है। हरिभद्र भारी मन में सेमात्र यही कहतेहैं कि मैं अपनेसिर की पीड़ा किससेकहूं।[49]

किंतु यह तोप्रत्येक क्रांतिकारी की नियति होती है। प्रथम क्षण में जनसाधारण भी उसके साथ नहीं होता है। अतः हरिभद्र का इस पीड़ा सेगुजरना उनके क्रांतिकारी होनेका ही प्रमाण है। सम्भवतः जैन-परम्परा में यह प्रथम अवसर था, जब जैन समाज के तथाकथित मुनि वर्ग कोइतना स्पष्ट शब्दों में किसी आचार्य नेलताड़ा हो। वेस्वयं दुःखी मन सेकहतेहैं- हेप्रभु! जंगल में निवास और दरिद्र का साथ अच्छा है, अरेव्याधि! और मृत्यु भी श्रेष्ठ है, किंतु इन कुशीलों का सान्निध्य अच्छा नहीं है। अरे! (अन्य परम्परा के) हीनाचारी का साथ भी अच्छा होसकता है, किंतु इन कुशीलों का साथ तोबिल्कुल ही अच्छा नहीं है। क्योंकि हीनाचारी तोअल्प नाश करता है, किंतु येतोशीलरूपी निधि का सर्वनाश ही कर देतेहैं।[50] वस्तुतः इस कथन के पीछे आचार्य की एक मनोवैज्ञानिक दृष्टि है। क्योंकि जब हम किसी कोइतर परम्परा का मान लेतेहैं तोउसकी कमियों कोकमियों के रूप में ही जानतेहैं। अतः उसके सम्पर्क के कारण संघ में उतनी विकृति नहीं आती है, जितनी जैन मुनि का वेश धारण कर दुराचार का सेवन करनेवालेके सम्पर्क से। क्योंकि उसके सम्पर्क सेउस पर श्रद्धा होनेपर व्यक्ति का और संघ का जीवन पतित बन जाएगा। यदि सद्भाग्य सेअश्रद्धा हुई तोवह जिन प्रवचन के प्रति अश्रद्धा कोजन्म देगा (क्योंकि सामान्यजन तोशास्त्र नहीं वरन् उस शास्त्र के अनुगामी का जीवन देखता है) फलतः उभयतोसर्वनाश का कारण होगी, अतः आचार्य हरिभद्र बार-बार जिन-शासन-रसिकों कोनिर्देश देतेहैं- ऐसेजिन शासन के कलंक, शिथिलाचारियों और दुराचारियों की तोछाया सेभी दूर रहो, क्योंकि

येतुम्हारेजीवन, चारित्रबल और श्रद्धा सभी कोचौपट कर देंगे। हरिभद्र कोजिन-शासन के विनाश का खतरा दूसरों सेनहीं, अपनेही लोगों सेअधिक लगा। कहा भी है

इस घर कोआग लग गई घर के चिराग से।

वस्तुतः एक क्रान्तदर्शी आचार्य के रूप में हरिभद्र का मुख्य उद्देश्य था जैन संघ में उनके युग में जोविकृतियां आ गई थीं, उन्हें दूर करना। अतः उन्होंनेअपनेही पक्ष की कमियों कोअधिक गम्भीरता सेदेखा। जोसच्चेअर्थ में समाज-सुधारक होता है, जोसमाजिक जीवन में परिवर्तन लाना चाहता है, वह प्रमुख रूप सेअपनी ही कमियों कोखोजता है। हरिभद्र नेइस रूप में सम्बोधप्रकरण में एक क्रांतिकारी की भूमिका निभाई है। क्रांतिकारी के दोकार्य होतेहैं, एक तोसमाज में प्रचलित विकृत मान्यताओं की समीक्षा करना और उन्हें समाप्त करना, किंतु मात्र इतनेसेउसका कार्य पूरा नहीं होता है। उसका दूसरा कार्य होता है सत् मान्यताओं कोप्रतिष्ठित या पुनः प्रतिष्ठत करना। हम देखतेहैं कि आचार्य हरिभद्र नेदोनों बातों कोअपनी दृष्टि में रखा है।

उन्होंनेअपनेग्रंथ सम्बोधप्रकरण में देव, गुरु, धर्म, श्रावक आदि का सम्यक् स्वरूप कैसा होना चाहिए, इसकी भी विस्तृत व्याख्या की है। हरिभद्र नेजहां वेशधारियों की समीक्षा की है, वहीं आगमोक्त दृष्टि सेगुरु कैसा होना चाहिए, इसकी विस्तृत विवेचना भी की है। हम उसके विस्तार में न जाकर संक्षेप में यह कहेंगेकि हरिभद्र की दृष्टि में जोपांच महाव्रतों, पांच समितियों, तीन गुप्तियों के पालन में तत्पर है जोजितेन्द्रिय, संयमी, परिषहजयी, शुद्ध आचरण करनेवाला और सत्य मार्ग कोबतानेवाला है, वही सुगुरु है।[51]

हरिभद्र के युग में गुरु के सम्बंध में एक प्रकार का वैयक्तिक अभिनिवेश विकसित होगया था। कुलगुरु की वैदिक अवधारणा की भांति प्रत्येक गुरु के आस-पास एक वर्ग एकत्रित होरहा था, जोउन्हें अपना गुरु मानता था तथा अन्य कोगुरु में स्वीकार नहीं करता था। श्रावकों का एक विशेष समूह एक विशेष आचार्य कोअपना गुरु मानता था, जैसा कि आज भी देखा जाता है। हरिभद्र नेइस परम्परा में साम्प्रदायिकता के दुरभिनिवेश के बीज देख लिए थे। उन्हें यह स्पष्ट लग रहा था कि इससेसाम्प्रदायिक अभिनिवेश दृढ़ होंगे। समाज विभिन्न छोटे-छोटे वर्गों में-बंट जाएगा। इसके विकास का दूसरा मुख्य खतरा यह था कि गुणपूजक जैन धर्म व्यक्तिपूजक बन जाएगा और वैयक्तिक रागात्मकता के कारण चारित्रिक दोषों के

बावजूद एक विशेष वर्ग की, एक विशेष आचार्य की इस परम्परा सेरागात्मकता जुड़ी रहेगी। युग-द्रष्टा इस आचार्य नेसामाजिक विकृति कोसमझा और स्पष्ट रूप सेनिर्देश दिया- श्रावक का कोई अपना और पराया गुरु नहीं होता है, जिनाज्ञा के पालन में निरत सभी उसके गुरु हैं।[52] काश, हरिभद्र के द्वारा कथित इस सत्य कोहम आज भी समझ सकें तोसमाज की टूटी हुई कड़ियों कोपुनः जोड़ा जा सकता है।

कान्तदर्शी समालोचक : अन्य परम्पराओं के संदर्भ में

पूर्व में हमनेजैन परम्परा में व्याप्त अंधविश्वासों एवं धर्म के नाम पर होनेवाली आत्म-प्रवंचनाओं के प्रति हरिभद्र के क्रांतिकारी अवदान की चर्चा सम्बोधप्रकरण के आधार पर की है। अब मैं अन्य परम्पराओं में प्रचलित अंधविश्वासों की हरिभद्र द्वारा की गई शिष्ट समीक्षा कोप्रस्तुत करूंगा।

हरिभद्र की कान्तदर्शी दृष्टि जहां एक ओर अन्य धर्म एवं दर्शनों में निहित सत्य कोस्वीकार करती है, वहीं दूसरी ओर उनकी अयुक्तिसंगत कपोलकल्पनाओं की व्यंग्यात्मक शैली में समीक्षा भी करती है। इस सम्बंध में उनका धूर्ताख्यान नामक ग्रंथ विशेष महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रंथ की रचना का मुख्य उद्देश्य भारत (महाभारत), रामायण और पुराणों की काल्पनिक और अयुक्तिसंगत अवधारणाओं की समीक्षा करना है। यह समीक्षा व्यंग्यात्मक शैली में है। धर्म के सम्बंध में कुछ मिथ्या विश्वास युगों सेरहेहैं, फिर भी पुराण-युग में जिस प्रकार मिथ्या-कल्पनाएं प्रस्तुत की गईं- वेभारतीय मनीषा में दिवालियेपन की सूचक सी लगती हैं। इस पौराणिक प्रभाव सेही जैन-परम्परा में भी महावीर के गर्भ-परिवर्तन, उनके अंगूठे कोदबानेमात्र सेमेरु-कम्पन जैसी कुछ चामत्कारिक घटनाएं प्रचलित हुईं। यद्यपि जैन-परम्परा में भी चक्रवर्ती, वासुदेव आदि की रानियों की संख्या एवं उनकी सेना की संख्या, तीर्थंकरों के शरीर-प्रमाण एवं आयु आदि के विवरण सहज विश्वसनीय तोनहीं लगतेहैं, किंतु तार्किक असंगति सेयुक्त नहीं हैं। सम्भवतः यह सब भी पौराणिक परम्परा का प्रभाव था जिसेजैन परम्परा कोअपनेमहापुरुषों की अलौकिकता कोबतानेहेतु स्वीकार करना पड़ा था, फिर भी यह मानना होगा कि जैन-परम्परा में ऐसी कपोल-कल्पनाएं अपेक्षाकृत बहुत ही कम हैं। साथ ही महावीर के गर्भ-परिवर्तन की घटना, जोमुख्यतः ब्राह्मण की अपेक्षा क्षत्रिय की श्रेष्ठता स्थापित करनेहेतु गढ़ी गई थी, के अतिरिक्त, सभी पर्याप्त परवर्ती काल की हैं और पौराणिक युग की ही देन हैं और इनमें कपोल-काल्पनिकता का पुट भी अधिक

नहीं है। गर्भ-परिवर्तन की घटना कोछोड़कर, जिसेआज विज्ञान नेसम्भव बना दिया है, अविश्वसनीय और अप्राकृतिक रूप सेजन्म लेनेका जैन परम्परा में एक भी आख्यान नहीं है, जबकि पुराणों में ऐसेहजार सेअधिक आख्यान हैं। जैन-परम्परा सदैव तर्कप्रधान रही है, यही कारण था कि महावीर की गर्भ-परिवर्तन की घटना कोभी उसके एक वर्ग नेस्वीकार नहीं किया।

हरिभद्र के ग्रंथों का अध्ययन करनेसेयह स्पष्ट होजाता है कि येएक ऐसेआचार्य हैं जोयुक्ति कोप्रधानता देतेहैं। उनका स्पष्ट कथन है कि महावीर नेहमें कोई धन नहीं दिया है और कपिल आदि ऋषियों नेहमारेधन कोअपहरण नहीं किया है, अतः हमारा न तोमहावीर के प्रति राग है और न कपिल आदि ऋषियों के प्रति द्वेष। जिसकी भी बात युक्तिसंगत होउसेग्रहण करना चाहिए।[53] इस प्रकार हरिभद्र तर्क कोही श्रद्धा का आधार मानकर चलतेहैं। जैन-परम्परा के अन्य आचार्यों के समान वेभी श्रद्धा के विषय देव, गुरु और धर्म के यथार्थ स्वरूप के निर्णय के लिए क्रमशः वीतरागता, सदाचार और अहिंसा कोकसौटी मानकर चलतेहैं और तर्क या युक्ति सेजोइन कसौटियों पर खरा उतरता है, उसेस्वीकार करनेकी बात कहतेहैं। जिस प्रकार सम्बोधप्रकरण में मुख्य रूप सेगुरु के स्वरूप की समीक्षा करतेहैं उसी प्रकार धूर्ताख्यान में वेपरोक्षतः देव या आराध्य के स्वरूप की समीक्षा करतेप्रतीत होतेहैं। वेयह नहीं कहतेहैं कि ब्रह्मा, विष्णु एवं महादेव हमारेआराध्य नहीं हैं। वेतोस्वयं ही कहतेहैं जिसमें कोई भी दोष नहीं है और जोसमस्त गुणों सेयुक्त है वह ब्रह्मा हो, विष्णु होया महादेव हो, उसेमैं प्रणाम करता हूं[54]। उनका कहना मात्र यह है कि पौराणिकों नेकपोल-कल्पनाओं के आधार पर उनके चरित्र एवं व्यक्तित्व कोजिस अतर्कसंगत एवं भ्रष्ट रूप में प्रस्तुत किया है उससेन केवल उनका व्यक्तित्व धूमिल होता है, अपितु वेजन-साधारण की अश्रद्धा का कारण बनतेहैं।

धूर्ताख्यान के माध्यम सेहरिभद्र ऐसेअतर्कसंगत अंधविश्वासों सेजन-साधारण कोमुक्त करना चाहतेहैं, जिनमें आराध्य और उपास्य देवों कोचरित्रहीन के रूप में प्रस्तुत किया गया है। उदाहरण के रूप में चंद्र, सूर्य, इंद्र, वायु, अग्नि और धर्म का कुमारी एवं बाद में पाण्डु पत्नी कुन्ती सेयौन-सम्बंध स्थापित कर पुत्र उत्पन्न करना, गौतम ऋषि की पत्नी अहिल्या सेइंद्र द्वारा अनैतिक रूप में यौन-सम्बंध स्थापित करना, लोकव्यापी विष्णु का कामी-जनों के समान गोपियों के लिए उद्विग्न होना आदि

कथानक इन देवों की गरिमा कोखण्डित करतेहैं। इसी प्रकार हनुमान का अपनी पूंछ में लंका कोघेर लेना अथवा पूरेपर्वत कोउठा लाना, सूर्य और अग्नि के साथ सम्भोग करके कुन्ती का न जलना, गंगा का शिव की जटा में समा जाना, द्रोणाचार्य का द्रोण से, कर्ण का कान से, कीचक का बांस की नली सेएवं रक्त कुण्डलिन् का रक्तबिंदु सेजन्म लेना, अण्डे सेजगत् की उत्पत्ति, शिवलिंग का विष्णु द्वारा अंत न पाना, किंतु उसी लिंग का पार्वती की योनि में समा जाना, जटायु के शरीर कोपहाड़ के समान मानना, रावण द्वारा अपनेसिरों कोकाटकर महादेव कोअर्पण करना और उनका पुनः जुड़ जाना, बलराम का माया द्वारा गर्भ-परिवर्तन, बालक श्रीकृष्ण के पेट में समग्र विश्व का समा जाना, अगस्त्य द्वारा समुद्र-पान और जुह्नु के द्वारा गंगापान करना, कृष्ण द्वारा गोवर्धन उठा लेना आदि पुराणों में वर्णित अनेक घटनाएं या तोउन महान् पुरुषों के व्यक्तित्व कोधूमिल करती है या आत्म-विरोधी हैं अथवा फिर अविश्वसनीय है। यद्यपि यह विचारणीय है कि महावीर के गर्भ-परिवर्तन की घटना, जोकि निश्चित ही हरिभद्र के पूर्व पूर्णतः मान्य होचुकी थी, कोस्वीकार करके भी हरिभद्र बलराम के गर्भ-परिवर्तन कोकैसेअविश्वसनीय कह सकतेहैं। यहां यह भी स्मरणीय है कि हरिभद्र धूर्ताख्यान में एक धूर्त द्वारा अपनेजीवन में घटित अविश्वसनीय घटनाओं का उल्लेख करवाकर फिर दूसरेधूर्त सेयह कहलवा देतेहैं कि यदि भारत (महाभारत), रामायण आदि में घटित उपर्युक्त घटनाएं सत्य हैं, तोफिर यह भी सत्य होसकता है।

हरिभद्र द्वारा व्यंग्यात्मक शैली में रचित इस ग्रंथ का उद्देश्य तोमात्र इतना ही है कि धर्म के नाम पर पलनेवालेअंधविश्वासों कोनष्ट किया जाए और पौराणिक कथाओं में देव या महापुरुष के रूप में मान्य व्यक्तित्वों के चरित्र कोअनैतिक रूप में प्रस्तुत करके उसकी आड़ में जोपुरोहित वर्ग अपनी दुश्चरित्रता का पोषण करना चाहता था, उसका पर्दाफाश किया जाए। उस युग का पुरोहित प्रथम तोइन महापुरुषों के चरित्रों कोअनैतिक रूप में प्रस्तुत कर और उसके आधार पर यह कहकर कि यदि कृष्ण गोपियों के साथ छेड़छाड़ कर सकतेहैं, विवाहिता राधा के साथ अपना प्रेम-प्रसंग चला सकतेहैं, यदि इंद्र महर्षि गौतम की पत्नी के साथ छल सेसम्भोग कर सकता है तोफिर हमारेद्वारा यह सब करना दुराचार कैसेकहा जा सकता है? वस्तुतः जिस प्रकार सम्बोधप्रकरण में वेअपनी परम्परा के श्रमण वेशधारी दुश्चरित्र कुगुरुओं कोफटकारतेहैं, उसी प्राकर धूर्ताख्यान में वेब्राह्मण परम्परा के तथाकथित धर्म के ठेकेदारों कोलताड़तेहैं, फिर भी हरिभद्र की फटकारनेकी दोनों शैलियों में बहुत बड़ा

अंतर है। सम्बोधप्रकरण में वेसीधेफटकारतेहैं जब कि धूर्ताख्यान में व्यंग्यात्मक शैली में। इसमें हरिभद्र की एक मनोवैज्ञानिक दृष्टि छिपी हुई है। हमें जब अपनेघर के किसी सदस्य कोकुछ कहना होता है तोपरोक्ष रूप में तथा सभ्य शब्दावली का प्रयोग करतेहैं। हरिभद्र धूर्ताख्यान में इस दूसरी व्यंग्यपरक शिष्ट शैली का प्रयोग करतेहैं और अन्य परम्परा के देव और गुरु पर सीधा आक्षेप नहीं करतेहैं।

दूसरेधूर्ताख्यान, शास्त्रवार्तासमुच्चय, योगदृष्टिसमुच्चय, लोकतत्त्वनिर्णय, सावयपण्णत्ति आदि सेयह भी स्पष्ट होजाता है कि आराध्य या उपास्य के नाम के सम्बंध में हरिभद्र के मन में कोई आग्रह नहीं है, मात्र आग्रह है तोइस बात का कि उसका चरित्र निर्दोष और निष्कलंक हो। धूर्ताख्यान में उन्होंनेउन सबकी समालोचना की है जोअपनी वासनाओं की पुष्टि के निमित्त अपनेउपास्य के चरित्र कोधूमिल करतेहैं। हम यह अच्छी तरह जानतेहैं कि कृष्ण के चरित्र में राधा और गोपियों कोडाल कर हमारेपुरोहित वर्ग नेक्या-क्या नहीं किया?

हरिभद्र इस सम्बंध में सीधेतोकुछ नहीं कहतेहैं, मात्र एक प्रश्न चिह्न छोड़ देतेहैं कि सराग और सशस्त्र देव में देवत्व (उपास्य) की गरिमा कहां तक ठहर पाएगी। अन्य परम्पराओं के देव और गुरु के सम्बंध में उनकी सौम्य और व्यंग्यात्मक शैली जहां पाठक कोचिंतन के लिए विवश कर देती है, वहीं दूसरी ओर वह उनके क्रांतिकारी, साहसी व्यक्तित्व कोप्रस्तुत कर देती है। हरिभद्र सम्बोधप्रकरण में स्पष्ट कहतेहैं कि रागी-देव, दुराचारी-गुरु और दूसरों कोपीड़ा पहुंचानेवाली प्रवृत्तियों कोधर्म मानना, धर्म साधना के सम्यक् स्वरुप कोविकृत करना है। अतः हमें मिथ्या विश्वासों सेऊपर उठना होगा। इस प्रकार हरिभद्र जनमानस का अंधविश्वासों सेमुक्त करानेका प्रयास कर क्रांतदर्शी का प्रमाण प्रस्तुत करतेहैं।

वस्तुतः हरिभद्र के व्यक्तित्व में एक ओर उदारता और समभाव हैं तोदूसरी ओर सत्यनिष्ठा और स्पष्टवादिता भी है। उनका व्यक्तित्व अनेक सद्गुणों का एक पूंजीभूत स्वरूप है। वेपूर्वाग्रह या पक्षाग्रह सेमुक्त हैं, फिर भी उनमें सत्याग्रह है जोउनकी कृतियों में स्पष्टतः परिलक्षित होता है।

आचार्य हरिभद्र की रचना धर्मिता अपूर्व है, उन्होंनेधर्म, दर्शन योग, कथा, साहित्य सभी पक्षों पर अपनी लेखनी चलाई। उनकी रचनाओं को3 भागों में विभक्त किया जा सकता है।

1. आगमग्रंथों एवं पूर्वाचार्यों की कृतियों पर टीकाएं- आचार्य हरिभद्र आगमों के प्रथम संस्कृत टीकाकार हैं। उनकी टीकाएं अधिक व्यवस्थित और तार्किकता लिए हुए हैं।

2. स्वरचित ग्रंथ एवं स्वोपज्ञ टीकाएं - आचार्य नेजैन दर्शन और समकालीन अन्य दर्शनों का गहन अध्ययन करके उन्हें अत्यंत स्पष्ट रूप में प्रस्तुत किया है। इन ग्रंथों में सांख्य योग, न्याय-वैशेषिक, अद्वैत, चार्वाक, बौद्ध, जैन आदि दर्शनों का प्रस्तुतिकरण एवं सम्यक् समालोचना की है। जैन योग के तोवेआदि प्रेणता थे, उनका योग विषयक ज्ञान मात्र सैद्धांतिक नहीं था। इसके साथ ही उन्होंनेअनेकान्तजयपताका नामक क्लिष्ट न्याय ग्रंथ की भी रचना की।

3. कथा-साहित्य - आचार्य आचार्य नेलोक प्रचलित कथाओं के माध्यम सेधर्म-प्रचार कोएक नया रूप दिया है। उन्होंनेव्यक्ति और समाज की विकृतियों पर प्रहार कर उनमें सुधार लानेका प्रयास किया है। समराइच्चकहा, धूर्ताख्यान और अन्य लघु कथाओं के माध्यम सेउन्होंनेअपनेयुग की संस्कृति का स्पष्ट एवं सजीव चित्रांकन किया है।

आचार्य हरिभद्र ग्रंथ-सूची निम्न है-

1. अनुयोगद्वार वृत्ति । 2. अनेकान्तजयपताका । 3. अनेकान्तघट्ट। 4. अनेकान्तवादप्रवेश। 5. अष्टक। 6. आवश्यकनिर्युक्तिलघुटीका। 7. आवश्यकनिर्युक्तिबहुटीका। 8. उपदेशपद। 9. कथाकोश। 10. कर्मस्तववृत्ति। 11. कुलक। 12. क्षेत्रसमासवृत्ति। 13. चतुर्विंशतिस्तुति। 14. चैत्यवंदनभाष्य। 15. चैत्यवंदनवृत्ति। 16. जीवाभिगमलघुवृत्ति। 17. ज्ञानपंचकविवरण। 18. ज्ञानदिव्यप्रकरण। 19. दशवैकालिक-अवचूरि। 20. दशवैकालिकबहुटीका। 21.देवेन्द्रनरकेन्द्रप्रकरण। 22. द्विजवदनचपेटा। 23. धर्मबिन्दु। 24. धर्मलाभसिद्धि। 25. धर्मसंग्रहणी। 26. धर्मसारमूलटीका। 27. धूर्ताख्यान। 28. नंदीवृत्ति। 29. न्याय-प्रदेशसूत्रवृत्ति। 30. न्यायविनिश्चय। 31. न्यायमृततरंगिणी। 32. न्यायावतारवृत्ति। 33. पंचनिग्रन्थी। 34. पंचलिंगी। 35. पंचवस्तुसटीक। 36. पंचसंग्रह। 37. पंचसूत्रवृत्ति। 38. पंचस्थानक। 39. पंचाशक। 40. परलोकसिद्धि। 41. पिंडनिर्युक्तिवृत्ति। 42. प्रज्ञापनाप्रदेशव्याख्या। 43. प्रतिष्ठाकल्प। 44. बृहन्मिथ्यात्वमंथन। 45. मुनिपतिचरित्र। 46. यतिदिनकृत्य। 47. यशोधरचरित।

48. योगदृष्टिसमुच्चय। 49. योगबिन्दु। 50. योगशतक। 51. लग्नशुद्धि। 52. लोकतत्त्वनिर्णय। 53. लोकबिन्दु। 54. विंशतिविंशिका। 55. वीरस्तव। 56. वीरांगदकथा। 57. वेदबाह्यतानिराकरण। 58. व्यवहारकल्प। 59. शास्त्र-वार्तासमुच्चयसटीक। 60. श्रावकप्रज्ञप्तिवृत्ति। 61. श्रावकधर्मतंत्र। 62. षड्दर्शनसमुच्चय। 63. षोडशक। 64. समकित पचासी। 65. संग्रहणीवृत्ति। 66. संमत्तसित्तिरी। 67. संबोधसित्तरी। 68. समराइच्चकहा। 69. सर्वज्ञसिद्धिप्रकरणसटीक। 70. स्याद्वादकुचोद्यपरिहार।

किंतु इनमें कुछ ग्रंथ ऐसेभी जिन्हें 'भवविरहांक' समदर्शी आचार्य हरिभद्र की कृति है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। आगेहम उन्हीं कृतियों का संक्षिप्त परिचय देरहेहैं जोनिश्चित रूप सेसमदर्शी एवं भव-विरहांक सेसूचित यकिनीसूनु हरिभद्र द्वारा प्रणीत हैं।

आगमिक व्याख्याएं

जैसा कि हमनेपूर्व में निर्देश किया है, हरिभद्र जैन आगमों की संस्कृत में व्याख्या लिखनेवालेप्रथम आचार्य हैं। आगमों की व्याख्या के संदर्भ में उनके निम्न ग्रंथ उपलब्ध हैं -

(1) दशवैकालिक वृत्ति, (2) आवश्यक लघुवृत्ति, (3) अनुयोगद्वार वृत्ति, (4) नन्दी वृत्ति, (5) जीवाभिगमसूत्र लघुवृत्ति, (6) चैत्यवंदनसूत्र वृत्ति (ललितविस्तरा) और (7) प्रज्ञापनाप्रदेश व्याख्या।

इनके अतिरिक्त आवश्यक सूत्र बृहत्वृत्ति और पिण्डनिर्युक्ति वृत्ति के लेखक भी आचार्य हरिभद्र मानेजातेहैं, किंतु वर्त्तमान में आवश्यक वृत्ति अनुपलब्ध है। जोपिण्डनिर्युक्ति टीका मिलती है उसकी उत्थानिका में यह स्पष्ट उल्लेख है कि इस ग्रंथ का प्रारम्भ तोहरिभद्र नेकिया था, किंतु वेइसेअपनेजीवन-काल में पूर्ण नहीं कर पाए, उन्होंनेस्थापनादोष तक की वृत्ति लिखी थी, उसके आगेकिसी वीराचार्य नेलिखी।

आचार्य हरिभद्र द्वारा विरचित व्याख्या ग्रंथों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है-

1. दशवैकालिक वृत्ति - यह वृत्ति शिष्यबोधिनी या बृहद्वृत्ति के नाम सेभी जानी जाती है। वस्तुतः यह वृत्ति दशवैकालिक सूत्र की अपेक्षा उस पर भद्रबाहुविरचित निर्युक्ति पर है। इसमें आचार्य नेदशवैकालिक शब्द का अर्थ, ग्रंथ के

प्रारंभ में मंगल की आवश्यकता और उसकी व्युत्पत्ति कोस्पष्ट करनेके साथ ही दशवैकालिक की रचना क्यों की गई इसेस्पष्ट करतेहुए सय्यंभव और उनके पुत्र मनक के पूर्ण कथानक का भी उल्लेख किया है। प्रथम अध्याय की टीका में आचार्य नेतप के प्रकारों की चर्चा करतेहुए ध्यान के चारों प्रकारों का सुंदर विवेचन प्रस्तुत किया है। इस प्रथम अध्याय की टीका में प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण आदि अनुमान के विभिन्न अवयवों एवं हेत्वाभासों की भी चर्चा के अतिरिक्त उन्होंनेइसमें निक्षेप सिद्धांतों का भी विवेचन किया है।

दूसरेअध्ययन की वृत्ति में तीन योग, तीन करण, चार संज्ञा, पांच इंद्रिय, पांच स्थावरकाय, दस प्रकार का श्रमण धर्म और 18000 शीलांगों का भी निर्देश मिलता है। साथ ही इसमें रथनेमि और राजीमती के उत्तराध्ययन में आए हुए कथानक का भी उल्लेख है। तृतीय अध्ययन की वृत्ति में महत् और क्षुल्लक शब्द के अर्थ कोस्पष्ट करनेके साथ ही ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चरित्राचार, तपाचार और वीर्याचार कोस्पष्ट किया गया है तथा कथाओं के चार प्रकारों कोउदाहरण सहित समझाया गया है। चतुर्थ अध्ययन की वृत्ति में पंचमहाव्रत और रात्रिभोजन-विवरण की चर्चा के साथ-साथ जीव के स्वरूप पर भी दार्शनिक दृष्टि सेविचार किया गया है। इसमें भाष्यगत अनेक गाथाएं भी उद्धृत की गई हैं। इसी प्रकार पंचम अध्ययन की वृत्ति में 18 स्थाणु अर्थात् व्रत-षट्क, काय-षट्क, अकल्प्य भोजन-वर्जन, गृहभाजनवर्जन, पर्यकवर्जन, निषिध्यावर्जन, स्नानवर्जन और शोभावर्जन का उल्लेख हुआ है। षष्ठ अध्ययन में क्षुल्लकाचार का विवेचन किया गया है। सप्तम अध्ययन की वृत्ति में भाषा की शुद्धि-अशुद्धि का विचार है। अष्टम अध्ययन की वृत्ति में आचार-प्रणिधि की प्रक्रिया एवं फल का प्रतिपादन है। नवम अध्ययन की वृत्ति में विनय के प्रकार और विनय के फल तथा अविनय सेहोनेवाली हानियों का चित्रण किया गया है। दशम अध्ययन की वृत्ति भिक्षु के स्वरूप की चर्चा करती है। दशवैकालिक वृत्ति के अंत में आचार्य नेअपनेकोमहत्तरा याकिनी का धर्मपुत्र कहा है।

2. आवश्यक वृत्ति- यह वृत्ति आवश्यक निर्युक्ति पर आधारित है। आचार्य हरिभद्र नेइसमें आवश्यक सूत्रों का पदानुसरण न करतेहुए स्वतंत्र रीति सेनिर्युक्ति गाथाओं का विवेचन किया है। निर्युक्ति की प्रथम गाथा की व्याख्या करतेहुए आचार्य नेपांच प्रकार के ज्ञान का स्वरूप प्रतिपादित किया है। इसी प्रकार मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल की भी भेद-प्रभेदपूर्वक व्याख्या की गई है। सामायिक

निर्युक्ति की व्याख्या में प्रवचन की उत्पत्ति के प्रसंग पर प्रकाश डालतेहुए बताया है कि कुछ पुरुष स्वभाव सेही ऐसेहोतेहैं, जिन्हें वीतराग की वाणी अरुचिकर लगती है, इसमें प्रवचनों का कोई दोष नहीं है। दोष तोउन सुननेवालों का है। साथ ही सामायिक के उद्देश, निर्देश, निर्गम, क्षेत्र आदि तेईस द्वारों का विवेचन करतेहुए सामायिक के निर्गम द्वार के प्रसंग में कुलकरों की उत्पत्ति, उनके पूर्वभव, आयु का वर्णन तथा नाभिकुलकर के यहां भगवान् ऋषभदेव का जन्म, तीर्थंकर नाम, गोत्रकर्म बंधन के कारणों पर प्रकाश डालतेहुए अन्य आख्यानों की भांति प्राकृत में धन नामक सार्थवाह का आख्यान दिया गया है। ऋषभदेव के पारणेका उल्लेख करतेहुए विस्तृत विवेचन हेतु 'वसुदेवहिंडी' का नामोल्लेख किया गया है। भगवान् महावीर के शासन में उत्पन्न चार अनुयोगों का विभाजन करनेवालेआर्यरक्षित सेसम्बद्ध गाथाओं का वर्णन है। चतुर्विंशतिस्तव और वंदना नामक द्वितीय और तृतीय आवश्यक का निर्युक्ति के अनुसार व्याख्यान कर प्रतिक्रमण नामक चतुर्थ आवश्यक की व्याख्या में ध्यान पर विशेष प्रकाश डाला गया है। साथ ही सात प्रकार के भयस्थानों सम्बंधी अतिचारों की गाथा उद्धृत की गई है। पंचम आवश्यक के रूप में कायोत्सर्ग का विवरण देकर पंचविधकाय के उत्सर्ग की तथा षष्ठ में प्रत्याख्यान की चर्चा करतेहुए वृत्तिकार नेशिष्यहिता नामक आवश्यक टीका सम्पन्न की है। आचार्य हरिभद्र की यह वृत्ति 22,000 श्लोक प्रमाण है।

3. अनुयोगद्वार वृत्ति- यह टीका अनुयोगद्वार चूर्णि की शैली पर लिखी गई है जोकि नन्दीवृत्ति के बाद की कृति है। इसमें 'आवश्यक' शब्द का निपेक्ष-पद्धति सेविचार कर नामादि आवश्यकों का स्वरूप बतातेहुए नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। श्रुत का निक्षेप-पद्धति सेव्याख्यान किया है। स्कन्ध, उपक्रम आदि के विवेचन के बाद आनुपूर्वी के विस्तार सेप्रतिपादित किया है। इसके बाद द्विनाम, त्रिनाम, चतुर्नाम, पंचनाम, षटनाम, सप्तनाम, अष्टनाम, नवनाम और दशनाम का व्याख्यान किया गया है। प्रमाण का विवेचन करतेहुए विविध अंगुलों के स्वरूप का वर्णन तथा समय के विवेचन में पल्योपम का विस्तार सेवर्णन किया गया है। शरीर पंचक के पश्चात् भावप्रमाण में प्रत्यक्ष, अनुमान, औपम्य, आगम, दर्शन चारित्र, नय और संख्या का व्याख्यान है। नय पर पुनः विचार करतेहुए ज्ञाननय और क्रियानय का स्वरूप निरूपित करतेहुए ज्ञान और क्रिया दोनों की एक साथ उपयोगिता कोसिद्ध किया गया है।

4. नन्दी वृत्ति- यह वृत्ति नन्दीचूर्णि का ही रूपान्तर है। इसमें प्रायः उन्हीं विषयों के व्याख्यान हैं जोनन्दीचूर्णि में हैं। इसमें प्रारम्भ में नन्दी के शब्दार्थ, निक्षेप आदिएवं उसके बाद जिन, वीर और संघ की स्तुति की महत्ता पर प्रकाश डालतेहुए तीर्थं करावलिका, गणधरावलिका और स्थविरावलिका का प्रतिपादन किया गया है। नन्दी वृत्ति में ज्ञान के अध्ययन की योग्यता-अयोग्यता पर विचार करतेहुए लिखा है कि अयोग्य कोज्ञान-दान सेवस्तुतः अकल्याण ही होता है। इसके बाद तीन प्रकार की पर्षद् का व्याख्यान, ज्ञान के भेद-प्रभेद, स्वरूप, विषय आदि का विवेचन किया गया है। केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन के क्रमिक उपयोग आदि का प्रतिपादन करतेहुए युगपद्वाद के समर्थक सिद्धसेन आदि का, क्रमिकत्व के समर्थक जिनभद्रगणि आदि का तथा अभेदवाद के समर्थक वृद्धाचार्यों का उल्लेख किया गया है। इसमें वर्णित सिद्धसेन, सिद्धसेन दिवाकर सेभिन्न हैं, क्योंकि सिद्धसेन दिवाकर तृतीय मत अभेदवाद के प्रवर्त्तक हैं। द्वितीय मत क्रमिकत्व के समर्थक जिनभद्र आदि कोसिद्धांतवादी कहा गया है। अंत में श्रुत के श्रवण और व्याख्यान की विधि बतातेहुए आचार्य नेनन्द्यध्ययन विवरण सम्पन्न किया है।

5. जीवाभिगमसूत्र लघुवृत्ति - इस वृत्ति के अपरनाम के रूप में 'प्रदेशवृत्ति' का उल्लेख मिलता है। इसका ग्रन्थाग्र 1992 गाथाएं है55 किंतु वृत्ति अनुपलब्ध है। जीवाभिगमसूत्र पर आचार्य मलयगिरि कृत एकमात्र वृत्ति उपलब्ध है, जिसमें अनेक ग्रंथ और ग्रंथकारों का नामोल्लेख भी किया गया है। उसमें हरिभद्रकृत तत्त्वार्थ टीका का उल्लेख है, परंतु जीवाभिगम पर उनकी किसी वृत्ति का उल्लेख नहीं है।

6. चैत्यवन्दनसूत्र वृत्ति (ललितविस्तरा)- चैत्यवन्दन के सूत्रों पर हरिभद्र नेललितविस्तरा नाम सेएक विस्तृत व्याख्या की रचना की है। यह कृति बौद्ध-परम्परा के ललितविस्तर की शैली में प्राकृत मिश्रित संस्कृत में रची गई है। यह ग्रंथ चैत्यवंदन के अनुष्ठान में प्रयुक्त होनेवालेप्राणातिपातदण्डकसूत्र (नमोत्थुणं), चैत्यस्तव (अरिहंत चेईयाणं), चतुर्विंशतिस्तव (लोगस्स), श्रुतस्तव (पुक्खरवर), सिद्धस्तव (सिद्धाणं-बुद्धाणं), प्रणिधान सूत्र (जय-वीयराय) आदि के विवेचन के रूप में लिखा गया है। मुख्यतः तोयह ग्रंथ अरहन्त परमात्मा की स्तुतिरूप ही है, परंतु आचार्य हरिभद्र नेइसमें अरिहंत परमात्मा के विशिष्ट गुणों का परिचय देतेहुए अन्य दार्शनिक विचारधाराओं के परिप्रेक्ष्य में तर्कपूर्ण समीक्षा भी की है। इसी प्रसंग में इस

ग्रंथ में सर्वप्रथम यापनीय मान्यता के आधार पर स्त्रीमुक्ति पर समर्थन किया गया है।

7. प्रज्ञापना-प्रदेश व्याख्या- इस टीका के प्रारम्भ में जैनप्रवचन की महिमा के बाद मंगल की महिमा का विशेष विवेचन करतेहुए आवश्यक टीका का नामोल्लेख किया गया है। भव्य और अभव्य का विवेचन करनेके बाद प्रथम पद की व्याख्या में प्रज्ञापना के विषय, कर्तृत्व आदि का वर्णन किया गया है। जीव-प्रज्ञापना और अजीव-प्रज्ञापना का वर्णन करतेहुए एकेन्द्रियादि जीवों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। द्वितीय पद की व्याख्या में पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय तथा द्वीन्द्रियादि के स्थानों का वर्णन किया गया है। तृतीय पद की व्याख्या में कायाद्यल्प-बहुत्व, आयुर्बन्ध का अल्प-बहुत्व, वेद, लेश्या, इन्द्रिय आदि दृष्टियों सेजीव-विचार, लोक सम्बंधी अल्प-बहुत्व, पुद्गलाल्प-बहुत्व, द्रव्याल्प-बहुत्व अवगाढाल्प-बहुत्व आदि पर विचार किया गया है। चतुर्थ पद में नारकों की स्थिति तथा पंचम पद की व्याख्या में नारकपर्याय, अवगाह, षट्स्थानक, कर्मस्थिति और जीवपर्याय का विश्लेषण किया गया है। षष्ठ और सप्तम पद में नारक सम्बंधी विरहकाल का वर्णन है। अष्टम पद में संज्ञा का स्वरूप बताया है। नवम पद में विविध योनियों एवं दशम पद में रत्नप्रभा आदि पृथ्वियों का चरम और अचरम की दृष्टि सेविवेचन किया गया है। ग्यारहवें पद में भाषा के स्वरूप के साथ ही स्त्री, पुरुष और नपुंसक के लक्षणों कोबताया गया है। बारहवें पद में औदारिकादि शरीर के सामान्य स्वरूप का वर्णन तथा तेरहवें पद की व्याख्या में जीव और अजीव के विविध परिणामों का प्रतिपादन किया गया है। आगेके पदों की व्याख्या में कषाय, इंद्रिय, योग, लेश्या, काय-स्थिति, अंतःक्रिया , अवगाहना, संस्थानादि क्रिया, कर्म प्रकृति, कर्म-बन्ध, आहार-परिणाम, उपयोग, पश्यता, संज्ञा, संयम, अवधि, प्रविचार, वेदना और समुद्घात का विशेष वर्णन किया गया है। तीसवें पद में उपयोग और पश्यता की भेदरेखा स्पष्ट करतेहुए साकार उपयोग के आठ प्रकार और साकार पश्यता के छः प्रकार बताए गए हैं।

आचार्य हरिभद्र की स्वतंत्र कृतियां

षोशशक - इस कृति में एक-एक विषयों कोलेकर 16-16 पद्यों में आचार्य हरिभद्र ने16 षोडशकों की रचना की है। ये16 षोडशक इस प्रकार हैं- (1) धर्मपरीक्षाषोडशक, (2) *सद्धर्मदेशना*षोडशक, (3) धर्मलक्षणषोडशक, (4)

धर्मालिंगषोडशक, (5) लोकोत्तरतत्त्वप्राप्तिषोडशक, (6) जिनमंदिर निर्माणष्षोडशक, (7) जिनबिम्बषोडशक, (8) प्रतिष्ठाषोडशक, (9) पूजास्वरूपषोडशक, (10) पूजाफलषोडशक, (11) श्रुतज्ञानलिंगषोडशक, (12) दीक्षाधिकारिषोडशक, (13) गुरुविनयषोडशक, (14) योगभेद षोडशक, (15) ध्येयस्वरूपषोडशक, (16) समरषोडशक। इनमें अपने-अपनेनाम के अनुरूप विषयों की चर्चा है।

विंशतिविंशिका - विंशतिविंशिका नामक आचार्य हरिभद्र की यह कृति 20-20 प्राकृत गाथाओं में निबद्ध है। येविंशिकाएं निम्नलिखित हैं- प्रथम अधिकार विंशिका में 20 विंशिकाओं के विषय का विवेचन किया गया है। द्वितीय विंशिका में लोक के अनादि स्वरूप का विवेचन है। तृतीय विंशिका में कुल, नीति और लोकधर्म का विवेचन है। चतुर्थ विंशिका का विषय चरमपरिवर्त है। पांचवीं विंशिका में शुद्ध धर्म की उपलब्धि कैसे होती है, इसका विवेचन है। छठीं विंशिका में सद्धर्म का एवं सातवीं विंशिका में दान का विवेचन है। आठवीं विंशिका में पूजा-विधान की चर्चा है। नवीं विंशिका में श्रावकधर्म, दशवीं विंशका में श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं एवं ग्यारहवीं विंशिका में मुनिधर्म का विवेचन किया गया है। बारहवीं विंशिका भिक्षा-विंशिका है। इसमें मुनि के भिक्षा-सम्बंधी दोषों का विवेचन है। तेरहवीं, शिक्षा-विंशिका है। इसमें धार्मिक जीवन के लिए योग्य शिक्षाएं प्रस्तुत की गई हैं। चौदहवीं अंतरायशुद्धि विंशिका में शिक्षा के संदर्भ में होनेवालेअंतरायों का विवेचन है। ज्ञातव्य है कि इस विंशिका में मात्र छः गाथाएं ही मिलती हैं, शेष गाथाएं किसी भी हस्तप्रति में नहीं मिलती हैं। पंद्रहवीं आलोचना-विंशिका है। सोलहवीं विंशिका प्रायश्चित्त-विंशिका है। इसमें विभिन्न प्रायश्चित्तों का संक्षिप्त विवेचन है। सत्रहवीं विंशिका योगविधान-विंशिका है। उसमें योग के स्वरूप का विवेचन है। अट्ठारहवीं केवलज्ञान विंशिका में केवलज्ञान के स्वरूप का विश्लेषण है। उन्नीसवीं सिद्धविभक्ति-विंशिका में सिद्धों का स्वरूण वर्णित है। बीसवीं सिद्धसुख-विंशिका है, जिसमें सिद्धों के सुख का विवेचन है। इस प्रकार इन बीस विंशिकाओं में जैनधर्म और साधना सेसम्बंधित विविध विषयों का विवेचन है।

योगविंशिका

यह प्राकृत में निबद्ध मात्र 20 गाथाओं की एक लघु रचना है। इसमें जैन-

परम्परा में प्रचलित मन, वचन और काय-रूप प्रवृत्ति वाली परिभाषा के स्थान पर मोक्ष सेजोड़नेवालेधर्म व्यापार कोयोग कहा गया है। साथ ही इसमें योग का अधिकारी कौन होसकता है, इसकी भी चर्चा की गई है। योगविंशिका में योग के निम्न पांच भेदों का वर्णन है- (1) स्थान, (2) उर्ण, (3) अर्थ, (4) आलम्बन, (5) अनालम्बन। योग के इन पांच भेदों का वर्णन इससेपूर्व किसी भी जैन-ग्रंथ में नहीं मिलता। अतः यह आचार्य की अपनी मौलिक कल्पना है। कृति के अंत में इच्छा, प्रकृति, स्थिरता और सिद्धि- इन चार योगांगों और कृति, भक्ति, वचन और असंग-इन चार अनुष्ठानों का भी वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त इसमें चैत्यवंदन की क्रिया का भी उल्लेख है।

योगशतक

यह 101 प्राकृत गाथाओं में निबद्ध आचार्य हरिभद्र की योग सम्बंधी रचना है। ग्रंथ के प्रारम्भ में निश्चय और व्यवहार दृष्टि सेयोग का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है, इसके पश्चात् आध्यात्मिक विकास के उपायों की चर्चा की गई है। ग्रंथ के उत्तरार्द्ध में चित्त कोस्थिर करनेके लिए अपनी वृत्तियों के प्रति सजग होनेया उनका अवलोकन करनेकी बात कही गई है। अंत में योग सेप्राप्त लब्धियों की चर्चा की गई है।

योगदृष्टिसमुच्चय

योगदृष्टिसमुच्चय जैन योग की एक महत्त्वपूर्ण रचना है। आचार्य हरिभद्र नेइसे227 संस्कृत पद्यों में निबद्ध किया है। इसमें सर्वप्रथम योग की तीन भूमिकाओं का निर्देश हैः (1) दृष्टियोग, (2) इच्छायोग और (3) सामर्थ्ययोग।

दृष्टियोग में सर्वप्रथम मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा और परा- इन आठ दृष्टियों का विस्तृत वर्णन है। संसारी जीव की अचरमावर्तकालीन अवस्था को'ओघ-दृष्टि' और चरमावर्तकालीन अवस्था कोयोग-दृष्टियों के प्रसंग में ही जैन-परम्परा सम्मत चौदह गुणस्थानों की भी योजना कर ली है। इसके पश्चात् उन्होंनेइच्छायोग, शास्त्रयोग और सामर्थ्ययोग की चर्चा की है। ग्रंथ के अंत में उन्होंनेयोग अधिकारी के रूप में गोत्रयोगी, कुलयोगी, प्रवृत्तचक्रयोगी और सिद्धयोगी- इन चार प्रकार के योगियों का वर्णन किया है।

आचार्य हरिभद्र नेइस ग्रंथ पर 100 पद्य प्रमाण वृत्ति भी लिखी है, जो1175 श्लोक परिमाण है।

योगबिंदु

हरिभद्रसूरि की यह कृति अनुष्टुप छन्द के 527 संस्कृत पद्यों में निबद्ध है। इस कृति में उन्होंनेजैन योग के विस्तृत विवेचन के साथ-साथ अन्य परम्परासम्मत योगों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक विवेचन भी किया है। इसमें योग अधिकारियों की चर्चा करतेहुए उनके दोप्रकार निरूपित किए गए हैं- (1) चरमावृतवृत्ति, (2) अचरमावृत-आवृत वृत्ति। इसमें चरमावृतवृत्ति कोही मोक्ष का अधिकारी माना गया है। योग के अधिकारी-अनधिकारी का निर्देश करतेसमय मोह में आबद्ध संसारी जीवों को'भवाभिनन्दी' कहा है और चारित्री जीवों कोयोग का अधिकारी माना है। योग का प्रभाव, योग की भूमिका के रूप में पूर्वसेवा, पांच प्रकार के अनुष्ठान, सम्यक्तत्व-प्राप्ति का विवेचन, विरति, मोक्ष, आत्मा का स्वरूप, कार्य की सिद्धि में समभाव, कालादि के पांच कारणों का बलाबल, महेश्वरवादी एवं पुरुषाद्वैतवादी के मतों का निरसन आदि के साथ ही हरिभद्र ने'गुरु' की विस्तार सेव्याख्या की है।

आध्यात्मिक विकास की पांच भूमिकाओं में सेप्रथम चार का पतंजलि के अनुसार सम्प्रज्ञात-असम्प्रज्ञात के रूप में निर्देश, सर्वदेव नमस्कार की उदारवृत्ति के विषय में 'चारिसंजीवनी', न्यास गोपेन्द्रं और कालातीतं के मंतव्य और कालातीत की अनुपलब्ध कृति में सेसात अवतरण आदि भी इस ग्रंथ के मुख्य प्रतिपाद्य हैं। पुनः इसमें जीव के भेदों के अंतर्गत अपुनर्बन्धक सम्यक् दृष्टि या भिन्न ग्रंथी, देशविरति और सर्व-विरति की चर्चा की गई है। योगाधिकार प्राप्ति के संदर्भ में पूर्वसेवा के रूप में विविध आचार-विचारों का निरूपण किया गया है।

आध्यात्मिक विकास की चर्चा करतेहुए अध्यात्म, भावना, ध्यान और वृत्ति-संक्षय- इन पांच भेदों का निर्देश किया गया है। साथ ही इनकी पतंजलि अनुमोदित सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि सेतुलना भी की गई है। इसमें विविध प्रकार के यौगिक अनुष्ठानों की भी चर्चा है जोइस बात कोसूचित करतेहैं कि साधक योग-साधना किस उद्देश्य सेकर रहा है। यौगिक अनुष्ठान पांच हैं- (1) विषानुष्ठान, (2) गरानुष्ठान, (3) अनानुष्ठान, (4) तद्धेतु-अनुष्ठान, (5) अमृतानुष्ठान। इनमें पहलेतीन 'असद् अनुष्ठान' हैं तथा अंतिम के दोअनुष्ठान 'सदनुष्ठान' है।

'सद्योगचिन्तामणि' सेप्रारम्भ होनेवाली इस वृत्ति का श्लोक परिणाम 3620 है। योगबिंदु के स्पष्टीकरण के लिए यह वृत्ति अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

षड्दर्शनसमुच्चय

षड्दर्शनसमुच्चय आचार्य हरिभद्र की लोकविश्रुत दार्शनिक रचना है। मूल कृति मात्र 87 संस्कृत श्लोकों में निबद्ध है। इसमें आचार्य हरिभद्र नेचार्वाक, बौद्ध, न्याय-वैशेषिक, सांख्य, जैन और जैमिनि (मीमांसा दर्शन) इन छः दर्शनों के सिद्धांतों का, उनकी मान्यता के अनुसार संक्षेप में विवेचन किया है। ज्ञातव्य है कि दर्शन-संग्राहक ग्रंथों में यह एक ऐसी कृति है जोइन भिन्न-भिन्न दर्शनों का खण्डन-मण्डन सेऊ पर उठकर अपनेयथार्थ स्वरूप में प्रस्तुत करती है। इस कृति के संदर्भ में विशेष विवेचन हम हरिभद्र के व्यक्तित्व की चर्चा करतेसमय कर चुके हैं।

शास्त्रवार्तासमुच्चय

जहां षड्दर्शनसमुच्चय में विभिन्न दर्शनों का यथार्थ प्रस्तुतिकरण है, वहां शास्त्रवार्तासमुच्चय में विविध भारतीय दर्शनों की समीक्षा प्रस्तुत की गई है। षड्दर्शनसमुच्चय की अपेक्षा यह एक विस्तृत कृति है। आचार्य हरिभद्र नेइसे702 संस्कृत श्लोकों में निबद्ध किया है। यह कृति आठ स्तबकों में विभक्त है। प्रथम स्तबक में सामान्य उपदेश के पश्चात् चार्वाक मत की समीक्षा की गई है। द्वितीय स्तबक में भी चार्वाक मत की समीक्षा के साथ-साथ एकान्त-स्वभाववादी आदि मतों की समीक्षा की गई है। इस ग्रंथ के तीसरेस्तबक में आचार्य हरिभद्र नेईश्वर-कर्तृव्य की समीक्षा की है। चतुर्थ स्तबक में विशेष रूप सेसांख्य मत की और प्रसंगान्तर सेबौद्धों के विशेषवाद और क्षणिकवाद का खण्डन किया गया है। पंचम् स्तबक बौद्धों के ही विज्ञानवाद की समीक्षा प्रस्तुत करता है। षष्ठ स्तबक में बौद्धों के क्षणिकवाद की विस्तार सेसमीक्षा की गई है। सप्तम स्तबक में हरिभद्र नेवस्तु की अनन्तधर्मात्मकता और स्याद्वाद की प्रस्थापना की है। साथ ही इस स्तबक के अंत में वेदांत की समीक्षा भी की गई है। अष्टम् स्तबक में मोक्ष एवं मोक्ष-मार्ग का विवेचन है। इसी क्रम में इस स्तबक में प्रसंगान्तर में सर्वज्ञता कोसिद्ध किया है। इसके साथ ही इस स्तबक में शब्दार्थ के स्वरूप पर भी विस्तार सेचर्चा उपलब्ध होती है। इस ग्रंथ की विशेषता यह है कि इसमें न्याय-वैशेषिक, सांख्य, बौद्ध आदि दर्शनों की समीक्षा होतेहुए भी उनके प्रस्थापकों के प्रति विशेष आदर-भाव प्रस्तुत किया गया है और उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों का जैन दृष्टि के साथ सुंदर समन्वय किया गया है। इस संदर्भ में हम विशेष चर्चा हरिभद्र के व्यक्तित्व एवं अवदान की चर्चा के प्रसंग में कर चुके हैं, अतः यहां इसेहम यहीं विराम देतेहैं।

अनेकान्तजयपताका

जैन दर्शन का केंद्रीय सिद्धांत अनेकान्तवाद है। इस सिद्धांत के प्रस्तुतिकरण हेतु आचार्य हरिभद्र नेसंस्कृत भाषा में इस ग्रंथ की रचना की। चूंकि इस ग्रंथ में अनेकान्तवाद कोअन्य दार्शनिक सिद्धांतों पर विजय प्राप्त करनेवाला दिखाया गया है, अतः इसी आधार पर इसका नामकरण अनेकान्तजयपताका किया गया है। इस ग्रंथ में छः अधिकार हैं- प्रथम अधिकार में अनेकान्तदृष्टि में वस्तु के सद्-असद् स्वरूप का विवेचन किया गया है। दूसरेअधिकार में वस्तु के नित्यत्व और अनित्यत्व की समीक्षा करतेहुए उसेनित्यानित्य बताया गया है। तृतीय अधिकार में वस्तु का सामान्य अथवा विशेष माननेवालेदार्शनिक मतों की समीक्षा करतेहुए अंत में वस्तु कोसामान्य-विशेषात्मक सिद्ध करके अनेकान्तदृष्टि की पुष्टि की गई है। आगेचतुर्थ अधिकार में वस्तु के अभिलाप्य और अनभिलाप्य मतों की समीक्षा करतेहुए उसेवाच्यावाच्य निरूपित किया गया है। अगलेअधिकारों में बौद्धों के योगाचार दर्शन की समीक्षा एवं मुक्ति सम्बंधी विभिन्न मान्यताओं की समीक्षा की गई है। इस प्रकार इस कृति में अनेकान्त दृष्टि सेपरस्पर विरोधी मतों के मध्य समन्वय स्थापित किया गया है।

अनेकान्तवादप्रवेश

जहां अनेकान्तजयपताका प्रबुद्ध दार्शनिकों के समक्ष अनेकान्त-वाद के गम्भीर्य कोसमीक्षात्मक शैली में प्रस्तुत करनेहेतु लिखी गई है, वहां अनेकान्तवादप्रवेश सामान्य व्यक्ति हेतु अनेकान्तवाद कोबोधगम्य बनानेके लिए लिखा गया है। यह ग्रंथ भी संस्कृत भाषा में निबद्ध है। इसकी विषय-वस्तु अनेकान्तजयपताका के समान ही है।

न्यायप्रवेश टीका

हरिभद्र नेस्वतंत्र दार्शनिक ग्रंथों के प्रणयन के साथ-साथ अन्य परम्परा के दार्शनिक ग्रंथों पर भी टीकाएं लिखीं हैं। इनमें बौद्ध दार्शनिक दिंगनाग के न्याय-प्रवेश पर उनकी टीका बहुत ही प्रसिद्ध है। इस ग्रंथ में न्याय-सम्बंधी बौद्ध मन्तव्य कोही स्पष्ट किया गया है। यह ग्रंथ हरिभद्र की व्यापक और उदार दृष्टि का परिचय देता है। इस ग्रंथ के माध्यम सेजैन परम्परा में भी बौद्धों के न्याय-सम्बंधी मन्तव्यों के अध्ययन की परम्परा का विकास हुआ है।

धर्मसंग्रहणी

यह हरिभद्र का दार्शनिक ग्रंथ है। 1296 गाथाओं में निबद्ध इस ग्रंथ में धर्म के स्वरूप का निक्षेपों द्वारा निरूपण किया गया है। मलयगिरि द्वारा इस पर संस्कृत टीका लिखी गई है। इसमें आत्मा के अनादि अनिधनत्व, अमूर्त्तत्व, परिणामित्व ज्ञायक-स्वरूप, कर्त्तृत्व-भोक्तृत्व और सर्वज्ञ-सिद्धि का निरूपण किया गया है।

लोकतत्त्वनिर्णय

लोकतत्त्वनिर्णय में हरिभद्र नेअपनी उदार दृष्टि का परिचय दिया है। इस ग्रंथ में जगत्-सर्जक-संचालक के रूप में मानेगए ईश्वरवाद की समीक्षा तथा लोक-स्वरूप की तात्त्विकता का विचार किया गया है। इसमें धर्म के मार्ग पर चलनेवालेपात्र एवं अपात्र का विचार करतेहुए सुपात्र कोही उपदेश देनेके विचार की विवेचना की गई है।

दर्शनसप्ततिका

इस प्रकरण में सम्यक्तवयुक्त श्रावकधर्म का 120 गाथाओं में उपदेश संगृहीत है। इस ग्रंथ पर श्री मानदेवसूरि की टीका है।

ब्रह्मसिद्धिसमुच्चय

आचार्य हरिभद्र द्वारा रचित इस संस्कृत ग्रंथ में कुल 423 पद्य ही उपलब्ध हैं। आद्य पद में महावीर कोनमस्कार कर ब्रह्मादि के स्वरूप कोबतानेकी प्रतिज्ञा की है। इस ग्रंथ में सर्वधर्मों का समन्वय किया गया है। यह ग्रंथ अपूर्ण प्रतीत होता है।

सम्बोधप्रकरण

1590 पद्यों की यह प्राकृत रचना बारह अधिकारों में विभक्त है। इसमें गुरु, कुगुरु, सम्यक्त्व एवं देव का स्वरूप, श्रावकधर्म और प्रतिमाएं, व्रत, आलोचना तथा मिथ्यात्व आदि का वर्णन है। इसमें हरिभद्र के युग में जैन मुनि संघ में आए हुए चारित्रिक पतन का सजीव चित्रण है जिसकी चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं।

धर्मबिन्दुप्रकरण

542 सूत्रों में निबद्ध यह ग्रंथ चार अध्यायों में विभक्त है। इसमें श्रावक और श्रमण-धर्म की विवेचना की गई है। श्रावक बनानेके पूर्व जीवन कोपवित्र और निर्मल बनानेवालेपूर्व मार्गानुसारी के पैंतीस गुणों की विवेचना की गई है। इस पर मुनिचंद्रसूरि नेटीका लिखी है।

उपदेशपद

इस ग्रंथ में कुल 1040 गाथाएं हैं। इस पर मुनिचंद्रसूरि नेसुखबोधिनी टीका लिखी है। आचार्य नेधर्मकथानुयोग के माध्यम सेइस कृति में मन्द बुद्धि वालों के प्रबोध के लिए जैन धर्म के उपदेशों कोसरल लौकिक कथाओं के रूप में संग्रहीत किया है। मानव पर्याय की दुर्लभता एवं बुद्धि चमत्कार कोप्रकट करनेके लिए कई कथानकों का ग्रंथन किया है। मनुष्य-जन्म की दुर्लभता कोचोल्लक, पाशक, धान्य, द्यूत, रत्न, स्वपन, चक्रयूप आदि दृष्टान्तों के द्वारा प्रतिपादित किया गया है।

पंचवस्तुक (पंचवत्थुग)

आचार्य हरिभद्र की यह कृति प्राकृत भाषा में निबद्ध है। इसमें 1714 पद्य हैं जोनिम्न पांच अधिकारों में विभक्त है-

1. प्रव्रज्याविधि के अंतर्गत 228 पद्य हैं। इसमें दीक्षासम्बंधी विधि-विधान दिए गए हैं।

2. नित्यक्रिया सम्बंधी अधिकार में 381 पद्य हैं। यह मुनिजीवन के दैनन्दिन प्रत्ययों सम्बंधी विधि-विधान की चर्चा करता है।

3. महाव्रतारोपण विधि के अंतर्गत 321 पद्य हैं। इसमें बड़ी दीक्षा अर्थात् महाव्रतारोपण विधि का विवेचन हुआ है, साथ ही इसमें स्थविरकल्प, जिनकल्प और उनसेसम्बंधित उपधि आदि के सम्बंध में भी विचार किया गया है।

चतुर्थ अधिकार में 434 गाथाएं हैं। इनमें आचार्य-पद स्थापना, गण-अनुज्ञा, शिष्यों के अध्ययन आदि सम्बंधी विधि-विधानों की चर्चा करतेहुए पूजा-स्तवन आदि सम्बंधी विधि-विधानों का निर्देश इसमें मिलता हैं। पंचम अधिकार में सल्लेखना सम्बंधी विधान दिए गए हैं। इसमें 350 गाथाएं हैं।

इस कृति की 550 श्लोक परिमाण शिष्यहिता नामक स्वोपज्ञ टीका भी मिलती है। वस्तुतः यह ग्रंथ विशेष रूप सेजैन मुनि-आचार सेसम्बंधित है और इस विधा का यह एक आकर ग्रंथ भी कहा जा सकता है।

श्रावकप्रज्ञप्ति (सावयपण्णत्ति)

405 प्राकृत गाथाओं में निबद्ध यह रचना श्रावकाचार के सम्बंध में आचार्य हरिभद्र की एक महत्त्वपूर्ण कृति है। ऐसा माना जाता है कि इसके पूर्व आचार्य

उमास्वाति नेभी इसी नाम की एक कृति संस्कृत भाषा में निबद्ध की थी। यद्यपि अनेक ग्रंथों में इसका उल्लेख मिलता है, परंतु इसकी आज तक कोई प्रति उपलब्ध नहीं हुई है। नाम साम्य के कारण अनेक बार हरिभद्रकृत इस प्राकृत कृति (सावयपण्णत्ति) कोतत्त्वार्थसूत्र के रचयिता उमास्वाति की रचना मान लिया जाता है, किंतु यह एक भ्रांति ही है। पंचाशक की अभयदेवसूरि कृत वृत्ति में और लावण्यसूरि कृत द्रव्य सप्तति में इसेहरिभद्र की कृति माना गया है। इस कृति में सावग (श्रावक) शब्द का अर्थ, सम्यक्त्व का स्वरूप नवतत्त्व, अष्टकर्म, श्रावक के 12 व्रत और श्रावक समाचारी का विवेचन उपलब्ध होता है।

इस पर स्वयं आचार्य हरिभद्र की दिग्प्रदा नाम की स्वोपज्ञ संस्कृत टीका भी है। इसमें अहिंसाणुव्रत और सामायिकव्रत की चर्चा करतेहुए आचार्य नेअनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का उत्तर दिया है। टीका में जीव की नित्यानित्यता आदि दार्शनिक विषयों की भी गम्भीर चर्चा उपलब्ध होती है।

जैन आचार सम्बंधी ग्रंथों में पंचवस्तुक तथा श्रावकप्रज्ञप्ति के अतिरिक्त अष्टकप्रकरण, षोडशकप्रकरण, विंशिकाएं और पंचाशक-प्रकरण भी आचार्य हरिभद्र की महत्त्वपूर्ण रचनाएं हैं।

अष्टकप्रकरण

इस ग्रंथ में 8-8 श्लोकों में रचित निम्नलिखित 32 प्रकरण हैं-

(1) महादेवाष्टक, (2) स्नानाष्टक, (3) पूजाष्टक, (4) अग्निकारिकाष्टक, (5) त्रिविधभिक्षाष्टक, (6) सर्वसम्पत्करिभक्षाष्टक, (7) प्रच्छन्नभोजाष्टक, (8) प्रत्याख्यानाष्टक, (9) ज्ञानाष्टक, (10) वैराग्याष्टक, (11) तपाष्टक, (12) वादाष्टक, (13) धर्मवादाष्टक, (14) एकान्तनित्यवादखण्डनाष्टक, (15) एकान्तक्षणिकवाद-खण्डनाष्टक, (16) नित्यानित्यवादपक्षमंडनाष्टक, (17) मांसभक्षण-दूषणाष्टक, (18) मांसभक्षणमतदूषणाष्टक, (19) मद्यपानदूषणाष्टक, (20) मैथुनदूषाणाष्टक, (21) सूक्ष्मबुद्धिपरिक्षणाष्टक, (22) भावशुद्धिविचाराष्टक, (23) जिनमतमालिन्य निषेधाष्टक, (24) पुण्यानुबन्धिपुण्याष्टक, (25) पुण्यानुबन्धिपुण्यफलाष्टक, (26) तिर्थकृतदानाष्टक, (27) दानशंकापरिहाराष्टक, (28) राज्यादिदानदोषपरिहाराष्टक, (29) सामायिकाष्टक, (30) केवलज्ञनाष्टक, (31) तीर्थंकरदेशनाष्टक, (32)

मोक्षस्वरूपाष्टक। इन सभी अष्टकों में अपनेनाम के अनुरूप विषयों की चर्चा है।

धूर्ताख्यान

यह एक व्यंग्यप्रधान रचना है। इसमें वैदिक पुराणों में वर्णित असम्भव और अविश्वसनीय बातों का प्रत्याख्यान पांच धूर्तों की कथाओं के द्वारा किया गया है। लाक्षणिक शैली की यह अद्वितीय रचना है। रामायण, महाभारत और पुराणों में पाई जानेवाली कथाओं की अप्राकृतिक, अवैज्ञानिक, अबौद्धिक मान्यताओं तथा प्रवृत्तियों का कथा के माध्यम सेनिराकरण किया गया है। व्यंग्य और सुझावों के माध्यम सेअसम्भव और मनगढ़ंत बातों कोत्यागनेका संकेत दिया गया है। खड्डपना के चरित्र और बौद्धिक विकास द्वारा नारी कोविजय दिलाकर मध्यकालीन नारी के चरित्र कोउद्घाटित किया गया है।

ध्यानशतकवृत्ति

पूर्व ऋषिप्रणित ध्यानशतक ग्रंथ का गम्भीर विषय-आर्त, रौद्र, धर्म, शुक्ल-इन चार प्रकार के ध्यानों का सुगम विवरण दिया गया है। ध्यान का यह एक अद्वितीय ग्रंथ है।

यतिदिनकृत्य

इन ग्रंथ में मुख्यतया साधु के दैनिक आचार एवं क्रियाओं का वर्णन किया गया है। षडावश्यक के विभिन्न आवश्यकों कोसाधु कोअपनेदैनिक जीवन में पालन करना चाहिए, इसकी विशद् विवेचना इस ग्रंथ में की गई है।

पंचाशक (पंचासग)

आचार्य हरिभद्रसूरि की यह कृति जैन महाराष्टी प्राकृत में रचित है। इसमें उन्नीस पचांशक हैं, जिसमें दूसरेमें 44 और सत्तरहवें में 52 तथा शेष में 50-50 पद्य हैं। वीरगणि के शिष्य श्री चंद्रसूरि के शिष्य यशोदेव नेपहलेपंचाशक पर जैन महाराष्टी में वि.सं. 1172 में एक चूर्णि लिखी थी, जिसमें प्रारम्भ में तीन पद्य और अंत में प्रशस्ति के चार पद्य हैं, शेष ग्रंथ गद्य में है, जिसमें सम्यक्त्व के प्रकार, उसके यातना, अभियोग और दृष्टान्त के साथ-साथ मनुष्य भव की दुर्लभता आदि अन्यान्य विषयों का निरूपण किया गया है। समाचारी विषय का अनेक बार उल्लेख हुआ है। मण्डनात्मक शैली में रचित होने के कारण इसमें 'तुलादण्ड न्याय' का उल्लेख भी है। आवश्यक चूर्णि के

देशविरति में जिस तरह नवपयपयरण में नौ द्वारों का प्रतिपादन है, उसी प्रकार यहां पर भी नौ द्वारों का उल्लेख है।

पंचाशकों में जैन आचार और विधि-विधान के सम्बंध में अनेक गम्भीर प्रश्नों कोउपस्थित करके उनके समाधान प्रस्तुत किए गए हैं। निम्न उन्नीस पंचाशक उपलब्ध होतेहैं-

1. श्रावकधर्मविधि
2. जिनदीक्षाविधि
3. चैत्यवन्दनविधि
4. पूजाविधि
5. प्रत्याख्यानविधि
6. स्तवनविधि
7. जिनभवननिर्माणविधि
8. जिनबिम्बप्रतिष्ठाविधि
9. यात्राविधि
10. उपासकप्रतिमाविधि
11. साधुधर्मविधि
12. साधुसमाचारी विधि
13. पिण्डविधानविधि
14. शीलांगविधानविधि
15. आलोचनाविधि
16. प्रायश्चित्तविधि
17. कल्पविधि
18. भिक्षुप्रतिमाकल्पविधि
19. तपविधि

उपरोक्त पंचाशक अपने-अपनेविषय कोगम्भीरता सेकिंतु संक्षेप में प्रस्तुत करतेहैं। इन सभी पंचाशकों का मूल प्रतिपाद्य श्रावक एवं मुनि आचार सेसम्बंधित हैं और यह स्पष्ट करतेहैं कि जैन परम्परा में श्रावक और मुनि के लिए करणीय विधि-विधानों का स्वरूप उस युग में कैसा था।

इस प्रकार हम देखतेहैं कि आचार्य हरिभद्र बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी एक विशिष्ट प्रतिभासम्पन्न आचार्य रहेहैं। उनके द्वारा की गई साहित्य सेवा न केवल जैन साहित्य अपितु सम्पूर्ण भारतीय वांग्मय में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। हरिभद्र नेजोउदात्त दृष्टि, असाम्प्रदायिक वृत्ति और निर्भयता अपनी कृतियों में प्रदर्शित की है, वैसी उनके पूर्ववर्ती अथवा उत्तरवर्ती किसी भी जैन-जैनेतर विद्वान् नेशायद ही प्रदर्शित की हो। उन्होंनेअन्य दर्शनों के विवेचन की एक स्वस्थ परम्परा स्थापित की तथा दार्शनिक और योग-परम्परा में विचार एवं वर्तन की जोअभिनव दशा उद्घाटित की वह विशेषकर आज के युग के असाम्प्रदायिक एवं तुलनात्मक ऐतिहासिक अध्ययन के क्षेत्र में अधिक व्यवहार्य हैं।

संदर्भ -

1. आवश्यक टीका की अंतिम प्रशस्ति में उन्होंनेलिखा है- 'समाप्ता चेयं शिष्यहिता नाम आवश्यकटीका। कृतिः
सिताम्बराचार्यजिनभट- निगदानुसारिणो
विद्याधरकुलतिलकाचार्यजिनदत्तशिष्यस्य धर्मतोयाकिनी
महत्तरासूनोरल्पमतेराचार्य हरिभद्रस्य।
2. जाइणिमयहरिआए रइया एएउ धम्मपुत्तेण।
हरिभद्दायरिएणं भवरिहं इच्छामाणेण॥
- उपदेशपाद की अंतिम प्रशस्ति
3. चिरं जीवउ भवविरहसूरि त्ति। - कहावली, पत्र 301 अ
4. समदर्शी आचार्य हरिभद्र, पं. सुखलालजी, पृ. 40
5. षड्दर्शनसमुच्चय, सम्पादक डॉ. महेंद्रकुमार, प्रस्तावना, पृ. 14
6. वही, प्रस्तावना, पृ. 19
7. समदर्शी आचार्य हरिभद्र, पृ. 43
8. वही, पृ. 47
9. षड्दर्शनसमुच्चय, सम्पादक डॉ. महेंद्रकुमार, प्रस्तावना, पृ. 14
10. वही, पृ. 19
11. कर्मणोभौतिकत्वेन यद्वैतदपि साम्प्रतम।
आत्मनोव्यतिरिक्तं तत् चित्रभावं यतोमतम्॥
शक्तिरूपं तदन्येतु सूरयः सम्प्रचक्षते।
अन्येतु वासनारूपं विचित्रफ्लदं मतम्॥
- शास्त्रवार्तासमुच्चय, 95-96
12. समदर्शी आचार्य हरिभद्र, पृ. 53-54
13. वही, पृ.55
14. ततश्चेश्वर कर्तृत्त्ववादोऽयं युज्यतेपरम्।
सम्यग्न्यायाविरोधेन यथाऽऽहुः शुद्धबुद्धतः॥
ईश्वरः परमात्मैव तदुक्तव्रतसेवनात्।
यतोमुक्तिस्ततस्तस्याः कर्त्ता स्यादुणभावतः॥

तदनासेवनादेव यत्संसारोऽपि तत्त्वतः।
तेनेतस्यापि कर्तृत्वं कल्प्यानं न दुष्यति॥
- शास्त्रवार्तासमुच्चय, 203-205

15. परमैश्वर्ययुक्तत्वान्मतः आत्मैव चेश्वरः।
स च कर्तेति निर्दोषः कर्तृवादोव्यवस्थितः॥
- वही, 207

16. प्रकृतिं चापि सत्र्यायात्कर्मप्रकृतिमेव हि॥
एवं प्रकृतिवादोऽपि विज्ञेयः सत्य एव हि।
कपिलोक्तत्वतश्चैव दिव्योहि स महामुनिः।
- वही, 232-237

17. अन्येत्वभिदधत्येवमेतदास्थानिवृत्तये।
क्षणिक सर्वमेवेति बुद्धनोक्तं न तत्त्वतः॥
विज्ञानमात्रमप्येवं ब्राह्यसंगनिवृत्तये।
विनेयान् कांश्चिदाश्रित्य यद्वा तद्देशनाऽर्हतः॥
- वही, 464-465

18. अन्येव्याख्यानयन्त्येवं समभावप्रसिद्धये।
अद्वैतदेशना शास्त्रेनिर्दिष्टा न तु तत्त्वतः॥ वही, 550

19. ज्ञानयोगादतोमुक्तिरिति सम्यग् व्यवस्थितम्।
तन्त्रान्तरानुरोधेन गीतं चेत्थं न दोषकृत॥ वही, 579

20. यं श्रुत्वा सर्वशास्त्रेषु प्रायस्तत्त्वविनिश्चयः।
जायतेद्वेषशमनः स्वर्गसिद्धिसुखावहः॥ वही, 21.
योगदृष्टिसमुच्चय, 87 एवं 88

22. शास्त्रवार्तासमुच्चय, 20

23. योगदृष्टिसमुच्चय, 86-101

24. वही, 107-109

25. चित्रा तु देशनैतेषां स्याद् विनेयानुगुण्यतः।
यस्मादेतेमहात्मानोभवव्याधिभिषग्वराः॥ - वही, 134

26. यद्वा तत्तन्नायपेक्षा तत्कालादिनियोगतः।
ऋषिभ्योदेशना चित्रा तन्मूलैषाऽपि तत्त्वतः॥ - वही, 138

27. मग्गोमग्गोलोए भणंति, सव्वेमग्गणा रहिया।
- सम्बोधप्रकरण, 1/4 पूर्वार्ध

28. परमप्प मग्गणा जत्थ तम्मग्गोमुक्ख मग्गुति॥ - वही, 1/4 उत्तरार्ध

29. जत्थ य विसय-कसायच्चागोमग्गोहविज्ज णोअण्णो। - वही, 1/5 पूर्वार्ध

30. सेयम्बरोय आसम्बरोय बुद्धोय अहव अण्णोवा।
समभावभावि अप्पा लहइ मुक्खं न संदेहो॥ - वही, 1/3

31. नामाइ चउप्पभेओभणिओ। - वही, 1/5
(व्याख्या लेखक की अपनी है।)

32. तक्काइ जोय करणा खोरं पयउं घयं जहा हुज्जा।- वही, 1/7

33. भावगयं तं मग्गोतस्स विसुद्धीइ हेउणोभणिया।
- वही, 1/11 पूर्वार्द्ध

34. तम्मि य पढमेसुद्देसब्बाणि तयणुसाराणि। - वही, 1/10

35. वही, 1/19-104

36. वही, 1/108

37. वही, 2/10, 13, 32, 33, 34.

38. वही, 2/34-36, 42, 46, 49-50, 2/52, 56-74, 88-92

39. वही, 2/20

40. जह असुइ ठाणंपडिया चंपकमाला न कीरतेसीसे।
पासत्थाइठाणेवट्टमाणा इह अपुज्जा॥ - वही, 2/22

41. जइ चरिउं नोसक्कोसुद्धं जइलिंग महवपूयट्ठी।
तोगिहिलिंग गिण्हेनोलिंगी पूयणारिहओ॥ - वही, 1/275

42. एयारिसाण दुस्सीलयाण साहुपिसायाण मत्ति पूव्वं।
जेवंदणनमंसाइ कुव्वंति न महापावा? - वही, 1/114

43. सुहसीलाओसच्छंदचारिणोवेरिणोसिवपहस्स।
आणाभट्ठाओबहुजणाओमा भणह संवुत्ति॥
देवाइ दव्वभक्खणतप्परा तह उमग्गपक्खकरा।
साहु जाणाणपओसं कारिणं माभणंह संघं॥
जहम्म अनीई आणायार सेविणोधम्मनीइं पडिकूला।

साहुपभिइ चउरोवि बहुया अवि मा भणह संघं।
असंघं संघ जेभणित रागेण अहव दोसेण।
छेओवा मुहुत्तं पच्छित्तं जायए तेसिं॥ - वही, 1/119-121, 123

44. गब्भपवेसोवि वरं भद्दवरोनरयवास पासोवि।
मा जिण आणा लोवकरेवसणं नाम संघेवे॥ - वही, 2/132

45. वही, 2/103

46. वही, 2/104

47. वेसागिहेसु गमणं जहा निसिद्धं सुकुल बहुयाणं।
तह हीणायार जइ जण संग सड्ढाण पड़िसिद्धं॥
परं दिट्ठि विसोसप्पोवरं हलाहलं विसं।
हीणायार अगीयत्थ वयणपसंगं खु णोभद्दो॥
- वही, श्रावक-धर्माधिकार, 2,3

48. वही, 2/77-78

49. बाला वंयति एवं वेसोतित्थकराण एसोवि।
नामणिज्जोधिद्धि अहोसिरसूलं कस्स पुक्करिमों॥
- वही, 2/76

50. वरं वाही वरं मच्चू वरं दारिद्दसंगमो।
वरं अरण्णेवासोय मा कुलीलाण संगमो॥
हीणायारोवि वरं मा कुसीलएण संगमोभद्दं।
जम्हा हीणोअप्प नासइ सव्वं हु सील निहिं॥

51. विस्तार के लिए देखें सम्बोधप्रकरण गुरुस्वरूपाधिकार। इसमें 375 गाथाओं में सुगुरु का स्वरूप वर्णित है।

52. नोअप्पण पराया गुरुणोकइया वि हुंति सड्ढाणं।
जिण वयण रयणनिहिणोसव्वेतेवन्निया गुरुणो॥
- वही, गुरुस्वरूपाधिकार, 3

53. लोकतत्त्वनिर्णय, 32-33

54. योगदृष्टिसमुच्चय, 129

55. जिनरत्नकोश, हरिदामोदर वेलंकर, भंडारकर आरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पूना 1944, पृ. 144

9. जटासिंहनन्दी और उनका वरांगचरित्र
(ईस्वी सन् की 7वीं एवं 8वीं शती)

जटासिंहनन्दी यापनीय परंपरा से संबद्ध रहे हैं, इस संबंध में जो बाह्य साक्ष्य उपलब्ध हैं, उनमें प्रथम यह है कि कन्नड़ कवि जन्न ने जटासिंहनन्दी को 'काणूरगण' का बताया है। अनेक अभिलेखों से यह सिद्ध होता है कि यह काणूरगण प्रारंभ में यापनीय परंपरा का एक गण था। इस गण का सर्वप्रथम उल्लेख सौदत्ती के ई. सन् दसवीं शती (980) के एक अभिलेख से मिलता है। इस अभिलेख में गण के साथ यापनीय संघ का भी स्पष्ट निर्देश है।[1] यह संभव है कि इस गण का अस्तित्व इसके पूर्व सातवीं -आठवीं शती में भी रहा हो। डॉ. उपाध्ये जन्न के इस अभिलेख को शंका की दृष्टि से देखते हैं। उनकी इस शंका के दो कारण हैं- एक तो यह कि गणों की उत्पत्ति और इतिहास के विषय में पर्याप्त जानकारी का अभाव है, दूसरे जटासिंहनन्दि जन्न के समकालीन भी नहीं हैं।[2] यह सत्य है कि दोनों में लगभग पाँच सौ वर्ष का अंतराल है, किन्तु मात्र कालभेद के कारण जन्म का कथन भ्रांत हो, हम डॉ. उपाध्ये के इस मन्तव्य से सहमत नहीं हैं। यह ठीक है कि यापनीय परंपरा के काणूर आदि कुछ गणों का उल्लेख आगे चलकर मूलसंघ और कुन्दकुन्दान्वय के साथ भी हुआ है,[3] किन्तु इससे उनका मूल में यापनीय होना अप्रमाणित नहीं हो जाता। काणूरगण के ही 12वीं शताब्दी तक के अभिलेखों में यापनीय संघ के उल्लेख उपलब्ध होते हैं। (देखें- जैन शिलालेख संग्रह, भाग 5, लेख क्रमांक 117) इसके अतिरिक्त स्वयं डॉ. उपाध्ये ने 12वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के कुछ शिलालेखों में काणूरगण के सिंहनन्दी के उल्लेख को स्वीकार किया है।[4] यद्यपि इन लेखों में काणूरगण के इन सिंहनन्दी को कहीं मूलसंघ और कहीं कुन्दकुन्दान्वय का बताया गया है, लेकिन स्मरण रखना होगा कि यह लेख उस समय का है, जब यापनीय सहित सभी अपने को मूल संघ से जोड़ने लगे थे। पुनः, इन लेखों में सिंहनन्दी का काणूरगण के आद्याचार्य के रूप में उल्लेख है। उनकी परंपरा में प्रभाचन्द्र, गुणचन्द्र, माघनन्दी, प्रभाचन्द्र, अनन्तवीर्य, मुनिचन्द्र, प्रभाचन्द्र आदि का उल्लेख है- यह लेख तो बहुत समय पश्चात् लिखा गया है। पुनः, इन लेखों में भी प्रारंभ में जटासिंहनन्दी आचार्य का उल्लेख है, वहाँ न तो मूलसंघ का उल्लेख है और न कुन्दकुन्दान्वय का, वहाँ मात्र काणूरगण का उल्लेख है। यह काणूरगण प्रारंभ में यापनीय गण था। अतः, सिद्ध है कि जटासिंहनन्दी काणूरगण के आद्याचार्य रहे होंगे।

इन शिलालेखों में सिंहनन्दी को गंग वंश का समुद्धारक कहा गया है। यदि गंग वंश का प्रारंभ ई. सन् चतुर्थ शती माना जाता है, तो गंग वंश के संस्थापक सिंहनन्दी जटासिंहनन्दी से भिन्न होने चाहिए। पुनः, काणूरगण का अस्तित्व भी ई.सन् की 7वीं - 8वीं शती के पूर्व ज्ञात नहीं होता है। संभावना यही है कि जटासिंहनन्दी काणूरगण के आचार्य रहे होंगे और उनका गंग वंश पर अधिक प्रभाव रहा हो। अतः, आगे चलकर उन्हें गंग वंश का उद्धारक मान लिया गया हो तथा गंग वंश के उद्धार की कथा उनसे जोड़ दी गई हो।

(3) जन्न ने अनन्तनाथ पुराण में न केवल जटासिंहनन्दी का उल्लेख किया है, अपितु उनके साथ-साथ ही काणूरगण के इन्द्रनन्दी आचार्य का भी उल्लेख किया है।[5] हम छेदपिण्ड शास्त्र की परंपरा की चर्चा करते समय अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध कर चुके हैं कि जटासिंहनन्दी के समकालीन या उनसे किंचित परवर्ती ये इन्द्रनन्दी रहे हैं[6], जिनका उल्लेख शाकटायन आदि अनेक यापनीय आचार्यों ने किया है। जन्न ने जटासिंहनन्दी और इन्द्रनन्दी दोनों को काणूरगण का बताया है।

(4) कोप्पल में पुरानी कन्नड़ में एक लेख भी उपलब्ध होता है, जिसके अनुसार जटासिंहनन्दी के चरण-चिह्नों को चाव्वय ने बनाया था।[7] इससे यह सिद्ध होता है कि जटासिंहनन्दी का समाधिमरण सम्भवतः कोप्पल में हुआ हो। पुनः, डॉ. उपाध्ये ने गणभेद नामक अप्रकाशित कन्नड़ ग्रंथ के आधार पर यह भी मान लिया है कि कोप्पल या कोपन यापनीयों का मुख्य पीठ था[8]। अतः, कोप्पल/कोपन से संबंधित होने के कारण जटासिंहनन्दी के यापनीय होने की संभावना अधिक प्रबल प्रतीत होती है।

(5) यापनीय परंपरा में मुनि के लिए 'यति' का प्रयोग अधिक प्रचलित रहा है। यापनीय आचार्य पाल्यकीर्त्ति शाकटायन को 'यतिग्रामाग्रणी' कहा गया है। हम देखते हैं कि जटासिंहनन्दी के इस वरांगचरित में भी मुनि के लिए 'यति' शब्द का प्रयोग बहुतायत से हुआ है[9]। ग्रंथकार की यह प्रवृत्ति उसके यापनीय होने का संकेत करती है।

(6) वरांगचरित में सिद्धसेन के सन्मतितर्क का बहुत अधिक अनुसरण देखा जाता है। अनेक आधारों पर यह सिद्ध होता है कि सन्मतितर्क के कर्त्ता सिद्धसेन किसी भी स्थिति में दिगम्बर परंपरा से सम्बद्ध नहीं रहे हैं। यदि वे 5वीं शती के पश्चात् हुए हैं, तो निश्चित ही श्वेताम्बर हैं और यदि उसके पूर्व हुए हैं, तो अधिक से अधिक

श्वेताम्बर और यापनीय परंपरा की पूर्वज उत्तर भारतीय निर्ग्रन्थ धारा से सम्बद्ध रहे हैं। उनके सन्मतितर्क में क्रमवाद के साथ-साथ युगपदवाद की समीक्षा, आगमिक परंपरा का अनुसरण, कृति का महाराष्टी प्राकृत में होना आदि तथ्य इसी संभावना को पुष्ट करते हैं। वरांगचरित के 26वें सर्ग के अनेक श्लोक सन्मतितर्क के प्रथम और तृतीय काण्ड की गाथाओं का संस्कृत रूपान्तरण मात्र लगते हैं।

वरांगचरित	सन्मतितर्क	वरांगचरित	सन्मतितर्क
26/52	1/6	26/65	1/52
26/53	1/9	26/69	3/47
26/54	1/11	26/70	3/54
26/55	1/12	26/71	3/55
26/57	1/17	26/72	3/53
26/58	1/18	26/78	3/69
26/60	1/21	26/90	3/69
26/61	1/22	26/99	3/67
26/62	1/23-24	26/100	3/68
26/63	1/25		
26/64	1/51		

वरांगचरितकार जटासिंहनन्दी द्वारा सिद्धसेन का यह अनुसरण इस बात का सूचक है कि वे सिद्धसेन से निकट रूप से जुड़े हुए हैं। सिद्धसेन का प्रभाव श्वेताम्बरों के साथ-साथ यापनीयों के कारण पुन्नाटसंघीय आचार्यों एवं पंचस्तूपान्वय के आचार्यों पर भी देखा जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि जटासिंहनन्दी उस यापनीय अथवा कूर्चक परंपरा से संबंधित रहे होंगे, जो अनेक बातों में श्वेताम्बरों की आगमिक परंपरा के निकट थी। यदि सिद्धसेन श्वेताम्बरों और यापनीयों के पूर्वज आचार्य हैं, तो यापनीय आचार्यों के द्वारा उनका अनुसरण संभव है।

यद्यपि वरांगचरित के इसी सर्ग की दो गाथाओं पर समन्तभद्र का भी प्रभाव देखा जाता है, किन्तु सिद्धसेन की अपेक्षा यह प्रभाव अल्प मात्रा में हैं।[10]

(7) वरांगचरित में अनेक संदर्भों में आगमों, प्रकीर्णकों एवं निर्युक्तियों का अनुसरण भी किया गया है। सर्वप्रथम तो उसमें कहा गया है- "उन वरांगमुनि ने

अल्पकाल में ही आचारांग और अनेक प्रकीर्णकों का सम्यक् अध्ययन करके क्रमपूर्वक अंगों एवं पूर्वों का अध्ययन किया[11]।" इस प्रसंग में प्रकीर्णकों का उल्लेख महत्वपूर्ण है। विषयवस्तु की दृष्टि से तो इसके अनेक सर्गों में आगमों का अनुसरण देखा जाता है। विशेष रूप से स्वर्ग, नरक, कर्म-सिद्धांत आदि संबंधी विवरण में उत्तराध्ययनसूत्र का अनुसरण हुआ है। जटासिंहनन्दी ने चतुर्थ सर्ग में जो कर्मसिद्धांत का विवरण दिया है, उसके अनेक श्लोक अपने प्राकृत रूप में उत्तराध्ययन के तीसवें कर्मप्रकृति नामक अध्ययन में यथावत् मिलते हैं -

उत्तराध्ययन	वरांगचरित
30/2-3	4/2-3
30/4-6	4/24-25
30/8-9	4/25-26-27
30/10-11	4/28-29
30/12	4/33 (आंशिक)
30/13	4/35 (आंशिक)
30/15	4/37

यद्यपि संपूर्ण विवरण की दृष्टि से वरांगचरित का कर्मसिद्धांत संबंधी विवरण उत्तराध्ययन की अपेक्षा विकसित प्रतीत होता है। इसी प्रकार की समानता स्वर्ग-नरक के विवरण में भी देखी जाती है। उत्तराध्ययन में 36वें अध्ययन की गाथा क्रमांक 284 से 296 तक वरांगचरित के नौवें सर्ग के श्लोक 1 से 12 तक किंचित् शाब्दिक परिवर्तन के साथ संस्कृत रूप में पाई जाती है। आश्चर्य की बात यह है कि जटासिंहनन्दी भी आगमों के अनुरूप बारह देवलोकों की चर्चा करते हैं।

इसी प्रकार, प्रकीर्णक साहित्य की भी अनेक गाथाएँ वरांगचरित में अपने संस्कृत रूपांतर के साथ पायी जाती हैं, देखें-

दंसणभट्ठो भट्ठो, न हु भट्ठो होइ चरणब्भट्ठो।
दंसणमणुपत्तस्स उ परियडणं नत्थि संसारे॥65॥
दंसणभट्ठो भट्ठो, दंसणभट्ठस्स नत्थि निव्वाणं।
सिज्झंति चरणरहिया, दंसणरहिया न सिज्झंति॥66॥

- भक्तपरिज्ञा

तुलनीय-

दर्शनाद्भ्रष्ट एवानुभ्रष्ट इत्यभिधीयते।
न हि चारित्रविभ्रष्टो भ्रष्ट इत्युच्यते बुधैः ॥96॥
महता तपसा युक्तो मिथ्यादृष्टिरसंयतः।
तस्य सर्वज्ञसंदृष्ट्या संसारोऽनन्त उच्यते ॥97॥

-वरांगचरित, सर्ग-26

इसी प्रकार वरांगचरित के निम्न श्लोक आतुर प्रत्याख्यान में पाये जाते हैं-

एकस्तु मे शाश्वतिक : स आत्मा सद्दृष्टिसज्ज्ञानगुणैरुपेतः ।
शेषाश्च मे बाह्यतमाश्च भावाः संयोगसल्लक्षणलक्षितास्ते ॥101॥
संयोगतो दोषमवाप जीवः परस्परं नैकविधानुबन्धि।
तस्माद्विसंयोगमतो दुरन्तमाजीवितान्तादेहमुत्सृजामि ॥102॥
सर्वेषु भूतेषु मनः समं मे वैरं न मे केनचिदस्ति किंचित्।
आशां पुनः क्लेशसहस्रमूलां हित्वा समाधिं लघु संप्रपद्ये ॥103॥

- वरांगचरित, सर्ग 31

तुलनीय-

एगो मे सासओ अप्पा नाण-दंसणसंजुओ।
सेसा मे बहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥27॥
संजोगमूला जीवेणं पत्ता दुक्खपरंपरा।
तम्हा संजोगसंबंध सव्वं भावेण वोसिरे ॥28॥
सम्मं मे सव्वभूएसु वेरं मज्झ न केणई।
आसाओ वोसिरित्ताणं समाहिं पडिवज्जए ॥22॥

- आतुरप्रत्याख्यान

ये तीनों गाथाएं आतुरप्रत्याख्यान से सीधे वरांगचरित में गईं या मूलाचार के माध्यम से वरांगचरित में गईं, यह एक अलग प्रश्न है। मूलाचार यापनीय ग्रंथ है, अतः यदि ये गाथाएँ मूलाचार से भी ली गई हों, तो भी जटासिंहनन्दी और उनके ग्रंथ वरांगचरित के यापनीय होने की ही पुष्टि होती है। यद्यपि कुन्दकुन्द के ग्रंथों में भी ये गाथाएँ पाई जाती हैं, किंतु इतना निश्चित है कि कुन्दकुन्द ने भी ये गाथाएँ मूलाचार से ही ली होंगी। पुनः, मूलाचार में आतुरप्रत्याख्यान की लगभग सभी गाथाएँ समाहित कर ली गई हैं, अतः अन्ततोगत्वा तो ये गाथाएँ आतुर प्रत्याख्यान से ही ली गई हैं।

आवश्यकनिर्युक्ति की भी निम्न दो गाथाएँ वरांगचरित में मिलती हैं-

हयं नाणं कियाहीणं, हया अन्नाणओ किया।
पासंतो पंगुलो दड्ढो धावमाणो अ अंधओ॥101॥
संजोगसिद्धीइ फलं वयंति, न हु एगचक्केण रहो पयाइ।
अंधो य पंगू य वणे समिच्चा ते संपउत्ता नगरं पविट्ठा॥102॥

तुलनीय-

क्रियाहीनं च यज्ज्ञानं न तु सिद्धिं प्रयच्छति।
परिपश्यन्यथा पङ्गुमुग्धो दग्धो दवाग्निना॥99॥
तौ यथा संप्रयुक्तौ तु दवाग्निमधिगच्छतः।
तथा ज्ञानचारित्राभ्यां संसारान्मुच्यते पुमान्॥101॥

- वरांगचरित, सर्ग 26

आगम, प्रकीर्णक और निर्युक्ति साहित्य का यह अनुसरण जटासिंहनन्दी और उनके ग्रंथ को दिगम्बरेतर यापनीय या कूर्चक सम्प्रदाय का सिद्ध करता है।

(8) जटासिंहनन्दी ने न केवल सिद्धसेन का अनुसरण किया है, अपितु उन्होंने विमलसूरि के पउमचरियं का भी अनुसरण किया है। चाहे यह अनुसरण उन्होंने सीधे रूप से किया हो या रविषेण के पद्मचरित के माध्यम से किया हो, किन्तु इतना सत्य है कि उन पर यह प्रभाव आया है। वरांगचरित के श्रावक के व्रतों की जो विवेचना उपलब्ध होती है, वह न तो पूर्णतः श्वेताम्बर परंपरा के उपासकदशा के निकट है और न पूर्णतः दिगम्बर परंपरा द्वारा मान्य तत्त्वार्थ के पूज्यपाद देवनन्दी के सर्वार्थसिद्धि के मूलपाठ के निकट है, अपितु वह विमलसूरि के पउमचरियं के निकट हैं। पउमचरियं के समान ही इसमें भी देशावकासित व्रत का अन्तर्भाव दिग्व्रत में मानकर उस रिक्त स्थान की पूर्त्ति के लिए संलेखना को बारहवाँ शिक्षाव्रत माना गया है[12]। कुन्दकुन्द ने भी इस परंपरा का अनुसरण किया है[13]। कुन्दकुन्द विमलसूरि से तो निश्चित ही परवर्ती हैं और सम्भवतः जटासिंहनन्दी से भी, अतः उनके द्वारा किया गया यह अनुसरण अस्वाभाविक भी नहीं है। स्मरण रहे कि कुन्दकुन्द ने त्रस-स्थावर के वर्गीकरण, चतुर्विध मोक्षमार्ग आदि के संबंध में भी आगमिक परम्परा का अनुसरण किया है और उनके ग्रंथों में प्रकीर्णकों की अनेक गाथाएँ मिलती हैं। विमलसूरि के पउमचरियं का अनुसरण, रविषेण, स्वयम्भू आदि अनेक यापनीय आचार्यों ने किया है, अतः जटासिंहनन्दी के यापनीय होने की संभावना प्रबल प्रतीत होती है।

(9) जटासिंहनन्दी ने वरांगचरित के नौवें सर्ग में कल्पवासी देवों के प्रकारों का जो विवरण प्रस्तुत किया है, वह दिगम्बर परंपरा से भिन्न है। वैमानिक देवों के भेद को लेकर श्वेताम्बर और दिगम्बर परंपरा में स्पष्ट रूप से मतभेद हैं। जहाँ श्वेताम्बर परंपरा वैमानिक देवों के 12 विभाग मानती है, वहाँ दिगम्बर परंपरा उनके 16 विभाग मानती है। इस सन्दर्भ में जटासिंहनन्दी स्पष्ट रूप से श्वेताम्बर या आगमिक परंपरा के निकट हैं। वे नौवें सर्ग के द्वितीय श्लोक में स्पष्ट रूप से यह कहते हैं कि कल्पवासी देवों के बारह भेद हैं[14]। पुनः, इसी सर्ग के सातवें श्लोक से नौवें श्लोक तक उत्तराध्ययनसूत्र के समान उन 12 देवलोकों के नाम भी गिनाते हैं[15]। यहाँ वे स्पष्ट रूप से न केवल दिगम्बर परंपरा से भिन्न होते हैं, बल्कि किसी सीमा तक यापनीयों से भी भिन्न प्रतीत होते हैं। यद्यपि यह संभावना है कि यापनीयों में प्रारंभ में आगमों का अनुसरण करते हुए 12 भेद मानने की प्रवृत्ति रही होगी, किन्तु बाद में दिगम्बर परंपरा या अन्य किसी प्रभाव से उनमें 16 भेद मानने की परंपरा विकसित हुई होगी। तत्त्वार्थसूत्र के सर्वार्थसिद्धि मान्य पाठ में तथा तिलोयपण्णत्ति में इन दोनों ही परम्पराओं के बीज देखे जाते हैं। तत्त्वार्थसूत्र का सर्वार्थसिद्धि मान्य यापनीय पाठ जहाँ देवों के प्रकारों की चर्चा करता है, वहाँ वह 12 का निर्देश करता है, किन्तु जहाँ वह उनके नामों का विवरण प्रस्तुत करता है, तो वहाँ 16 नाम प्रस्तुत करता है[16]। यतिवृषभ को तिलोयपण्णत्ति में भी 12 और 16 दोनों प्रकार की मान्यताएँ होने का स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है[17]। इससे स्पष्ट लगता है कि प्रारंभ में आगमिक मान्यता का अनुसरण करते हुए यापनीयों में और यदि जटासिंहनन्दी कूर्चक हैं, तो कूर्चकों में भी कल्पवासी देवों के 12 प्रकार मानने की परंपरा रही होगी। आगे, यापनीयों में 16 देवलोकों की मान्यता किसी अन्य परंपरा के प्रभाव से आयी होगी।

(10) वरांगचरित में वरांगकुमार की दीक्षा का विवरण देते हुए लिखा है कि- 'श्रमण और आर्यिकाओं के समीप जाकर तथा उनका विनयोपचार (वन्दन) करके वैराग्ययुक्त वरांगकुमार ने एकांत में जा सुंदर आभूषणों का त्याग किया तथा गुण, शील, तप एवं प्रबुद्ध तत्व रूपी सम्यक् श्रेष्ठ आभूषण तथा श्वेत शुभ्र वस्त्रों को ग्रहण करके वे जिनेन्द्र द्वारा प्रतिपादित मार्ग में अग्रसर हुए[18]। दीक्षित होते समय मात्र आभूषणों का त्याग करना तथा श्वेत शुभ्र वस्त्रों को ग्रहण करना दिगम्बर परंपरा में विरोध में जाता है। इससे ऐसा लगता है कि जटासिंहनन्दी दिगम्बर परम्परा से भिन्न

किसी अन्य परंपरा का अनुसरण करने वाले थे। यापनीयों में अपवाद मार्ग में दीक्षित होते समय राजा आदि का नग्न होना आवश्यक नहीं माना गया था। चूँकि वरांगकुमार राजा थे, अतः संभव है कि उन्हें सवस्त्र ही दीक्षित होते दिखाया गया हो। यापनीय ग्रंथ भगवती आराधना एवं उसकी अपराजिता टीका में हमें ऐसे निर्देश मिलते हैं, राजा आदि कुलीन पुरुष दीक्षित होते समय या संथारा ग्रहण करते समय अपवादलिंग (सवस्त्र) रख सकते हैं[19]। पुनः, वरांगचरित में हमें मुनि की चर्या के प्रसंग में हेमन्तकाल में शीत-परिषह सहते समय मुनि के लिए मात्र एक बार दिगम्बर शब्द का प्रयोग मिला है[20]। सामान्यतया 'विशीर्णवस्त्रा' शब्द का प्रयोग हुआ है। एक स्थल पर अवश्य मुनियों को 'निरस्त्रभूषा' कहा गया है, [21] किन्तु निरस्त्रभूषा का अर्थ साज-सज्जा से रहित होता है, नग्न नहीं। ये कुछ ऐसे तथ्य हैं, जिन पर वरांगचरित की परंपरा का निर्धारण करते समय गंभीरता से विचार किया जाना चाहिए। मैं चाहूँगा कि आगे आने वाले विद्वान् संपूर्ण ग्रंथ का गंभीरतापूर्वक आलोडन करके इस समस्या पर विचार करें।

साध्वियों के प्रसंग में चर्चा करते समय उन्हें जीर्ण-शीर्ण वस्त्रों को धारण करने वाली अथवा विशीर्ण वस्त्रों में आवृत्त देह वाली कहा गया है[22]। इससे भी यह सिद्ध होता है कि वरांगचरितकार जटासिंहनन्दी को स्त्री दीक्षा और सवस्त्र दीक्षा मान्य थी, जबकि कुन्दकुन्द स्त्री दीक्षा का स्पष्ट निषेध करते है[23]।

(11) वरांगचरित में स्त्रियों के दीक्षा का स्पष्ट उल्लेख है, [24] उसमें कहीं भी ऐसा उल्लेख नहीं है कि स्त्री को उपचार से महाव्रत होते हैं, जैसा कि दिगम्बर परंपरा मानती है। इस ग्रंथ में उन्हें तपोधना, अमितप्रभावी, गणाग्रणी, संयमनायिका जैसे सम्मानित पदों से अभिहित किया गया है[25]। साध्वी वर्ग के प्रति ऐसा आदरभाव कोई श्वेताम्बर या यापनीय आचार्य ही प्रस्तुत कर सकता है। अतः, इतना निश्चित है कि जटासिंहनन्दी का वरांगचरित कुन्दकुन्द की उस दिगम्बर परंपरा का ग्रंथ नहीं हो सकता, जो स्त्रियों की दीक्षा निषेध करती हो, या उनको उपचार से ही महाव्रत कहे गये हैं- ऐसा मानती हो। कुन्दकुन्द ने सूत्रप्राभृत गाथा क्रमांक 25 में एवं लिङ्गप्राभृत गाथा क्रमांक 20 में स्त्री दीक्षा का स्पष्ट निषेध किया है, यह हम पूर्व में दिखा चुके हैं।

(12) वरांगचरित में श्रमणों और आर्यिकाओं को वस्त्रदान की चर्चा है। यह तथ्य दिगम्बर परंपरा के विपरीत है। उसमें लिखा है कि 'वह नृपति मुनि पुङ्गवों को

आहारदान, श्रमणों और आर्यिकाओं को वस्त्र और अन्नदान तथा दरिद्रों को याचित दान (किमिच्छदानं) देकर कृतार्थ हुआ[26]।'' यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि मूल श्लोक में जहाँ मुनि पुङ्गवों के लिए आहारदान का उल्लेख किया गया है, वहां श्रमण और आर्यिकाओं के लिए वस्त्र और अन्न (आहार) के दान का प्रयोग हुआ है। संभवतः, यहाँ अचेल मुनियों के लिए ही 'मुनिपुङ्गव' शब्द का प्रयोग हुआ है और सचेल मुनि के लिए 'श्रमण'। भगवती आराधना एवं उसकी अपराजित की टीका से यह स्पष्ट हो जाता है कि यापनीय परम्परा में अपवाद मार्ग में मुनि के लिए वस्त्र-पात्र ग्रहण करने का निर्देश है[27]।

वस्त्रादि के संदर्भ में उपरोक्त सभी तथ्यों को दृष्टिगत रखते हुए यह कहा जा सकता है कि जटासिंहनन्दी और उनका वरांगचरित भी यापनीय/कूर्चक परंपरा से सम्बद्ध रहा है।

(13) वर्ण-व्यवस्था के संदर्भ में भी वरांगचरित के कर्त्ता जटासिंहनन्दी का दृष्टिकोण आगमिक धारा के अनुरूप एवं अति उदार है। उन्होंने वरांगचरित के पच्चीसवें सर्ग में जन्मना आधार पर वर्ण व्यवस्था का स्पष्ट निषेध किया है। वे कहते हैं कि वर्ण व्यवस्था कर्म विशेष के आधार पर ही निश्चित होती है, इससे अन्य रूप में नहीं[28]। जातिमात्र से कोई विप्र नहीं होता, अपितु ज्ञान, शील आदि से ब्राह्मण होता है। ज्ञान से रहित ब्राह्मण भी निकृष्ट है, किन्तु ज्ञानी शूद्र भी वेदाध्ययन कर सकता है। व्यास, वसिष्ठ, कमठ, कण्ठ, द्रोण, पराशर आदि ने अपनी साधना और सदाचार से ही ब्राह्मणत्व को प्राप्त किया था। इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्ण-व्यवस्था के संदर्भ में वरांगचरितकार का दृष्टिकोण उत्तराध्ययन आदि की आगमिक धारा के निकट है। पुनः, इस आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि जटासिंहनन्दी उस दिगम्बर परम्परा के नहीं हैं, जो शूद्र जलग्रहण और शूद्र मुक्ति का निषेध करती है। इससे जटासिंहनन्दी और उनके ग्रंथ वरांगचरित के यापनीय अथवा कूर्चक होने की पुष्टि होती है।

संदर्भ -

1. .... यापनीयसंघप्रतीतकण्डूर्गणाब्धि ...। जैन शिलालेख संग्रह, भाग 2, लेख क्रमांक 160.
2. देखें - वरांगचरित, भूमिका (अंग्रेजी), पृ. 16.

3. देखें - जैन शिलालेख संग्रह, भाग 2, लेख क्रमांक 267, 277, 299.

4. वही, भाग 2, लेख क्रमांक 267, 277, 299.
ज्ञातव्य है कि काणूरगण को मूल संघ, कुन्दकुन्दान्वय और मेषपाषाण गच्छ से जोड़ने वाले ये लेख न केवल परवर्ती हैं, अपितु इनमें एकरूपता भी नहीं है.

5. वरांगचरित, सं.ए.एन. उपाध्ये, भूमिका (अंग्रेजी), पृष्ठ 16 पर उद्धृत-
वंद्यूर जटासिंहणंद्याचार्यदींद्रणंद्याचार्य दि मुनि परा काणूर्गणं।
-अनन्तनाथ पुराण 1/17.

6. देखें - जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय, प्रो. सागरमल जैन, पृ. 145-146.

7. देखें - वरांगचरित, सं. - ए.एन. उपाध्ये, भूमिका (अंग्रेजी), पृ. 17.

8. देखें - यापनीय संघ पर कुछ और प्रकाश, ए.एन. उपाध्ये, अनेकांत, वीर निर्वाण विशेषांक 1975.

9. यतीनां (3/7), यतीन्द्र (3/43), यतिपतिना (5/113), यति (5/114), यतिना (8/68), वीरचर्या यतयोबभूवुः (30/61), यतिपतिं (30/99), यतिः (31/21).

10. देखें- वरांगचरित 26/82-83, तुलनीय स्वयम्भूस्तोत्र (समंतभद्र) -102-103.

11. आचारमादौ समधीत्य धीमान्प्रकीर्णकाध्यायमनेकभेदम्।
अङ्गानि पूर्वाश्च यथानुपूर्व्यामल्पैरहोभिः सममध्यगीष्ट ॥
- वरांगचरित, 31/18.

12. स्थूलामहिंसामपि सत्यवाक्यचोरतादाररतिव्रतं च।
भोगोपभोगार्थपरिप्रमाणमनर्थदिग्देशनिवृत्तितां च॥
सामायिकं प्रोषधपात्रदानं सल्लेखनां जीवितसंशये च।
गृहस्थधर्मस्य हि सार एषः संक्षेपतस्तेऽभिनिगद्यते स्म॥
देखिए - वरांगचरित- 22/29-30, वरांगचरित- 15/111-125.

तुलनीय- पञ्च य अणुव्वयाइं, तिण्णेव गुणव्वयाइं भणियाइं।
सिक्खावयाणि एत्तो, चत्तारि जिणोवइट्ठाणि॥112॥
थूलयरं पाणिवहं, मूसावायं अदत्तदाणं च।
परजुवईण निवित्ती, संतोसवयं च पञ्चमयं॥113॥
दिसिविदिसाण य नियमो, अणत्थदण्डस्थ वज्जणं चेव।
उवभोगपरिमाणं, तिण्णेव गुणव्वया ऐए॥114॥
सामाइयं च उववासपोसहो अतिहिसंविभागो य।
अन्तेसमाहिमरणं, सिक्खासु वयाइँ चत्तारि॥115॥

- पउमचरियं उद्देशक 14

13. पंचेवणुव्वयाइं गुणव्वयाइं हवंति तह तिण्णि।
सिक्खावय चत्तारि य संजमचरणं च सायारं॥
थूले तसकायवहे थूले मोसे अदत्तथूले य।
परिहरो परमहिला परिग्गहारंभ परिमाणं॥
दिसिविदिसिमाणं पढमं अणत्थदंडस्स वज्जणं विदियं।
भोगोपभोगपरिमाण इयमेव गुणव्वया तिण्णि॥
सामाइयं च पढमं विदियं च तहेव पोसहं भणियं।
तइयं च अतिहिपुज्जं चउत्थ सल्लेहणा अंते॥

- चरित्तपाहुड, गाथा 23-26

14. दशप्रकारा भवनाधिपानां ते व्यन्तरास्त्वष्टविधा भवन्ति।
ज्योतिर्गणाश्चापि दशार्धभेदा द्विषट्प्रकाराः खलु कल्पवासाः॥

- वरांगचरित- 9/2,

15. सौधर्मकल्पः प्रथमोपदिष्ट ऐशानकल्पश्च पुनर्द्वितीयः।
सनत्कुमारो द्युतिमांस्तुतीयो माहेन्द्रकल्पश्च चतुर्थ उक्तः॥
ब्राह् म्यं पुनः पञ्चममाहुरार्यास्ते लान्तवं षष्ठमुदाहरन्ति।
स सप्तमः शुक्र इति प्ररूढः कल्प सहस्त्रार इतोऽष्टमस्तु॥
यमानतं तन्नवमं वदन्ति स प्राणतो यो दशमस्तु वर्ण्यः।
एकादशं त्वारणमामनन्ति तमारणं द्वादशमच्युतान्तम्॥

- वरांगचरित, 9/7-8-9

16. दशाष्टपञ्चद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः।

- तत्त्वार्थसूत्र, विवेचक-पं. फूलचन्द्र शास्त्री, 4/3, पृ. 118

देखें - 4।19 में 16 कल्पों का निर्देश है।

17. वारस कप्पा केई केई सोलस वदंति आइरिया ॥115॥
सोहम्मीसाणसणक्कुमारमाहिंदबम्हलंतवया।
महसुक्कसहस्सारा आणदपाणदयआरणच्चुदया ॥120॥

- तिलोयपण्णत्ती, आठवाँ अधिकार

19. ततो हि गत्वा श्रमणार्जिकानां समीपभ्येत्य कृतोपचाराः।
विविक्तदेशे विगतानुरागा जहुर्वराङ्गयो वर भूषणानि ॥93॥
गुणाश्च शीलानि तपांसि चैव प्रबुद्धतत्त्वाः सितशुभ्रवस्त्राः।
संगृह्य सम्यग्वरभूषणानि जिनेन्द्रमार्गाभिरता बभूकः ॥94॥

-वरांगचरित- 29/93-94

20. आवसधे वा अप्पाउग्गे जो वा महद्धिढओ हिरिमं।
मिच्छजणे सजणे वा तस्स होज्ज अववादियं लिंगं ॥78॥
आगे इसकी टीका देखें - 'अपवादिकलिंगं सचेललिंगं'

- भगवती आराधना, भाग 1, अपराजित टीका, पृ. 114

21. हेमन्तकाले धृतिबद्धकक्षा दिगम्बरा ह्यभ्रवकाशयोगाः।

- वरांगचरित- 30/32 4. .... कृतकेशलोचः।- वही 302

22. विशीर्णवस्त्रावृतगात्रयष्टयस्ताः काष्ठमात्रप्रतिमा बभूवुः।

- वरांगचरित- 31/13

23. (अ) इत्थीसु ण पावया भणिया।
(ब) दंसणणाणचरित्ते महिलावग्गम्मि देहि वीसट्ठो।
पासत्थ वि हु णियट्ठो भावविणट्टोण सो समणो ॥

-लिंगपाहुड 20

24. (अ) नरेन्द्रपत्न्यः श्रुतिशीलभूषा... प्रतिपन्नदीक्षास्तदा बभूवुः
परिपूर्णकामाः ॥31/1॥ दीक्षाधिराज्यश्रियमभ्युपेता... ॥31/2//
(ब) नरवरवनिता विमुच्य साध्वीशमुपययुः स्वपुराणि भूमिपालाः ॥29/99//
(स) व्रतानि शीलान्यमृतोपमानि... ॥31/4॥
(द) महेन्द्रपत्न्यः श्रमणत्वमाप्य... ॥31/113॥-वरांगचरित

25. तपोधनानाममितप्रभावा गणाग्रणी संयमनायका सा।

- वरांगचरित- 31/6

26. "आहारदानं मुनि पुङ्गवेभ्यो, वस्त्रान्नदानं श्रमणार्यिकाभ्यः।
किमिच्छदानं खलु दुर्गतेभ्यो दत्वाकृतार्थों नृपतिर्बभूव॥

-वरांगचरित- 23/92

* (ज्ञातव्य है कि मूल में प्रूफ की अशुद्धि से श्रमण स्थान पर श्रवण छप गया है।)

27. (अ) आपवादिक लिंगं सचेललिंगं ....।

- भगवती आराधना टीका, पृ. 114

(ब) चत्तारि जणा भत्तं उबकप्पेंति ...
चत्तारिजणा रक्खन्ति दवियमुवकप्पियं तयं तेहि।

- भगवती आराधना 661 एवं 663

28. क्रियाविशेषाद् व्यवहारमात्राद्याभिरक्षाकृषिशिल्पभेदात्।
शिष्टाश्च वर्णाश्चतुरो वदन्ति न चान्यथा वर्णचतुष्टयं स्यात्॥

- वरांगचरित, 25/11

10- अपभ्रंश के महाकवि स्वयम्भू
(ईस्वी सन् की 8वीं शती)

महाकवि स्वयंभूदेव का अपभ्रंश साहित्य के कवियों में महत्वपूर्ण अवदान है। पुष्पदन्त ने उन्हें व्यास, भास, कालिदास, भारवी और बाण के समकक्ष कवि माना है। वे 'महाकवि', 'कविराज', 'कवि चक्रवर्त्ती' जैसी उपाधियों से सम्मानित थे। यद्यपि स्वयंभू की तीन महत्वपूर्ण कृतियाँ आज भी अविकल रूप से उपलब्ध हैं, फिर भी उनसे उनके जीवन के संबंध में बहुत कम जानकारी उपलब्ध होती है। उनकी इन कृतियों में उनके जन्म-स्थान, कुल, परम्परा, समय आदि के संबंध में बहुत कम सूचनाएँ प्राप्त हैं। जहाँ तक स्वयंभू के पारिवारिक जीवन का प्रश्न है, हमें मात्र इतनी ही जानकारी प्राप्त है कि उनके पुत्रों में एक पुत्र का नाम त्रिभुवनस्वयंभू था, जिसने अपने पिता की अधूरी कृति को पूर्ण किया था। इसके साथ ही स्वयंभू की कृतियों में उनके पिता मारुतदेव और माता पद्मनी का उल्लेख मिलता है। उन्होंने यह भी कहा कि उनकी माता पद्मनी के समान ही सुंदर थी। इन सामान्य सूचनाओं के अतिरिक्त उनकी वंश परंपरा आदि की विस्तृत जानकारी अप्राप्त है। स्वयंभू की दो पत्नियाँ थीं, एक अमृताम्बा और दूसरी आदित्याम्बा। पंडित नाथूराम प्रेमी ने उनकी तीसरी पत्नी सुअम्बा का भी अनुमान किया है, जो संभवतः उनके पुत्र त्रिभुवनस्वयंभू की माता थी।

स्वयंभू का काल

जहाँ तक स्वयंभू के समय का प्रश्न है, उनकी कृतियों में कहीं भी रचनाकाल का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है, फिर भी उन्होंने अपनी कृतियों में बाण, श्रीहर्ष, रविषेण आदि का स्मरण किया है, इससे कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। रविषेण के पद्मचरित्र का रचनाकाल ई. सन् 677 माना जाता है, अतः इतना निश्चित है कि स्वयंभू ई. सन् 677 के पश्चात् ही हुए हैं। पुनः, पुष्पदन्त ने अपने महापुराण में अपने पूर्ववर्ती कवियों में स्वयंभू का उल्लेख किया है। पुष्पदन्त के महापुराण का रचनाकाल ई. सन् 960 है। अतः, इतना निश्चित होता है कि स्वयंभू ई. सन् 677 में 960 के बीच कभी हुए हैं, स्वयंभू द्वारा रविषेण का उल्लेख तथा जिनसेन का अनुल्लेख यह भी सूचित करता है कि वे जिनसेन के कुछ पूर्व ही हुए होंगे। जिनसेन के हरिवंशपुराण का रचनाकाल ई. सन् 783 माना जाता है, अतः स्वयंभू का समय ई. सन् 677 से ई. सन् 783 के मध्य भी माना जा सकता है। यद्यपि यह एक अभावात्मक साक्ष्य है, इसीलिए

प्रो. भयाणी इसे मान्य नहीं करते हैं। संभवतः, उनके इस कथन का आधार स्वयंभू द्वारा राष्टकूट राजा ध्रुव के सामन्त धनञ्जय का अपने आश्रयदाता के रूप में उल्लेख है। उन्होंने पउमचरिउ के विद्याधर काण्ड में स्वयं ही यह उल्लेख किया है, उन्होंने ध्रुव के हेतु इसकी रचना की। इतिहासकारों ने राष्टकूट राजा ध्रुव का काल ई. सन् 780 से 794 माना है। स्वयम्भू इनके समकालीन रहे होंगे। स्वयम्भू द्वारा अपनी कृतियों में काण्डों की समाप्ति में वारो, नक्षत्रों आदि का उल्लेख तो किया गया है, किन्तु दुर्भाग्य से संवत् का उल्लेख कहीं नहीं है। इनके अनुसार, पिल्लाई पञ्चाङ्ग के आधार पर प्रो. भयाणी ने यह माना कि युद्धकाण्ड 31 मई 717 को समाप्त हुआ होगा, किन्तु यह मात्र अनुमान ही है, क्योंकि यहाँ संवत् से स्पष्ट उल्लेख का अभाव है। फिर भी, इतना तो सुनिश्चित है कि स्वयम्भू ई. सन् की 8वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध एवं नौवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध अर्थात् ई. सन् 751 से 850 के बीच कभी हुए हैं।

स्वयंभू का सम्प्रदाय

जहाँ तक स्वयम्भू की धर्म परंपरा का प्रश्न है, यह स्पष्ट है कि वे जैन परंपरा में हुए हैं। यद्यपि उनके पुत्रादि के नामों को देखकर ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि उनके कुल का संबंध शैव या वैष्णव परंपरा में रहा होगा, किन्तु मेरी दृष्टि में यह कल्पना इसलिए समीचीन नहीं लगती है कि यदि वे शैव या वैष्णव परंपरा में हुए होते, तो निश्चित ही वाल्मीकि की रामकथा का अनुसरण करते, न कि विमलसूरि या रविषेण की रामकथा का। पुनः, उनके द्वारा रिट्ठनेमिचरिउ आदि की रचना से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका संबंध जैन परंपरा से रहा होगा। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि पुष्पदन्त के महापुराण के संस्कृत टिप्पण में उन्हें स्पष्टतया आपलीयसंघीय (यापनीयसंघीय) कहा गया है। डॉ. किरण सिपानी ने उनके व्यक्तित्व आदि के सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा करते हुए स्वयम्भू की धार्मिक सहिष्णुता एवं वैचारिक उदारता के आधार पर जो यह निष्कर्ष निकाला है कि वे कट्टरतावादी दिगम्बर सम्प्रदाय की अपेक्षा जैन धर्म के समन्वयवादी यापनीय सम्प्रदाय से सबंधित रहे होंगे, उचित तो है, फिर भी मेरी दृष्टि में स्वयंम्भू का मात्र सहिष्णु और उदारवादी होना ही उनके यापनीय होने का प्रमाण नहीं है, इसके अतिरिक्त भी ऐसे अनेक प्रमाण हैं, जिसके आधार पर उन्हें यापनीय सम्प्रदाय का माना जा सकता है।

1. स्वयम्भू ने भी अपने रामकथा के स्रोत की चर्चा करते हुए रविषेण की परंपरा

का अनुसरण किया है। वे भी इस कथा को महावीर, इन्द्रभूति, सुधर्मा, प्रभव, कीर्त्ति तथा रविषेण से प्राप्त बताते हैं । अपने कथास्त्रोत में प्रभव आदि का उल्लेख यही सिद्ध करता है कि वे यापनीय परंपरा से सम्बद्ध रहे होंगे, क्योंकि दिगम्बर परंपरा में प्रभव का उल्लेख नहीं है।

2. उनकी रामकथा में भी विमलसूरि के ' पउमचरिय' तथा रविषेण के 'पद्मचरित' का अनुसरण हुआ है। उन्होंने दिगम्बर परंपरा में प्रचलित गुणभद्र की रामकथा का अनुसरण नहीं किया है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि उनकी कथाधारा दिगम्बर परंपरा की कथाधारा से भिन्न है। यदि रविषेण यापनीय हैं, तो उनकी कथा-धारा का अनुसरण करने वाले स्वयंभू भी यापनीय ही सिद्ध होते हैं।[1]

3. यद्यपि स्वयंभू ने स्पष्ट रूप से अपने सम्प्रदाय का उल्लेख ही नहीं किया है, किन्तु पुष्पदन्त के महापुराण के टिप्पण में उन्हें आपलीय संघीय बताया गया है।[2] इसी आधार पर पण्डित नाथूरामजी प्रेमी ने भी उन्हें यापनीय माना है।[3]

4. स्वयम्भू द्वारा दिवायर (दिवाकर), गुणहर (गुणधर), विमल (विमलसूरि) आदि अन्य परंपरा के कवियों का आदरपूर्वक उल्लेख भी उनके यापनीय परम्परा से सम्बद्ध होने का प्रमाण इसीलिए माना जाना चाहिए कि ऐसी उदारता यापनीय परम्परा में देखी जाती है, दिगम्बर परम्परा में नहीं।

5. स्वयम्भू के ग्रन्थों में अन्यतैर्थिक की मुक्ति की अवधारणा को स्वीकार किया गया है। अन्यतैर्थिक की मुक्ति की अवधारणा आगमिक है और आगमों को मान्य करने के कारण यह अवधारणा श्वेताम्बर और यापनीय- दोनों में स्वीकृत रही है। उत्तराध्ययन, जिसमें स्पष्ट रूप से अन्यलिंग सिद्ध का उल्लेख है, यापनीयों को भी मान्य रहा है। प्रोफेसर एच.सी. भायाणी का मन्तव्य भी उन्हें यापनीय मानने के पक्ष में है। वे लिखते हैं कि यद्यपि इस संदर्भ में हमें स्वयंभू की ओर से प्रत्यक्ष या परोक्ष कोई वक्तव्य नहीं मिलता है, परंतु यापनीय सग्रन्थ अवस्था तथा परशासन से भी मुक्ति स्वीकार करते थे और स्वयम्भू ने भी अपनी कृतियों में ऐसे उल्लेख किये हैं। पुनः वे अपेक्षाकृत अधिक उदारचेता थे, अतः उन्हें यापनीय माना जा सकता है।

6. एक ओर अचेलकत्व पर बल और दूसरी ओर श्वेताम्बर मान्य आगमों में

उल्लिखित अनेक तथ्यों की स्वीकृति उन्हें यापनीय परंपरा से ही सम्बद्ध करती है। श्रीमती कुसुम पटोरिया भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचती हैं। वे लिखती हैं कि महाकवि पुष्पदन्त के महापुराण के टीकाकार ने जिस परंपरा के आधार पर इन्हें आपलीसंघीय कहा है, वह परंपरा वास्तविक होनी चाहिए। साथ ही, अनेक अन्य तथ्यों से भी इनके यापनीय होने का समर्थन होता है।

इनके अतिरिक्त भी डॉ. कुसुम पटोरिया ने स्वयम्भू के ग्रंथों के अध्ययन के आधार पर अन्य कुछ ऐसे प्रमाण प्रस्तुत किये हैं, जिससे वे कुछ मान्यताओं के संदर्भ में दिगम्बर परंपरा से भिन्न एवं यापनीय प्रतीत होते हैं।

1. दिगम्बर परंपरा के तिलोयपण्णत्ती, त्रिलोकसार और उत्तरपुराण में राम (बलराम) को आठवाँ और पद्म (रामचन्द्र) को नौवाँ बलदेव बताया गया है, जबकि श्वेताम्बर ग्रंथों, यथा- समवायांग, पउमचरियं, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, अभिधानचिन्तामणि, विचारसारप्रकरण आदि में पद्म (राम) को आठवां और बलराम को नौवाँ बलदेव कहा गया है। राम का पद्म नाम दिगम्बर परम्परानुसारी नहीं है, राम का पद्म नाम मानने के कारण रविषेण और स्वयंभू- दोनों यापनीय प्रतीत होते हैं।

2. देवकी के तीन युगलों के रूप में छह पुत्र कृष्ण के जन्म के पूर्व हुए थे, जिन्हें हरिणेगमेसी देव ने सुलसा गाथापत्नी के पास स्थानांतरित कर दिया था। स्वयम्भू के रिट्ठनेमिचरिउ का यह कथानक श्वेताम्बर आगम अतंकृत्दशा में यथावत् उपलब्ध होता है। स्वयंभू द्वारा आगम का यह अनुसरण उन्हें यापनीय सिद्ध करता है।

3. स्वयम्भू ने पउमचरिउ में देवों की भोजनचर्या के संबंध में उल्लेख किया है कि गन्धर्व पूर्वाह्न में, देव मध्याह्न में, पिता-पितामह (पितृलोक के देव) अपराह्न में और राक्षस, भूत, पिशाच एवं ग्रह रात्रि में खाते हैं, जबकि दिगम्बर परंपरा के अनुसार देवता कवलाहारी नहीं हैं, उनके अनुसार देवताओं का मानसिक आहार होता है (देवेसु मणाहारी)।

4. इन्होंने कथास्त्रोत का उल्लेख करते हुए क्रम से महावीर, गौतम, सुधर्म, प्रभव, कीर्त्ति और रविषेण का उल्लेख किया है। प्रभव को स्थान देना उन्हें दिगम्बर परम्परा से पृथक् करता है, क्योंकि दिगम्बर परम्परा में इनके स्थान पर विष्णु का

उल्लेख मिलता है। यद्यपि इनके रिट्ठनेमिचरिउ के अंत में जम्बू के बाद विष्णु नाम आया है, किन्तु यह अंश जसकीर्त्ति द्वारा प्रक्षिप्त है।

5. स्वयम्भू ने सीता के जीव का रावण एवं लक्ष्मण को प्रतिबोध देने सोलहवें स्वर्ग से तीसरी पृथ्वी में जाना बताया है, जबकि धवला टीका के अनुसार 12वें से 16वें स्वर्ग तक के देवता प्रथम पृथ्वी के चित्रा भाग से आगे नहीं जाते हैं।

6. पउमचरिउ में अजितनाथ के वैराग्य का कारण म्लानकमल बताया गया है, जबकि त्रिलोकप्रज्ञप्ति में तारा टूटना बताया गया है।

7. रविषेण के समान इन्होंने भी महावीर के चरणांगुष्ठ से मेरु के कम्पन का उल्लेख किया है। यह श्वेताम्बर मान्यता है।

8. भगवान् के चलने पर देवनिर्मित कमलों का रखा जाना-भगवान् का एक अतिशय माना गया है। यह भी श्वेताम्बर मान्यता है।

9. तीर्थंकर का मागधी भाषा में उपेदश देना। ज्ञातव्य है कि श्वेताम्बर मान्य आगम समवायांग में यह मान्यता है। दिगम्बर परंपरा के अनुसार तो तीर्थंकर की दिव्यध्वनि खिरती है, जो सर्व भाषा रूप होती है।

10. दिगम्बर उत्तरपुराण में सगरपुत्रों का मोक्षगमन वर्णित है, जबकि विमलसूरि के पउमचरियं के आधार पर रविषेण और स्वयम्भू ने भीम एवं भागीरथ को छोड़कर शेष का नागकुमार देव के कोप से भस्म होना बताया।

सुश्री कुसुम पटोरिया के अनुसार इन वर्णनों के आधार पर स्वयम्भू यापनीय सिद्ध होते हैं।

इस प्रकार, इन सभी उल्लेखों में स्वयंभू की श्वेताम्बर मान्यता से निकटता और दिगम्बर मान्यताओं से भिन्नता यही सिद्ध करती है कि वे यापनीय परंपरा से सम्बद्ध रहे होंगे।

पुनः, स्वयंभू मुनि नहीं, अपितु गृहस्थ ही थे, उनकी कृति 'पउमचरिउ' से जो सूचनाएँ हमें उपलब्ध होती हैं, उनके आधार पर उन्हें यापनीय परंपरा से संबंधित माना जा सकता है।

स्वयंभू का निवास स्थल संभवतः पश्चिमोत्तर कर्नाटक रहा है।[4] अभिलेखीय साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि उस क्षेत्र पर यापनीयों का सर्वाधिक प्रभाव था, अतः स्वयंभू के यापनीय संघ से संबंधित होने की पुष्टि क्षेत्रीय दृष्टि से भी हो जाती है।

काल की दृष्टि से स्वयंभू 7वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और 8वीं शतीं के पूर्वार्द्ध के कवि है।[5] यह स्पष्ट है कि इस काल में यापनीय संघ दक्षिण में न केवल प्रवेश कर चुका था, अपितु वहाँ प्रभावशाली भी बन गया था। अतः काल की दृष्टि से भी स्वयंभू को यापनीय परंपरा से संबंधित मानने में कोई बाधा नहीं आती है।

साहित्यिक प्रमाण की दृष्टि से पुष्पदन्त के महापुराण की टीका में स्वयंभू को स्पष्ट रूप से यापनीय (आपुली) बताया गया है। उसमें लिखा है- 'स्वयंभू पत्यड़िबद्ध कर्ता आपली संघीयः' इस कथन से यह निष्कर्ष निकलता है कि वे यापनीय संघ से संबंधित थे।[6]

स्वयंभू के यापनीय संघ से संबंध होने के लिए प्रो. भयाणी ने एक और महत्वपूर्ण प्रमाण यह दिया है कि यापनीय संघ वैचारिक दृष्टि से उदार और समन्वयवादी था। यह धार्मिक उदारता और समन्वयशीलता स्वयंभू के ग्रंथों में विभिन्न स्थलों पर पाई जाती है। 'रिट्ठनेमिचरिउ' संधि 55/30 और 'पउमचरिउ' संधि 43/19 में उनकी यह उदारता स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। उनकी उदारता को सूचित करने के लिए हम यहाँ केवल एक ही गाथा दे रहे हैं-

अरहन्तु बुद्धु तुहुँ हरिहरन व, तुहुँ अण्णाण तमोहरिउ।
तुहुँ सुहुंमु णिरन्जणु परमपउ, तुहुँ रविदम्भु सयम्भु सिउ॥

दिगम्बर परंपरा धार्मिक दृष्टि से श्वेताम्बरों और यापनीयों की अपेक्षा अनुदार रही है, क्योंकि वह अन्यतैर्थिक मुक्ति को अस्वीकार करती है, जबकि श्वेताम्बर और यापनीय अन्यतैर्थिक की मुक्ति को स्वीकार करते हैं। स्वयंभू की इस धार्मिक उदारता की विस्तृत चर्चा प्रो. भयाणीजी ने पउमचरिउ की भूमिका में की है। पाठक उसे वहाँ देख सकते हैं।[7] डॉ. किरण सिपानी ने भी अपनी कृति में इस उदारता का उल्लेख किया है।

स्वयम्भू की रामकथा और उसका मूलस्त्रोत

महाकवि स्वयम्भू के पउमचरिउ का अपभ्रंश साहित्य में वही स्थान है, जो हिन्दी साहित्य में तुलसी की रामकथा का है। पउमचरिउ अपभ्रंश में रचित जैन रामकथा का महत्वपूर्ण ग्रंथ है। यह विमलसूरि के पउमचरियं और रविषेण के 'पद्मचरितं' पर आधारित है। यह 5 काण्डों और 90 संधियों में विभाजित है। इसके विद्याधरकाण्ड में 20 संधियाँ, अयोध्याकाण्ड में 22 संधियाँ, सुंदरकाण्ड में 14 संधियाँ, युद्धकाण्ड में 21 संधियाँ और उत्तरकाण्ड में 13 संधियाँ हैं। इसकी इन 90 संधियों में 82 संधियों की रचना स्वयं स्वयंभू ने की थी। अंतिम 7 संधियों की रचना

उनके पुत्र त्रिभुवन ने की थी। 83वीं संधि आंशिक रूप से दोनों की संयुक्त रचना प्रतीत होती है। ज्ञातव्य है कि स्वयंभू ने राम और कृष्ण- दोनों ही महापुरुषों के चरित्रों को लेकर अपभ्रंश भाषा में अपनी रचनाएँ कीं। उन्होंने जहाँ रिट्ठनेमिचरिउ अपरनाम हरिवंशपुराण में 22वें तीर्थंकर अरिष्ठनेमि के साथ-साथ कृष्ण तथा कौरव-पाण्डव की कथा का विवेचन किया है, वहीं पउमचरिउ में रामकथा का। उनकी रामकथा का आधार विमलसूरि का पउमचरियं रहा है। जैन रामकथा में पउमचरियं का वहीं स्थान है, जो हिन्दू रामकथा में वाल्मीकि रामायण का है। वस्तुतः, रामकथा साहित्य में वाल्मिकी की रामायण के पश्चात् यदि कोई ग्रंथ है, तो वह विमलसूरि का पउमचरियं (ईसा की दूसरी, तीसरी शती) है। जैनों ने राम (पद्म) को अपने 63 शलाका पुरुषों में महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है। जैनों में रामकथा की दो धाराएँ प्रचलित रही हैं, एक धारा गुणभद्र के उत्तरपुराण की है, जिसका मूलस्त्रोत संघदासगणि की वसुदेवहिण्डी में मिलता है, तो दूसरी धारा का आधार विमलसूरि का पउमचरियं है। जैन आचार्यों ने जिन-जिन भाषाओं को अपनी रचनाओं का आधार बनाया, प्रायः उन सभी में रामकथा पर ग्रंथ लिखे गये। प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, कन्नड़, मरुगुर्जर और हिन्दी- इन सभी भाषाओं में हमें जैन रामकथा से संबंधित ग्रंथ उपलब्ध होते हैं। रामकथा को लेकर सर्वप्रथम विमलसूरि ने प्राकृत में पउमचरियं की रचना की थी। उसी पउमचरियं को ही आधार बनाकर रविषेण ने संस्कृत भाषा में पद्मपुराण या पद्मचरित की रचना की। वस्तुतः, रविषेण का पद्मपुराण विमलसूरि के पउमचरियं का संस्कृत रूपान्तरण ही कहा जा सकता है। पुनः, स्वयंभू ने विमलसूरि के पउमचरियं और रविषेण के पद्मपुराण के आधार पर ही अपभ्रंश भाषा में अपने पउमचरिउ की रचना की।

डॉ. किरण सिपानी ने अपनी कृति 'पउमचरिउ का काव्यशास्त्रीय अध्ययन' में लिखा है कि जैनों के श्वेताम्बर सम्प्रदाय में केवल विमलसूरि की (रामकथा प्रचलित है), परन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय में विमलसूरि एवं गुणभद्र- दोनों की परंपराओं का अनुसरण किया गया है। मेरी दृष्टि में उनके इस कथन में संशोधन की अपेक्षा है। श्वेताम्बर परंपरा में भी हमें रामकथा की दोनों धाराओं के संकेत मिलते हैं। उसमें संघदासगणि की वसुदेवहिण्डी में रामकथा की उस धारा का मूलस्त्रोत निहित है, जिसे गुणभद्र ने अपने उत्तरपुराण में लिखा है। पुनः, डॉ. सिपानी का यह कथन तो ठीक है कि दिगम्बर परंपरा में विमलसूरि और गुणभद्र- दोनों ही कथाधाराएँ प्रचलित रही हैं, किन्तु इस संबंध में भी एक संशोधन अपेक्षित है। वस्तुतः, निर्ग्रन्थ संघ की अचेल

(दिगम्बर)परंपरा की दो धाराएँ रही हैं, एक उत्तरभारत की यापनीय धारा और दूसरी दक्षिण भारत की दिगम्बर धारा। वस्तुतः, विमलसूरि की रामकथा का अनुसरण इसी यापनीय परंपरा ने किया है और यही कारण है कि रविषेण के पद्मपुराण और स्वयंभू के पउमचरिउ में अनेक ऐसे संकेत उपलब्ध हैं, जो दिगम्बर परंपराओं की मूलभूत मान्यता के विपरीत हैं। रविषेण और स्वयंभू ने विमलसूरि की रामकथा का अनुसरण किया, उसका मुख्य कारण यह है कि ये दोनों ही यापनीय परंपरा से संबंधित हैं। स्वयंभू के सम्प्रदाय के संबंध में पुष्पदंत के महापुराण के टिप्पण में स्पष्ट निर्देश है कि वे यापनीय संघ के थे। इसकी विस्तृत चर्चा हम पूर्व में स्वयंभू के सम्प्रदाय के संबंध में कर चुके हैं।

स्वयंभू का व्यक्तित्व

पउमचरिउ के रचनाकार स्वयंभू के व्यक्तित्व के संबंध में पं. नाथूराम प्रेमी, डॉ. भयाणी, डॉ. कोछड़, डॉ. देवेन्द्र कुमार जैन, डॉ. नगेन्द्र एवं श्री सत्यदेव चौधरी आदि अनेक विद्वानों ने चर्चा की है। डॉ. किरण सिपानी ने भी उस पर विस्तार से प्रकाश डाला है, मात्र यही नहीं, उन्होंने कुछ स्थलों पर इन विद्वानों के विवेचन से अपना मतवैभिन्य भी प्रकट किया है। उदाहरण के रूप में, वे पविरलदन्ते का अर्थ विरल दांत वाले न करके सघन दांत वाले करती हैं। पविरल में उन्होंने 'प' के स्थान पर 'अ' की योजना की है, यद्यपि प्राचीन नागरी लिपि 'प' और 'अ' के लिखने में थोड़ा सा ही अंतर है यथा प-(प), अ-(अ)। यह संभव है कि किसी लेहिए की भूल के कारण आगे 'अ' के स्थान पर 'प' का प्रचलन हो गया हो, किन्तु जब तक अन्य कृतियों से इस पाठभेद की पुष्टि न हो जाती है, तब तक 'प' के स्थान पर 'अ' की कल्पना कर लेना उचित नहीं है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि स्वयंभू आजीवन गृहस्थ ही रहे, मुनि नहीं बने, फिर भी उनका ज्ञान गाम्भीर्य, विद्वत्ता, धार्मिक सहिष्णुता और उदारता आदि ऐसे गुण हैं, जो उन्हें एक विशिष्ट पुरुष की श्रेणी में लाकर खड़ा कर देते हैं।

जहाँ तक स्वयंभू के व्यक्तित्व का प्रश्न है, वे आत्मश्लाघा एवं चाटुकारिता से दूर रहने वाले कवि हैं। ये ही कारण हैं कि उन्होंने स्वतः अपनी विशेषताओं का कोई परिचय नहीं दिया, यहाँ तक की उन्होंने अपने आश्रयदाता राष्टकूट राजा ध्रुव और उनके सामन्त धनञ्जय की भी कोई स्तुति नहीं की। यद्यपि वे उनके प्रति कृतज्ञता का ज्ञापन अवश्य करते हैं और अपने को उनका आश्रित बताते हैं। मात्र यही नहीं, उन्होंने अपनी दोनों पत्नियों-अमृताम्बा और आदित्याम्बा के प्रति भी अपनी कृतज्ञता ज्ञापित की है। उनमें विनम्रता अपने चरम बिन्दु पर परिलक्षित होती है। वे अपने आप को अज्ञानी और कुकवि तक भी कह देते हैं। उन्होंने इस तथ्य को भी स्पष्ट किया है कि यह

साहित्य साधना वे पाण्डित्य प्रदर्शन के लिए न करके मात्र आत्म अभिव्यक्ति की भावना से कर रहे हैं। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में कृत्रिमता न होकर एक सहजता है।

यद्यपि उनमें पाण्डित्य प्रदर्शन की कोई एक भावना नहीं है, फिर भी उनके काव्य में सरसता और जीवन्तता है। यद्यपि वे आजीवन गृहस्थ ही रहे, फिर भी उनकी रचनाओं में जो आध्यात्मिक ललक है, वह उन्हें गृहस्थ होकर भी संत के रूप में प्रतिष्ठित करती है। वस्तुतः, उनके काव्य में जो सहज आत्माभिव्यक्ति है, उसी ने उन्हें एक महान् कवि बना दिया है। महापण्डित राहुल सांस्कृत्यायन ने उन्हें हिन्दी कविता के प्रथम युग का सबसे बड़ा कवि माना है। वे भारत के गिने-चुने कवियों में एक हैं।

स्वयंभू की रचनाएँ

स्वयंभू की ज्ञात रचनाएँ निम्न 6 हैं- (1) पउमचरिउ, (2) स्वयंभू छन्द, (3) रिट्ठनेमिचरिउ, (4) सुव्वचरिउ, (5) सिरिपञ्चमीचरिउ, (6) अपभ्रंश व्याकरण।

इनमें प्रथम दो प्रकाशित हो चुके हैं, तीसरा भी प्रकाशन की प्रक्रिया में है, किन्तु शेष तीन अभी तक अनुपलब्ध हैं। इनके संबंध में अभी कुछ कहना कठिन है, किन्तु आशा की जा सकती है कि भविष्य में किसी न किसी ग्रंथ भंडार में इनकी प्रतियाँ उपलब्ध हो सकेंगी। उनके व्यक्तित्व के वैशिष्ट्य के संबंध में डॉ. किरण सिपानी ने विस्तृत चर्चा और समीचीन समीक्षा भी प्रस्तुत की है।

संदर्भ :

1. एह रामकह-सरि सोहन्ती। गणहरदेवहिं दिट्ठ वदन्ती।
   पच्छह इन्दभूह आयरिएं। पुणु धम्मेण गुणालंकरिएं॥
   पुगु पहवें संसाराराएं। कित्तिहरेणं अणुत्तरवाएं।
   पुणुरविसेणायरिय - पसाएं। वुद्धिएं अवगाहिय कइराएं। - पउमचरिउं- 1/6-9.
2. स्वयंभू पदडीबद्धकर्त्ता आपलीसंघीय। - **महापुराण** (टिप्पणयुक्त), पृष्ठ 9.
3. **जैन साहित्य और इतिहास,** पृष्ठ 197.
4. **पउमचरिउं,** सं. डॉ. हरिवल्लभ भयाणी, सिंघी जैन ग्रंथमाला, ग्रन्थांक 34, भूमिका (अंग्रेजी), पृ. 13.
5. वही, पृ. 9.
6. स्वयंभू पावंडीबद्ध रामायण कर्ता आपीसंघीय। **-महापुराण,** 1/9/5 टिप्पण.
7. पउमचरिउं, सं. डॉ. हरिवल्लभ भयाणी, भूमिका (अंग्रेजी), पृ. 13-15.

11-यतिवृषभ और उनके कसायपाहुड के चूर्णिसूत्र और तिलोयपण्णति
(ईस्वी सन् की 9वीं शती)

यह हम सिद्ध कर चुके हैं कि कसायपाहुड मूलतः उत्तर भारत की अविभक्त निर्ग्रंथ परंपरा में निर्मित हुआ था, अतः उसके उत्तराधिकारी यापनीय और श्वेताम्बर दोनों ही रहे हैं। जहाँ तक कसायपाहुड के चूर्णिसूत्रों का प्रश्न है, वे यतिवृषभ के कहे जाते हैं। यतिवृषभ का एक अन्य ग्रंथ तिलोयपण्णत्ति भी उपलब्ध है, किन्तु जैसा कि प्रबुद्ध दिगम्बर विद्वान् पं. नाथूराम प्रेमी, पं. फूलचंदजी सिद्धांतशास्त्री आदि का कहना है कि इस ग्रंथ में पर्याप्त मिलावट हुई है, अतः उसके आधार पर यतिवृषभ की परंपरा का निश्चय नहीं किया जा सकता है, किन्तु यदि हम मात्र कसायपाहुड की चूर्णि पर विचार करें, तो उसमें ऐसा कोई भी संकेत उपलब्ध नहीं होता, जिनके आधार पर यतिवृषभ को यापनीय मानने में बाधा उत्पन्न हो। पं. हीरालालजी जैन[1] ने कसायपाहुड की प्रस्तावना में स्पष्टरूप से यह स्वीकार किया है कि यतिवृषभ के सम्मुख षट्खण्डागम, कम्मपयडी, सतक और सित्तरी- ये चार ग्रंथ अवश्य विद्यामान् थे। पुनः, उन्होंने विस्तारपूर्वक उन संदर्भों को भी प्रस्तुत किया है, जो कसायपाहुडचूर्णि और इन ग्रंथों में पाये जाते हैं। विस्तारभय से हम यहाँ केवल निर्देश मात्र कर रहे हैं। उन्होंने कसायपाहुडचूर्णि, कम्मपयडीचूर्णि, सतकचूर्णि और सितरीचूर्णि का तुलनात्मक विवरण भी प्रस्तुत किया है। तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन के इच्छुक विद्वान् उनकी कसायपाहुड की भूमिका देख सकते हैं। यद्यपि कसायपाहुड की चूर्णि की कम्मपयडी चूर्णि, सतकचूर्णि और सित्तरीचूर्णि से जो शैली और विचारगत समरूपता है, उसके आधार पर उन्होंने कम्मपयडीचूर्णि, सतकचूर्णि और सित्तरीचूर्णि के रचयिता भी यतिवृषभ ही हैं- ऐसा अनुमान किया है। वे लिखते हैं कि सतकचूर्णि, सित्तरीचूर्णि, कसायपाहुडचूर्णि और कम्मपयडीचूर्णि- इन चारों ही चूर्णियों के रचयिता एक ही आचार्य हैं। कसायपाहुडचूर्णि के रचयिता यतिवृषभ प्रसिद्ध ही हैं। शेष तीनों चूर्णियों के रचयिता, उपर्युक्त उल्लेखों से वे ही सिद्ध होते हैं। अतः, चारों चूर्णियों की रचनाएँ आचार्य यतिवृषभ की ही कृतियाँ हैं[2]।

किन्तु, यदि हम निष्पक्ष भाव से विचार करें, तो पं. हीरालालजी की यह

मान्यता उनके साम्प्रदायिक आग्रह का ही परिणाम है। यह सत्य है कि इन ग्रंथों में विषयवस्तुगत और शैलीगत समानताएँ हैं, किन्तु इस समानता के आधार पर यह निष्कर्ष निकाल लेना कि ये सभी यतिवृषभ की कृतियाँ हैं, उचित नहीं है।

यतिवृषभ से आर्य मंक्षु और नागहस्ति के शिष्य मानने का आधार यतिवृषभ द्वारा मंक्षु और नागहस्ति के मतों का क्रमशः अपव्वाइजंत और पव्वाइजंत के रूप में उल्लेख करना है। पं. हीरालालजी ने जयधवला के आधार पर इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है- ''जो उपदेश सर्व आचार्यों से सम्मत है, चिरकाल से अविच्छिन्न सम्प्रदाय द्वारा प्रवाहरूप से आ रहा है और गुरु-शिष्य परंपरा के द्वारा प्रतिरूप किया जाता है, वह प्रवाह्यमान (पव्वाइजंत) उपदेश कहलाता है। इससे भिन्न, जो सर्व आचार्य सम्मत न हो और अविछिन्न गुरु-शिष्य-परंपरा से नहीं आ रहा हो, ऐसे उपदेश को अप्रवाह्यमान (अपव्वाइजंत) उपदेश कहते हैं। आर्यमंक्षु आचार्य के उपदेश को अप्रवाह्यमान और नागहस्ति क्षमाश्रमण के उपदेश को प्रवाह्यमान उपदेश समझना चाहिए।[3] पं. हीरालालजी का कथन है कि वह (कम्मपयडी) आ. यतिवृषभ के सामने उपस्थित ही नहीं थी, बल्कि उन्होंने प्रस्तुत चूर्णि में उसका भरपूर उपयोग भी किया है।[2] कम्मपयडी को शिवशर्मसूरि की रचना माना जाता है- इनका काल 5वीं शती है, अतः संभव यही है कि यतिवृषभ का काल इनके पश्चात् अर्थात् ईसा की छठवीं-सातवीं शती हो। गुणस्थान सिद्धांत के विकास की दृष्टि से यह मानना होगा कि आर्य मंक्षु और नागहस्ति कर्मप्रकृतियों के विशिष्ट ज्ञाता थे, वे कसायपाहुड के वर्त्तमान स्वरूप के प्रस्तोता नहीं थे, मात्र यही माना जा सकता है कि कसायपाहुड की रचना का आधार उनकी कर्मसिद्धांत संबंधी अवधारणाएँ हैं, क्योंकि आर्य मंक्षु और नागहस्ति का काल ई. सन् की दूसरी शताब्दी का है। यदि हम कसायपाहुड में प्रस्तुत गुणस्थान की अवधारणा पर विचार करें, तो ऐसा लगता है कि कसायपाहुड की रचना गुणस्थान सिद्धांत की अवधारणा के निर्धारित होने के बाद हुई है। अर्द्धमागधी आगम साहित्य में, यहाँ तक कि प्रज्ञापना जैसे विकसित आगम और तत्त्वार्थसूत्र में भी गुणस्थान का सिद्धांत सुव्यवस्थित रूप नहीं ले पाया था, जबकि कसायपाहुड में गुणस्थान-सिद्धांत सुव्यवस्थित रूप लेने के बाद ही रचा गया है। अतः, यदि तत्त्वार्थ का रचनाकाल ईसा की दूसरी-तीसरी शती है, तो उसका काल ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दी मॉनना होगा, किन्तु यदि हम प्रज्ञापना के कर्त्ता आर्यश्याम के बाद नन्दीसूत्र स्थविरावली

में उल्लेखित स्वाति को तत्त्वार्थ, के कर्त्ता उमास्वाति माने, अथवा उमास्वाति का काल कम से कम ईसा की प्रथम शताब्दी माने, तब ही कसायपाहुड के कर्त्ता और प्रस्तोता के रूप में गुणधर, आर्यमंक्षु और आर्य नागहस्ति को स्वीकार किया जा सकता है, तथापि यतिवृषभ को आर्यमंक्षु और आर्य नागहस्ति का साक्षात् शिष्य और अन्तेवासी मानना संभव नहीं है । वे उनके परंपरा शिष्य ही हैं। वर्त्तमान में कसायपाहुडसुत्त मेंचूलिका और भाष्य भी उपलब्ध होते हैं। संक्षिप्त भाष्यों की रचनाएँ निर्युक्तियों के बाद और वृहद् कल्पभाष्य, व्यवहारभाष्य और विशेषावश्यकभाष्य जैसे विस्तृत भाष्य ग्रंथों की रचना के पहले होने लगी थीं। इनका काल लगभग ईसा की पाँचवीं शताब्दी मानना होगा। कसायपाहुड की भाष्य गाथाएँ भी इसी काल की होंगी और छठवीं-सातवीं शताब्दी में उस पर यह चूर्णि लिखी गई होगी।

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने अपने विशेषावश्यकभाष्य में आदेशकषाय के स्वरूप की चर्चा करते हुए 'केचित्' कहकर उसके यतिवृषभ के चूर्णिसूत्र में निर्दिष्ट स्वरूप का उल्लेख किया है और यह बताया है कि वह स्थापनाकषाय से भिन्न नहीं है, उसी में उसका अन्तर्भाव हो जाता है[5], इस आधार पर पं. नाथूराम प्रेमी के अनुसार यतिवृषभ वि.सं. 666 के पूर्व हुए, यह निश्चित होता है, यह उनकी उत्तम सीमा है। यतिवृषभ वि.सं. 515 के पूर्व भी नहीं हुए हैं, क्योंकि यतिवृषभ के द्वारा सर्वनन्दी का लोकविभाग का तिलोयपण्णत्ति में पाँच बार उल्लेख हुआ है और सर्वनन्दी का लोकविभाग वि.सं. 515 (ई. सं. 458) की रचना है। इसी प्रकार, यतिवृषभ की तिलोयपण्णति में वीरनिर्वाण के 1000 वर्ष बाद तक की राज्य परंपरा का उल्लेख है। तिलोयपण्णत्ति के अनुसार, वी.नि. के 1000 वर्ष बाद कल्की की मृत्यु हुई और उसके बाद उसके पुत्र ने दो वर्ष तक धर्मराज्य किया। अतः, तिलोयपण्णत्ति वी.नि.सं. 1002 तदनुसार वि.सं. 532 अर्थात् ई. सन् 475 के बाद ही कभी रची गई है। अतः, यह मानने में कोई बाधा नहीं आती है कि यतिवृषभ वि.सं. 535 से वि.सं. 666 के बीच हुए हैं[6] और इस आधार पर उनके चूर्णिसूत्रों का रचनाकाल ईसा की छठवीं-सातवीं शताब्दी ही सिद्ध होता है। पुनः, तिलोयपण्णत्ति के अंत में पाई जाने वाली 'चुण्णिसरुवट्ठ' इत्यादि गाथा के आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान आदि की शताधिक गाथाओं के समान होने के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना उचित होगा कि मूलाचार, आवश्यकनिर्युक्ति, आतुर-प्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान आदि के रचयिता

एक ही हैं ? वस्तुतः, ऐसा कहना दुस्साहसपूर्ण होगा। हम मात्र यही कह सकते हैं कि इन्होंने परस्पर एक दूसरे से अथवा अपनी ही पूर्व परंपरा से ये गाथाएँ ली हैं। दिगम्बर परंपरा में मान्य पंचसंग्रह (प्राकृत) में 'सतक' और 'सित्तरी' - दोनों ग्रंथ समाहित हैं। श्वेताम्बर परंपरा के सतक और सित्तरी से जब इनकी तुलना करते हैं, तो हम पाते हैं कि 2-3 गाथाओं को छोड़कर दोनों की संपूर्ण गाथाएँ एक समान हैं, अंतर मात्र महाराष्टी और शौरसेनी प्राकृत का है।

कसायपाहुडचूर्णि के अतिरिक्त कम्मपायडी, सतक और सित्तरीचूर्णि मूलतः श्वेताम्बर भण्डारों से ही उपलब्ध हुई हैं और श्वेताम्बर परंपरा में ही प्रचलित रही हैं। यदि हम उनकी भाषा का विचार करें, तो स्पष्ट रूप से यह निश्चित हो जाता है कि दोनों की परंपराएँ भिन्न हैं। जहाँ कषायपाहुडचूर्णि शौरसेनी प्राकृत में उपलब्ध होती है, वहाँ कम्मपयडी चूर्णि, सतकचूर्णि और सित्तरीचूर्णि महाराष्टी प्रभावित अर्द्धमागधी में उपलब्ध है। आज तक न तो श्वेताम्बर परंपरा का कोई ऐसा ग्रंथ उपलब्ध हुआ है, जो शौरसेनी प्राकृत में रचा गया है और न दिगम्बर तथा यापनीय परंपरा में ऐसा ग्रंथ पाया गया है, जो महाराष्टी प्राकृत में लिखा गया हो। यह निर्विवाद है कि न तो श्वेताम्बरों ने शौरसेनी प्राकृत को अपने लेखन का आधार बनाया और न ही यापनीय और दिगम्बर परंपरा ने अर्द्धमागधी तथा महाराष्टी प्राकृत को कभी अपनाया। हाँ, इतना अवश्य हुआ है कि जब किसी यापनीय या दिगम्बर आचार्य ने श्वेताम्बर परंपरा में मान्य अर्द्धमागधी अथवा महाराष्टी प्राकृत ग्रंथों के आधार पर कोई रचना की हो, तो अर्द्धमागधी और महाराष्टी प्राकृत का प्रभाव आ गया। इसी प्रकार, जब किसी श्वेताम्बर आचार्य ने किसी शौरसेनी प्राकृत के ग्रंथ को आधार बनाकर कोई रचना की, तो उस पर शौरसेनी प्राकृत का प्रभाव आ गया है। यद्यपि शौरसेनी प्रभावयुक्त महाराष्टी प्राकृत के ग्रंथों में तीर्थोद्गालिक प्रकीर्णक को छोड़कर अन्य कोई रचना उपलब्ध नहीं है, जो अनेक प्रश्नों पर श्वेताम्बर मान्यता से भिन्न है, जबकि अर्द्धमागधी और महाराष्टी प्राकृत के प्रभाव से युक्त शौरसेनी प्राकृत के अनेकों ग्रंथ हैं। प्रायः यापनीय और दिगम्बर परंपरा के सभी ग्रंथों पर अर्द्धमागधी या महाराष्टी का प्रभाव देखा जाता है, जो इस तथ्य का प्रमाण है कि इनकी गाथाएँ अर्द्धमागधी स्रोतों से आई हैं।

यह स्पष्ट है कि प्राचीन स्तर के जो ग्रंथ अपनी विषय-वस्तु एवं शैली की दृष्टि से अर्द्धगागधी आगमों और आगमिक व्याख्याओं के निकट हैं और जो शौरसेनी प्राकृत

में रूपांतरित या रचित हैं, वे निश्चित रूप से यापनीय हैं और इस दृष्टि से विचार करने पर हम स्पष्टतया इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कसायपाहुडचूर्णि यापनीय परंपरा का ही ग्रंथ है और इसके लेखक यतिवृषभ भी यापनीय हैं।

जहाँ तक यतिवृषभ और उनके कसायपाहुडचूर्णिसूत्रों के रचनाकाल का प्रश्न है, जयधवला के अनुसार यतिवृषभ आर्य मंक्षु के शिष्य और आर्य नागहस्ति के अन्तेवासी थे और उन्होंने उन्हीं से कसायपाहुड का अध्ययन कर चूर्णिसूत्रों की रचना की थी, किन्तु इस कथन की विश्वसनीयता संदेहास्पद है।

अभिलेखीय और अन्य साक्ष्यों के आधार पर आर्य मंक्षु और नागहस्ती का काल ईस्वी सन् की दूसरी शती सिद्ध है। प्रथम तो, चूर्णि लिखने की परंपरा जैनों के अतिरिक्त अन्यत्र प्राप्त नहीं होती है, पुनः, जैन परंपरा में भी चूर्णियाँ मात्र छठवीं-सातवीं शताब्दी से लिखी जाने लगी हैं और वह भी मात्र श्वेताम्बर और यापनीय परंपराओं में ही। दिगम्बर परंपरा में कोई चूर्णि नहीं लिखी गई है। पुनः, यापनीय परंपरा में भी कसायपाहुड के अतिरिक्त अन्य किसी ग्रंथ पर चूर्णि लिखी गई हो, इसके संकेत प्राप्त नहीं होते, जबकि श्वेताम्बर परंपरा में कर्म साहित्य और आगमिक साहित्य पर लगभग 20 से अधिक चूर्णियाँ लिखी गई हैं। कसायपाहुडचूर्णि की श्वेताम्बर परंपरा की कम्मपयडीचूर्णि, सतकचूर्णि और सित्तरीचूर्णि से शैलीगत निकटता भी यही सूचित करती है कि कसायपाहुडचूर्णि का रचनाकाल भी लगभग छठवीं-सातवीं शती होगा और इसी आधार पर यतिवृषभ का काल भी यही मानना होगा। अधिकांश दिगंबर और श्वेताम्बर विद्वानों ने उनका यही काल माना भी है। बाधा यही है कि इससे वे कल्पसूत्र एवं नन्दीसूत्र की स्थविरावलियों में उल्लिखित आर्य मंक्षु एवं नागहस्ति के शिष्य और अंतेवासी न होकर परंपरा - शिष्य ही सिद्ध होंगे। क्योंकि इन्होंने आर्य मंक्षु और नागहस्ति के मतों का उल्लेख किया है और आर्य मंक्षु का उपदेश विच्छिन्न और नागहस्ति के उपदेश को अविच्छिन्न माना है, इसी आधार पर धवलाकार ने इन्हें उनका शिष्य मान लिया है।

उल्लेख से सिद्ध है कि तिलोयपण्णत्ति की रचना के पूर्व कम्मपयडीचूर्णि की रचना हो चुकी थी। इससे यह सिद्ध होता है कि यतिवृषभ का काल संभवतः छठवीं शताब्दी है, क्योंकि अन्य प्राचीनचूर्णियों का रचनाकाल भी यही है। पं. हीरालालजी ने कम्मपयडी शतक और सित्तरी चूर्णियों के मंगल पद्यों की शब्दावली और शैलीगत

एकरूपता को स्पष्ट किया है।[7] यह सत्य है कि वे सभी मंगल पद्य नन्दीसूत्र की आदि मंगल गाथाओं से प्रभावित हैं और यही सिद्ध करते हैं कि ये चूर्णियाँ नन्दीसूत्र के बाद की हैं और उसी परंपरा की हैं।

भाष्य और चूर्णि लिखने की परंपरा श्वेताम्बरों में ही रही है, दिगम्बरों में न तो कोई भाष्य लिखा गया और न कोई चूर्णि ही, अतः संभावना यही है कि यतिवृषभ के चूर्णिसूत्र यापनीय परंपरा के ही होंगे, क्योंकि यापनियों और श्वेताम्बरों में आगमिक ज्ञान का पर्याप्त आदान-प्रदान हुआ है।

यदि यतिवृषभ आर्यमंक्षु और नागहस्ति के परंपरा शिष्य भी हों, तो संभावना यही है कि वे बोटिक/यापनीय होंगे, क्योंकि उत्तर भारतीय अबियल निर्ग्रंथ परंपरा के आर्य मंक्षु और नागहस्ति का संबंध बोटिक/यापनीयों से हो सकता है, मूलसंघीय दक्षिण भारतीय कुन्दकुन्द की दिगम्बर परंपरा से नहीं है।

प्राकृत लोक विभाग, जिसके कर्त्ता सर्वनन्दी हैं, का उल्लेख यतिवृषभ ने अपनी तिलोयपण्णत्ति में पाँच बार किया है। शिवार्य ने भगवती आराधना में जिननन्दी, सर्वगुप्तगणि और मित्रनन्दी का उल्लेख अपने गुरुओं के रूप में किया है। अतः पं. नाथूराम प्रेमीजी ने यह माना है कि ये सर्वगुप्तगणि ही सर्वनन्दी हों। साथ ही, उन्होंने इन्हें यापनीय होने की संभावना प्रकट की है।[8] अतः, संभव यही है कि यतिवृषभ ने तिलोयपण्णत्ति में अपनी ही परंपरा के आर्य सर्वनन्दी की कृति को उद्धृत किया हो।

यतिवृषभ के आगे विशेषण के रूप में जो यति विरुद है, वह भी श्वेताम्बरों एवं यापनीयों में प्रचलित रहा है। इन्द्रनन्दी के श्रुतावतार में उन्हें यतिपति कहा है।[9] यापनीय - शाकटायन को यतिग्राम-अग्रणी कहा गया है। इसके विपरीत, दक्षिण भारतीय दिगम्बर परंपरा में 'यति' विरुद प्रचलित रहा हो, ऐसी मुझे जानकारी नहीं है, किन्तु यापनीय परंपरा से निकले कष्ठासंघ के भट्टारक 'यति' कहे जाते रहे हैं, उदाहरणार्थ- सोनागिर के भट्टारकों की गद्दी आज भी यतिजी की गद्दी कही जाती है।

यतिवृषभ के चूर्णिसूत्रों में न तो स्त्रीमुक्ति का निषेष है और न केवलिमुक्ति का, अतः उन्हें यापनीय परंपरा से संबद्ध मानने में कोई बाधा नहीं आती।

यतिवृषभ को यापनीय मानने के लिए एक आधार यह भी है कि अपराजित ने

भगवती आराधना की गाथा 2069 (शोलापुर संस्करण) की टीका में यतिवृषभ द्वारा श्रावस्ती के शस्त्र ग्रहण करके देह त्याग करने का उल्लेख किया है। यह कथा हरिषेण के बृहद-कथाकोष में क्रमांक 156 पर और नेमिदत्त के आराधनाकोष में क्रम 81 पर विस्तार से वर्णित है। यद्यपि भगवती आराधना की मूल गाथा में मात्र 'गण' शब्द का उल्लेख है, किन्तु टीकाकार अपराजित तथा बृहद्कथाकोष के कर्त्ता हरिषेण ने उन्हें यतिवृषभ कहा है। संभवतः, टीकाकार और बृहद्कथाकोषकार के सम्मुख कोई अनुश्रुति रही होगी। यह स्पष्ट है कि भगवती आराधना के कर्त्ता शिवार्य, टीकाकार अपराजित यापनीय और बृहत्कथाकोषकार हरिषेण पुन्नाटसंघीय रहे हैं और इसलिए संभावना यही है कि उन्हें यह कथा अनुश्रुति से प्राप्त हुई हो और यतिवृषभ उन्हीं के परंपरा के प्राचीन आचार्य रहे हों।

पुनः, यतिवृषभ के देहत्याग की यह घटना उत्तर भारत के श्रावस्ती नगर में घटित हुई थी। उत्तर भारत ही बोटिक या यापनीयों का केन्द्र था, इससे भी यही निष्कर्ष निकलता है कि यतिवृषभ उत्तर भारतीय अचेल परंपरा के आचार्य हैं।

यतिवृषभ को यापनीय मानने में एकमात्र बाधा यह है कि उनकी तिलोयपण्णत्ति में आगमों के विच्छेद का जो क्रम दिया गया है, वह यापनीय परंपरा के अनुकूल नहीं है, क्योंकि अपराजित (9वीं शती) अपनी विजयोदया टीका में आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, बृहदकल्प, व्यवहार, निशीथ, जीतकल्प आदि आगमों का न केवल नामोल्लेख कर रहे हैं, अपितु उनके अनेकों वाक्यांश या गाथाएँ भी उद्धृत कर रहे हैं, किन्तु तिलोयपण्णत्ति को यापनीय कृति मानने में आगमों का विच्छेद बताने वाली गाथाएँ बहुत बाधक नहीं हैं। प्रथम तो तिलोयपण्णत्ति में पर्याप्त मिलावट हुई है, यह तथ्य दिगम्बर विद्वान् भी स्वीकृत करते हैं। पं. नाथूरामजी प्रेमी लिखते हैं कि "इस तरह पं. फूलचंदजी के लेख से और जयधवला की प्रस्तावना से मालूम होता है कि उपलब्ध तिलोयपण्णत्ति अपने असल रूप में नहीं है। धवला टीका के बाद (अर्थात् 10वीं शताब्दी के पश्चात्) उसमें संस्कार संशोधन, परिवर्तन, मिलावट की गई है।" इसी प्रकार, जयधवला की प्रस्तावना में पं. फूलचन्द्रजी लिखते हैं कि "वर्त्तमान तिलोयपण्णत्ति जिस रूप में पाई जाती है, उसी रूप में यतिवृषभ ने उसकी रचना की थी, इसमें संदेह है। हमें लगता है कि यतिवृषभ कृत तिलोयपण्णत्ति में कुछ अंश ऐसा भी है, जो बाद में सम्मिलित किया गया और कुछ अंश ऐसा भी है, जो किसी

कारण से उपलब्ध प्रतियों में लिखने से छूट गया है।" अतः, इस संभावना से इंकार नहीं किया जा सकता कि मूल तिलोयपण्णत्ति यापनीय कृत रही हो और यतिवृषभ भी यापनीय हों।

दूसरे, मुझे ऐसा लगता है कि जब यापनीय संघ में आगमों के अध्ययन-अध्यापन प्रवृत्ति शिथिल हो गई, अपनी परंपरा में निर्मित ग्रंथों से ही उनका काम चलने लगा, तभी आचार्यों द्वारा आगमों के क्रमिक उच्छेद की बात कही जाने लगी। सर्वप्रथम तिलोयपण्णत्ति, धवला और जयधवला में ही यह चर्चा आई। पुन्नाटसंघीय जिनसेन के हरिवंश के अंत में तो नाम भी नहीं दिये हैं, मात्र विच्छेद काल का उल्लेख किया है।

सभी ग्रंथों में उपलब्ध सूचियों में सामान्यतया नाम और कालक्रम की एकरूपता भी यही बताती है कि इन सभी का मूल स्त्रोत एक ही रहा होगा। वैसे आगमिक ज्ञान के विच्छेद का अर्थ यह भी नहीं है कि आगमग्रंथ सर्वथा विच्छेद हो गये। आगमों के एक देश ज्ञान की उपस्थिति तो सभी ने मानी ही है। मेरी दृष्टि में तो अब आगमों की विषयवस्तु एवं पद संख्या को लेकर हमारे आचार्य उस समय के उपलब्ध ग्रंथों की उपेक्षा करके उनकी महत्ता दिखाने के लिए कल्पनालोक में उड़ाने भरने लगे और आगमों की पद संख्या लाख और करोड़ की संख्या को भी पार करके आगे बढ़ने लगी और जब यह कहा जाने लगा कि विपाकसूत्र में एक करोड़ चौरासी लाख बत्तीस हजार पद थे अथवा 14वाँ पूर्व इतना बड़ा था कि उसे लिखने के लिए 14 हाथी डूब जाये इतनी स्याही लगती थी और उसमें साढ़े बारह करोड़ पद थे,[10] किन्तु वास्तविकता तो इससे भिन्न थी, उन नामों से उपलब्ध ग्रंथों का आकार उस कल्पित पद संख्या से बहुत छोटा था, अतः बचाव के लिए यह कहा जाने लगा कि आगम विच्छिन्न हो गये। जब वह श्वेताम्बर परंपरा भी, जो आगमों का संरक्षण कर रही थी, कहने लगी कि आगम-विच्छिन्न हो रहे हैं, तो दिगम्बर और यापनीय परंपराओं द्वारा उनके विच्छेद की बात करना स्वाभाविक ही था। श्वेताम्बर परंपरा के आगमिक प्रकीर्णक 'तीर्थोद्गालिक' में भी आगमों के उच्छेद क्रम का उल्लेख है।[11] जब आगमों के होते हुए भी श्वेताम्बर परंपरा उनके विच्छेद की बात कर सकती है, तो यापनीय आचार्यों द्वारा उनके विच्छेद की बात करना आश्चर्यजनक भी नहीं है। अतः आगमों के उच्छेद की बात करने मात्र से किसी ग्रंथ के यापनीय होने को नकारा नहीं जा सकता है।

तिलोयपण्णति में आगमों के विच्छेद की बात आ जाने से उसका यापनीय होना नकारा नहीं जा सकता है।

क्योंकि आगम विच्छेद की यह चर्चा केवल दिगम्बर में उठी हो, ऐसी बात नहीं है, वह यापनीयों और श्वेताम्बरों में भी हुई है। इस संबंध में वास्तविकता क्या है, इस प्रश्न पर पं. दलसुखभाई मालवणिया ने जैन साहित्य के बृहद् इतिहास की भाग 1 की प्रस्तावना में गंभीरता से विचार किया है। हम यहाँ उन्हीं के विचारों को शब्दशः उद्धृत कर रहे हैं, ताकि पाठक यथार्थता को समझ सकें। वे लिखते हैं कि "अब आगमविच्छेद के प्रश्न पर विचार किया जाय। आगमविच्छेद के विषय में भी दो मत हैं। एक के अनुसार 'सुत्त' विनष्ट हुआ है, तब दूसरे के अनुसार 'सुत्त' नहीं, किन्तु सुत्तधर - प्रधान अनुयोगधर विनष्ट हुए हैं।[12] इन दोनों मान्यताओं का निर्देश नन्दी-चूर्णि जितना तो पुराना है ही। आश्चर्य तो इस बात का है कि दिगम्बर परंपरा के धवला (पृ. 65) में तथा जयधवला (पृ. 83) में दूसरे पक्ष को माना गया है, अर्थात् श्रुतधरों के विच्छेद की चर्चा प्रधान रूप से की गई है और श्रुतधरों के विच्छेद से श्रुत का विच्छेद फलित माना गया है, किन्तु आज का

दिगम्बर समाज श्रुत का ही विच्छेद मानता है। इससे भी सिद्ध है कि पुस्तक के लिखित आगमों का उतना ही महत्व नहीं है, जितना श्रुतधरों की स्मृति में रहे हुए आगमों का।

जिस प्रकार धवला में श्रुतधरों में विच्छेद की बात कही है, उसी प्रकार तित्थोगाली प्रकीर्णक में श्रुत के विच्छेद की चर्चा की गई है। वह इस प्रकार है-

प्रथम भगवान् महावीर से भद्रबाहु तक की परंपरा दी गई है और स्थूलभद्र भद्रबाहु के पास चौदहपूर्व की वाचना लेने गये- इस बात का निदेश है। यह निर्दिष्ट है कि दसपूर्वधरों में अंतिम सर्वमित्र थे। उसके बाद निर्दिष्ट है कि वीरनिर्वाण के 1000 वर्ष बाद पूर्वों का विच्छेद हुआ। यहाँ पर यह ध्यान देना जरूरी है कि यही उल्लेख भगवतीसूत्र (2.8) में भी है। तित्थोगाली में उसके बाद निम्न प्रकार से क्रमशः श्रुतविच्छेद की चर्चा की गई है-

ई. 723 = वीर-निर्वाण 1250 में विवाह प्रज्ञप्ति और छः अंगों का विच्छेद
ई. 773 = वीर-निर्वाण 1300 में समवायांग का विच्छेद
ई. 823 = वीर-निर्वाण 1350 में ठाणांग का विच्छेद
ई. 873 = वीर-निर्वाण 1400 में कल्प-व्यवहार का विच्छेद

ई. 973 = वीर-निर्वाण 1500 में दशाश्रुत का विच्छेद
ई. 1373 = वीर-निर्वाण 1900 में सूत्रकृतांग का विच्छेद
ई. 1473 = वीर-निर्वाण 2000 में विशाख मुनि के समय में निशीथ का विच्छेद
ई. 1773 = वीर-निर्वाण 2300 में आचारांग का विच्छेद

दुसमा के श्रुत में दुप्पसह मुनि के होने के बाद यह कहा गया है कि वे ही अंतिम आचारधर होंगे। उसके बाद अनाचार का साम्राज्य होगा। इसके बाद निर्दिष्ट है कि-

ई. 19973 = वीर-निर्वाण 20500 में उत्तराध्ययन का विच्छेद
ई. 20373 = वीर-निर्वाण 20900 में दशवैकालिकसूत्र का विच्छेद
ई. 20473 = वीर-निर्वाण 21000 में दशवैकालिक के अर्थ का विच्छेद, दुप्पसह मुनि की मृत्यु के बाद
ई. 20473 = वीर-निर्वाण 21000 पर्यंत आवश्यक, अनुयोगद्वार और नन्दीसूत्र अव्यवच्छिन्न रहेंगे।
-तित्थोगाली, गाथा 697-866

तित्थोगालीय प्रकरण श्वेताम्बरों के अनुकूल ग्रंथ है, ऐसा उसके अध्ययन से प्रतीत होता है। उसमें तीर्थंकरों की माताओं के 14 स्वप्नों का उल्लेख है- गाथा 100, 1024, स्त्री-मुक्ति का समर्थन भी इसमें किया गया है- गाथा 556, आवश्यक निर्युक्ति की कई गाथाएँ इसमें आती हैं, गाथा 70 से, 383 से इत्यादि, अनुयोगद्वार और नंदी का उल्लेख और उनके तीर्थपर्यंत टिके रहने की बात, दश (अच्छेरे) आश्चर्य की चर्चा- गाथा 887 से, नन्दीसूत्रगत संघस्तुति का अवतरण गाथा 848 से है।

आगमों के क्रमिक विच्छेद की चर्चा जिस प्रकार जैनों में है, उसी प्रकार बौद्धों के अनागतवंश में भी त्रिपिटक के विच्छेद की चर्चा की गई है। इससे प्रतीत होता है कि श्रमणों की यह एक सामान्य धारणा है कि श्रुत का विच्छेद क्रमशः होता है। तित्थोगाली में अंगविच्छेद की चर्चा है। इस बात को व्यवहारभाष्य के कर्त्ता ने भी माना है-

"तित्थोगाली एवं वत्तव्या होइ आणुपुव्वीए।
जे तस्स उ अंगस्स वुच्छेदो जहिं विणिद्दिट्ठो॥"

- व्यवहार भाष्य 10/704

इससे जाना जा सकता है कि अंगविच्छेद की चर्चा प्राचीन है और यह दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों में चली है। ऐसा होते हुए भी यदि श्वेताम्बरों ने

अंगों के अंश को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया और वह अंश आज हमें उपलब्ध हैं- यह माना जाय तो इसमें क्या अनुचित है ?

एक बात का और भी स्पष्टीकरण जरूरी है कि दिगम्बरों में भी धवला के अनुसार सर्व अंगों का संपूर्ण रूप से विच्छेद माना नहीं गया है, किन्तु यह माना गया है कि पूर्व और अंग के एकदेशधर हुए हैं और उनकी परंपरा चली है। उस परंपरा के विच्छेद का भय तो प्रदर्शित किया है, किन्तु वह परंपरा विच्छिन्न हो गई, ऐसा स्पष्ट उल्लेख धवला या जयधवला में भी नहीं है। वहाँ स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि वीर निर्वाण के 683 वर्ष बाद भारतवर्ष में जितने भी आचार्य हुए हैं, वे सभी **"सव्वेसिमंगपुव्वाणमेकदेसधारया जादा"** अर्थात् सर्व अंग-पूर्व के एकदेशधर हुए हैं। - जयधवला, भा. 1, पृ.86, धवला, पृ. 67।

तिलोयपण्णत्ति में भी श्रुतविच्छेद की चर्चा है और वहाँ भी आचारांगधारी तक का समय वीर नि. 683 बताया गया है। तिलोयपण्णत्ति के अनुसार भी अंग श्रुत का सर्वथा विच्छेद मान्य नहीं है। उसे भी अंग-पूर्व के एकदेशधर के अस्तित्व में संदेह नहीं है।

सन्दर्भ-

1. देखें - कसायपाहुडसुत्त, प्रस्तावना, पृ. 28
2. वहीं, प्रस्तावना, पृ. 52
3. देखें - कसायपाहुडसुत्त, पृ. टिप्पणी सहित
4. कसायपाहुडसुत्त की प्रस्तावना, पृ. 38
5. जैन साहित्य और इतिहास, पं. नाथूरामजी प्रेमी, पृ. 10.
6. वही, पृ. 10.
7. कसायपाहुडसुत्त, प्रस्तावना पृ. 52-53.
8. जैन साहित्य और इतिहास, पं. नाथूराम प्रेमी, पृ. 1-3.
9. यतिवृषभनामधेयो.... ततो यतिपतिना।-श्रुतावतार - 155-56.
10. जैन साहित्य का बृहद इतिहास, भाग 1, पृ. 47, 48 एवं 50. (आधारभूत ग्रंथ नन्दीवृत्ति, समवायाग वृत्ति और धवला आदि).
11. पइण्णयसुत्ताइं - तिथ्योगाली, महावीर विद्यालय, बम्बई, गाथा 807-836, पृ. 482-484.
12. नन्दी-चूर्णि, पृ. 8.

12 - पाल्यकीर्त्ति शाकटायन और उनका व्याकरण
(ईस्वी सनन्की 10वीं शती)

जैन परंपरा में ईसा की 9वीं शताब्दी में रचित शाकटायन का व्याकरण अति प्रसद्धि है। स्वयं ग्रंथकर्त्ता और टीकाकारों ने इसे 'शब्दानुशासन' नाम दिया है। इस शब्दानुशासन पर शाकटायन ने स्वयं ही अमोघवृत्ति नामक टीका लिखी है। शाकटायन का मूल नाम पाल्यकीर्त्ति है। शाकटायन पाल्यकीर्त्ति के सम्प्रदाय के संबंध में विद्वानों में पूर्व में काफी मतभेद रहा।[1] चूँकि शाकटायन के शब्दानुशासन के अध्ययन अध्यापन की प्रवृत्ति दक्षिण में दिगम्बर परंपरा में काफी प्रचलित थी और उस पर मुनि दयापाल आदि दिगम्बर विद्वानों ने टीका ग्रंथ भी लिखे थे, अतः दिगम्बर विद्वान् उन्हें अपने सम्प्रदाय का मानते थे।[2] इसके विपरीत, डॉ. के.पी. पाठक आदि ने शाकआयन की अमोघवृत्ति में आवश्यकनिर्युक्ति, छेदसूत्र और श्वेताम्बर परंपरा में मान्य कालिक ग्रंथों का आदरपूर्वक उल्लेख देखकर उन्हें श्वेताम्बर मान लिया था।[3] किन्तु ये दोनों धारणाएँ बाद में गलत सिद्ध हुईं। अब शाकटायन पाल्यकीर्त्ति के द्वारा रचित स्त्रीमुक्ति प्रकरण तथा केवलिभुक्ति प्रकरण के उपलब्ध हो जाने से इतना तो सुनिश्चित हो गया कि वे दिगम्बर परंपरा के नहीं हैं, क्योंकि स्त्री की तद्भवभुक्ति और केवलिभुक्ति की मान्यताओं का दिगम्बर परंपरा स्पष्ट रूप से विरोध करती है। यहाँ यह कहना भी अप्रासंगिक नहीं होगा कि श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परंपरा की विभाजक रेखा के रूप में यही दो सिद्धांत प्रमुख रहे हैं। प्रसिद्ध तार्किक आचार्य प्रभाचंद्र ने 'प्रमेय कमलमार्त्तण्ड' और 'न्याय कुमुदचन्द्र'में स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति का खण्डन शाकटायन के इन्हीं दो प्रकरणों को पूर्व पक्ष के रूप में रखकर किया है।[4] अतः, वे दिगम्बर परंपरा के नहीं हो सकते। यद्यपि श्वेताम्बर परंपरा के वादि वेताल शांतिसूरि ने अपनी उत्तराध्ययन की टीका[5] में, रत्नप्रभ ने 'रत्नाकरावतारिका'[6] में और यशोविजय के 'अध्यात्ममत परीक्षा'[7] तथा 'शास्त्रवार्त्तासमुच्चय'[8] की टीका में स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति के समर्थन में इन्हीं प्रकरणों की कारिकाएं उद्धृत की हैं, किन्तु इससे यह तो सिद्ध नहीं होता है कि वे श्वेताम्बर थे, हाँ, हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि श्वेताम्बर आचार्यों ने भी स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति के अपने पक्ष में समर्थन के लिए उनकी कारिकाएँ उद्धृत करके उन्हें अपने पक्ष का समर्थक बताते हुए उनके प्रति

सम्मान व्यक्त किया है। शाकटायन द्वारा स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति का समर्थन उनके यापनीय होने का सबसे बड़ा प्रमाण है।

शाकटायन पाल्यकीर्त्ति यापनीय थे। इस संबंध में पंडित नाथूरामजी प्रेमी ने अपने ग्रंथ जैन साहित्य और इतिहास (पृ. 157-59) में निम्न तर्क प्रस्तुत किये हैं -

(1) श्वेताम्बर आचार्य मलयगिरि (लगभग ईसा की 12वीं शती) ने अपनी नन्दीसूत्र की टीका में उन्हें 'यापनीय यतिग्रामाग्रणी' बताया है।' मलयगिरि के इस उल्लेख से उनका यापनीय होना सिद्ध हो जाता है। पुनः, उनकी कृति शाकटायन-व्याकरण से भी इसकी पुष्टि होती है, क्योंकि उसमें भी उन्हें 'यतिग्राम अग्रणी' - यह विरुद (विशेषण) दिया गया है।

(2) शाकटायन पाल्यकीर्त्ति द्वारा रचित स्त्री-मुक्ति और केवलिभुक्ति- ये दोनों प्रकरण शाकटायन व्याकरण के साथ भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित भी हो चुके हैं। प्रथम प्रकरण में 45 श्लोकों में स्त्री मुक्ति का समर्थन है और दूसरे प्रकरण में 34 श्लोकों में केवली के द्वारा भोजन करने (कवलाहार) का समर्थन है। ज्ञातव्य है कि यापनीय सम्प्रदाय श्वेताम्बरों के समान ही स्त्री मुक्ति और केवलिभुक्ति को स्वीकार करता था। स्वयं हरिभद्र ने ललितविस्तरा में इन दोनों बातों के समर्थन में 'यापनीयतंत्र' को उद्धृत किया है।[10] अब यापनीय तंत्र अनुपलब्ध है। इन दोनों प्रकरणों में स्त्रीमुक्ति और केविलभुक्ति के समर्थन के साथ-साथ अचेलकत्व का भी समर्थन पाया जाता है। अतः, यह स्वतः सिद्ध है कि पाल्यकीर्त्ति शाकटायन यापनीय थे, क्योंकि यापनीय ही एकमात्र ऐसा सम्प्रदाय था, जो एक ओर अचेलकत्व का समर्थन करता है, तो दूसरी ओर स्त्रीमुक्ति और केविलभुक्ति का।

(3) शाकटायन ने अपने शब्दानुशासन की स्वोपज्ञ अमोघवृत्ति में कालिकसूत्रों के साथ आवश्यक, छेदसूत्र, निर्युक्ति आदि के अध्ययन का भी उल्लेख किया है।[11] पंडित नाथूरामजी प्रेमी[12] के अनुसार "इन ग्रंथों का जिस प्रकार से उल्लेख किया गया है, उससे ऐसा प्रतीत होता है कि उनके सम्प्रदाय में इन ग्रंथों के पठन-पाठन का प्रचार था। ये ग्रंथ दिगम्बर सम्प्रदाय को मान्य नहीं थे, जबकि यापनीय संघ इन ग्रंथों को मान्य करता था। हम पूर्व में भी इस तथ्य को स्पष्ट कर चुके हैं कि इन नामों से प्रचलित वर्त्तमान में श्वेताम्बर परंपरा में मान्य आगम ग्रंथ यापनीय संघ में मान्य रहे हैं। वट्टकेर, इंद्रनन्दी, अपराजितसूरि आदि अनेक यापनीय आचार्यों ने इनको

उद्धृत भी किया है।

शाकटायन के द्वारा इन ग्रंथों का अपनी परंपरा के ग्रंथों के रूप में उल्लेख यही सूचित करता है कि वे दिगम्बर न होकर यापनीय परम्परा के थे।

(4) अमोघवृत्ति में शाकटायन ने सर्वगुप्त को सबसे बड़ा व्याख्याता बतलाया है,[13] ये सर्वगुप्त वही जान पड़ते हैं, जिनके चरणों में बैठकर आराधना के कर्त्ता शिवार्य ने सूत्र और अर्थ को अच्छी तरह से समझा था। यह हम पूर्व में ही सिद्ध कर चुके हैं कि शिवार्य और उनकी भगवती आराधना यापनीय परंपरा से संबद्ध है। शाकटायन द्वारा शिवार्य के गुरु का श्रेष्ठ व्याख्याता के रूप में उल्लेख भी यही सूचित करता है कि वे भी यापनीय थे।

(5) शाकटायन को 'श्रुतकेवलिदेशीयाचार्य' कहा गया है।[14] इस संपूर्ण पद का अर्थ है श्रुतकेवली तुल्य आचार्य। पाणिनी (5/3/67) के अनुसार देशीय शब्द तुल्यता का बोधक है। श्रुतकेवली का विरुद दिगम्बर परंपरा के अनुसार उन्हें प्रदान नहीं किया जा सकता, क्योंकि जब श्रुत ही समाप्त हो गया, तो कोई श्रुतकेवली कैसे हो सकता है ? श्वेताम्बर और यापनीयों में ऐसी पदवियाँ दी जाती थीं, जैसे हेमचन्द्र को कलिकालसर्वज्ञ कहा जाता था। इसी प्रकार, उन्हें यतिग्रामअग्रणी भी कहा गया है। यह विरुद भी सामान्यतया श्वेताम्बर और यापनीयों में ही प्रचलित था। दिगम्बर परंपरा में यापनीयों के प्रभाव के कारण ही मुनि के लिए यति (प्राकृत-जदि) विरुद प्रचलित हुआ है। हम यह पूर्व में ही स्पष्ट कर चुके हैं कि 'यति' विरुद भी उनके यापनीय होने का प्रमाण है। मलयगिरि द्वारा नन्दीसूत्र टीका में उन्हें यापनीय यतिग्राम अग्रणी कहना इसकी पुष्टि करता है।[15]

शाकटायन के शब्दानुशासन की यापनीय टीकाएँ :

शाकटायन के शब्दानुशासन पर सात टीकाएँ उपलब्ध होती हैं, उनमें अमोघवृत्ति और शाकटायन-न्यास महत्वपूर्ण है। अमोघवृत्ति के लेखक स्वयं शकटायन ही है, अतः यह शब्दानुशासन की स्वोपज्ञ टीका कही जा सकती है। यह ई. सन् 814 ई. से सन् 867 के बीच कभी लिखी गई थी।

पंडित नाथूरामजी प्रेमी ने इस संबंध में विस्तार से चर्चा की है।[16] यह अमोघवृत्ति अमोघवर्ष नामक शासक के सम्मान में लिखी गई है। कडब के दानपात्र

शक सं. 735 अर्थात् ई. सन् 813 में यापनीय नन्दिसंघपुण्णागवृक्षमूलगुण के अर्ककीर्त्ति नामक आचार्य का उल्लेख है।[17] अर्ककीर्त्ति के गुरु का नाम विजयकीर्त्ति और प्रगुरु का नाम श्री कीर्त्ति बताया गया है। पं. नाथूरामजी प्रेमी ने यह संभावना प्रकट की है कि शाकटायन पाल्यकीर्त्ति इसी परंपरा के थे और आश्चर्य नहीं कि वे अर्ककीर्त्ति के शिष्य या उनके सधर्मा हों।[18]

आंतरिक साक्ष्यों के आधार पर अमोघवृत्ति के यापनीय होने के संदर्भ में हम पूर्व में ही सूचित कर चुके हैं ।[19] अमोघवृत्ति के यापनीय होने के संदर्भ में हम पूर्व में ही सूचित कर चुके हैं।[4] अमोघवृत्ति पर प्रभचन्द्र का न्यास है। यद्यपि यह ग्रंथ आज पूर्ण रूप से उपलब्ध नहीं है, फिर भी इतना सुस्पष्ट है कि इसके कर्त्ता प्रभाचन्द्र हैं और वे प्रभाचन्द्र न्यायकुमुदचन्द्र के कर्त्ता प्रभाचन्द्र से भिन्न हैं। हमने आगे यह बताने का प्रयास किया है कि ये प्रभाचन्द्र सोदत्ति के लगभग ई. सन् 980 के अभिलेख में उल्लेखित यापनीय संघ और कण्डूरगण के प्रभाचन्द्र ही हैं। न्यायकुमुदचन्द्र के कर्त्ता प्रभाचंद्र को न्यास का कर्त्ता मानना भ्रांतिपूर्ण है। इस अभिलेख में यापनीय कण्डूरगण का स्पष्ट उल्लेख है।[20] अतः, इनका यापनीय होना निर्विवाद है। इस प्रकार, शाकटायन के शब्दानुशासन पर लिखी गई स्वोपज्ञ अमोघवृत्ति और न्यास- दोनों ही यापनीय परंपरा के ग्रंथ सिद्ध होते हैं। यह स्वाभाविक भी है कि यापनीय प्रभाचन्द्र अपनी ही परंपरा के शाकटायन की कृति पर टीका लिखें। इन्हीं यापनीय प्रभाचन्द्र का एक ग्रंथ तत्त्वार्थसूत्र भी है, उसमें इन्हें बृहत्प्रभाचन्द्र (लगभग ई. सन् 980) कहा गया है, क्योंकि ये न्यायकुमुदचंद्र के कर्त्ता प्रभाचंद्र (ई. सन् 1020) से पूर्ववर्ती एवं ज्येष्ठ थे।

शाकटायन के स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति प्रकरण[21]

शाकटायन के इन दोनों ग्रंथों के संदर्भ में हम पूर्व में उल्लेख कर चुके हैं। स्त्रीमुक्ति प्रकरण में स्त्रीमुक्ति का समर्थन 46 श्लोकों में और केवलिभुक्ति प्रकरण में केवलिभुक्ति का समर्थन 37 श्लोकों में किया गया है। यह स्पष्ट है कि ये दोनों मान्यताएँ दिगम्बर परंपरा से भिन्न हैं तथा श्वेताम्बर और यापनीय परंपरा की हैं। यापनीय अचेलता के साथ-साथ स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति को भी स्वीकार करते थे। इन ग्रंथों में एक ओर अचेलता का समर्थन किया गया है, तो दूसरी ओर स्त्री -मुक्ति और केवलिभुक्ति का भी समर्थन किया है। अतः इनको यापनीय मानने से कोई आपत्ति नहीं आती है।

शाकटायन स्त्रीमुक्ति प्रकरण में मुनि के लिये अपवाद मार्ग में और स्त्री के लिये उत्सर्ग मार्ग में वस्त्र ग्रहण को स्वीकार करते हैं और यह बताते हैं कि ऐसी स्थिति में सवस्त्र स्त्री को स्थविर आदि के समान मुक्ति संभव है। वे लिखते हैं कि जिनशासन में स्त्रियों की चर्या वस्त्र के बिना नहीं कही गई है और पुरुष की चर्या बिना वस्त्र के कही गई है। वे आगे कहते हैं कि स्थविर (सवस्त्र मुनि) के समान सवस्त्र स्त्री की भी मुक्ति संभव है। यदि सवस्त्र होने के कारण स्त्री की मुक्ति स्वीकार नहीं करेंगे, तो फिर अर्श, भगन्दर आदि रोगों में और उपसर्ग की अवस्था में सर्वत्र मुनि की भी मुक्ति संभव नहीं होगी।[22]

इस चर्चा से स्पष्ट रूप से दो मुख्य बातें सिद्ध होती हैं। प्रथम तो यह कि मुनि के लिये उत्सर्ग में अचेलता और अपवाद मार्ग में सचेलता तथा स्त्री के लिये उत्सर्ग मार्ग में भी सचेलता उन्हें मान्य है। इससे ही वे सवस्त्र की मुक्ति भी स्वीकार करते हैं। अतः, शाकटायन का यापनीय होना निर्विवाद है, क्योंकि यह मान्यता मात्र यापनीयों की है।

संदर्भ :

1. ज्ञानं च न ब्रह्म यतो निकृष्टः शूद्रोऽपि वेदाध्ययनं करोति॥42॥
   विद्याक्रियाचारुगुणैः प्रहीणो न जातिमात्रेण भवेत्स विप्रः।
   ज्ञानेन शीलेन गुणेन युक्तं तं ब्राह्मणं ब्रह्मविदो वदन्ति॥43॥
   व्यासो वसिष्ठः कमठश्च कण्ठः शक्त्युग्दमौ द्रोणपराशरौ च।
   आचारवन्त स्तपसाभियुक्ता ब्रह्मत्वमायुः प्रतिसंपदाभिः॥44॥
   - वरांगचरित सर्ग, 2
2. जैनसाहित्य और इतिहास, पं. नाथुराम प्रेमी पृ. 157.
3. शाकटायन व्याकरणम्, सं. - पं शम्भूनाथ त्रिपाठी-
   Indroduction, Page 14-15
4. (अ) प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, अनु.- जिनमति, (ब) न्यायकुमुदचन्द्र, द्वितीय भाग, पृ. 177-199 एवं 257-272, सं.- महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, पृ. 751-787
5. श्रीमन्त्युत्तराध्ययनानि, देवचन्द लालभाई, टीका शांतिसूरी, अध्याय 26
6. रत्नाकरावतारिका- 7/57, भाग 3, पृ. 93-101.
7. अध्यात्ममतपरीक्षा, यशोविजय.
8. शास्त्रवार्त्ता समुच्चय, टीका यशोविजय.
9. शाकटायनोऽपि यापनीय यतिग्रामाग्रणी स्वोपज्ञशब्दानुशासनवृत्तावादौ

भगवतः स्तुतिमेवमाह श्री वीरमृतं ज्योतिनंत्वाऽऽदिं सर्ववेदसाम्।

-नंदीसूत्र, मलयगिरि टीका, पृ.23

10. देखें-ललितविस्तरा (हरिभद्र), प्रकाशक ऋषभदेव केशरीमल श्वेताम्बर संस्था, रतलाम,पृ. 57.
ज्ञातव्य है कि यापनीयतंत्र नामक मूल ग्रंथ प्राकृत भाषा में निबद्ध था, वर्त्तमान में यह ग्रंथ अनुपलब्ध है।
11. देखें - सूत्राण्यधीते, निर्युक्तीरधीते, - भाष्याण्यधीते ...।
-शाकटायनव्याकरणम्, अमोघवृत्ति- 4/4/140 और भी देखें 1/2/203-204.
12. जैन साहित्य और इतिहास, पं. नाथूरामजी प्रेमी, पृ. 158.
13. उपसर्वगुप्तं व्याख्यातारः - शाकटायन व्याकरणम् अमोघवृत्ति 1/3/104.
14. देखें - शाकटायन व्याकरणम्, सं.- पं. शंभुनाथ त्रिपाठी, Introduction Page 17 एवं जैन साहित्य और इतिहास, पृ. 159.
15. नन्दीसूत्र, मलयगिरि टीका, पृ. 23.
16. जैन साहित्य और इतिहास, पं. नाथूरामजी प्रेमी, पृ. 161.
17. जैन शिलालेख संग्रह, भाग 2, लेख क्रमांक 124.
18. जैन साहित्य और इतिहास,पं. नाथूरामजी प्रेमी, पृ. 167.
19. जैन धर्म का यापनीय सम्प्रदाय, डॉ. सागरमल जैन, पृ. 207
20. जैन शिलालेख संग्रह, भाग 2, लेख क्रमांक 160.
21. ये दोनों ग्रंथ शाकटायन व्याकरणम्, सम्पादक- पं. शम्भूनाथ त्रिपाठी, प्रकाशक - भारतीय ज्ञानपीठ, मूर्त्तिदेवी ग्रंथमाला ग्रंथांक 39, के अंतर्गत परिशिष्ट के रूप में ग्रंथ की भूमिका के पश्चात् छपे हैं।
22. वस्त्र बिना न चरणं स्त्रीणामित्यईतोच्यते, विनाऽपि।
पुंसामिति न्वयार्यत, तत्र स्थविरादिवद् मुक्तिः॥
अर्शोभगन्दरादिषु गृहीतचीरो यतिर्न मुच्यते।
उपसर्गे वा चीरेगदादिः संन्यस्यते चात्ते॥

- स्त्रीमुक्ति प्रकरण, कारिका, 16-17.

13. आचार्य हेमचंद्र : एक युगपुरुष
(ईस्वी सन् की 12वीं शती)

आचार्य हेमचंद्र भारतीय मनीषारूपी आकाश के एक देदीप्यमान नक्षत्र हैं। विद्योपासक श्वेताम्बर जैन आचार्यों में बहुविध और विपुल साहित्यस्रष्टा के रूप में आचार्य हरिभद्र के बाद यदि कोई महत्त्वपूर्ण नाम है तोवह आचार्य हेमचंद्र का ही है। जिस प्रकार आचार्य हरिभद्र नेविविध भाषाओं में जैन विद्या की विविध विद्याओं पर विपुल साहित्य का सृजन किया था, उसी प्रकार आचार्य हेमचंद्र नेविविध विद्याओं पर विपुल साहित्य का सृजन किया है। आचार्य हेमचंद्र गुजरात की विद्वत् परम्परा के प्रतिभाशाली और प्रभावशाली जैन आचार्य हैं। उनके साहित्य में जोबहुविधता है वह उनके व्यक्तित्व एवं उनके ज्ञान की बहुविधता का परिचायिका है। काव्य, छन्द, व्याकरण, कोश, कथा, दर्शन, अध्यात्म और योग-साधना आदि सभी पक्षों कोआचार्य हेमचंद्र नेअपनी सृजनधर्मिता में समेट लिया है। धर्मसापेक्ष और धर्मनिरपेक्ष दोनों ही प्रकार के साहित्य के सृजन में उनके व्यक्तित्व की समानता का अन्य कोई नहीं मिलता है। जिस मोढ़वणिक जाति नेसम्प्रति युग में गांधी जैसेमहान् व्यक्ति कोजन्म दिया उसी मोढ़वणिक जाति नेआचार्य हेमचंद्र कोभी जन्म दिया था।

आचार्य हेमचंद्र का जन्म गुजरात के धन्धुका नगर में श्रेष्ठि चाचिग तथा माता पाहिणी की कुक्षि सेई. सन् 1088 में हुआ था। जोसूचनाएं उपलब्ध हैं उनके आधार पर यह माना जाता है कि हेमचंद्र के पिता शैव और माता जैनधर्म की अनुयायी थीं।1 आज भी गुजरात की इस मोढ़वणिक जाति में वैष्णव और जैन दोनों धर्मों के अनुयायी पाए जातेहैं। अतः हेमचंद्र के पिता चाचिग के शैवधर्मावलम्बी और माता पाहिणी के जैनधर्मावलम्बी होनेमें कोई विरोध नहीं है, क्योंकि प्राचीनकाल सेही भारतवर्ष में ऐसेअनेक परिवार रहेहैं, जिनके सदस्य भिन्न-भिन्न धर्मों के अनुयायी होतेथे। सम्भवतः पिता के शैवधर्मावलम्बी और माता के जैनधर्मावलम्बी होनेके कारण ही हेमचंद्र के जीवन में धार्मिक समन्वयशीलता के बीज अधिक विकसित होसके। दूसरेशब्दों में धर्मसमन्वय की जीवनदृष्टि तोउन्हें अपनेपारिवारिक परिवेश सेही मिली थी।

आचार्य देवचंद्र जोकि आचार्य हेमचंद्र के दीक्षागुरु थे, स्वयं भी प्रभावशॉली आचार्य थे। उन्होंनेबालक चंगदेव (हेमचंद्र के जन्म का नाम) की प्रतिभा कोसमझ लिया था, इसलिए उन्होंनेउनकी माता सेउन्हें बाल्यकाल में ही प्राप्त कर लिया।

आचार्य हेमचंद्र कोउनकी अल्प बाल्यावस्था में ही गुरु द्वारा दीक्षा प्रदान कर दी गई और विधिवत रूप सेउन्हें धर्म, दर्शन और साहित्य का अध्ययन करवाया गया। वस्तुतः हेमचंद्र की प्रतिभा और देवचंद्र के प्रयत्न नेबालक के व्यक्तित्व कोएक महनीयता प्रदान की। हेमचंद्र का व्यक्तित्व भी उनके साहित्य की भांति बहु-आयामी था। वेकुशल राजनीतिज्ञ, महान् धर्मप्रभावक, लोक-कल्याणकर्त्ता एवं अप्रतिम विद्वान् सभी कुछ थे। उनके महान् व्यक्तित्व के सभी पक्षों कोउजागर कर पाना तोयहां सम्भव नहीं है, फिर भी मैं कुछ महत्त्वपूण पक्षों पर प्रकाश डालनेका प्रयत्न अवश्य करूंगा।

हेमचंद्र की धार्मिक सहिष्णुता

यह सत्य है कि आचार्य हेमचंद्र की जैनधर्म के प्रति अनन्य निष्ठा थी, किंतु साथ ही वेअन्य धर्मों के प्रति सहिष्णु भी थे। उन्हें यह गुण अपनेपरिवार सेही विरासत में मिला था। जैसा कि सामान्य विश्वास है, हेमचंद्र की माता जैन और पिता शैव थे। एक ही परिवार में विभिन्न धर्मों के अनुयायियों की उपस्थिति उस परिवार की सहिष्णुवृत्ति की ही परिचायक होती है। आचार्य की इस कुलगत सहिष्णुवृति कोजैनधर्म के अनेकान्तवाद की उदार दृष्टि सेऔर अधिक बल मिला। यद्यपि यह सत्य है कि अन्य जैन आचार्यों के समान हेमचंद्र नेभी 'अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका' नामक समीक्षात्मक ग्रंथ लिखा और उसमें अन्य दर्शनों की मान्यताओं की समीक्षा भी की। किंतु इससेयह अनुमान नहीं लगाना चाहिए कि हेमचंद्र में धार्मिक उदारता नहीं थी। वस्तुतः हेमचंद्र जिस युग में हुए थे, वह युग दार्शनिक वाद-विवाद का युग था। अतः हेमचंद्र की यह विवशता थी कि वेअपनी परम्परा की रक्षा के लिए अन्य दर्शनों की मान्यताओं का तार्किक समीक्षा कर परपक्ष का खण्डन और स्वपक्ष का मण्डन करें। किंतु यदि हेमचंद्र की 'महादेवस्तोत्र' आदि रचनाओं एवं उनके व्यावहारिक जीवन कोदेखें तोहमें यह मानना होगा कि उनके जीवन में और व्यवहार में धार्मिक उदारता विद्यमान थी। कुमारपाल के पूर्व वेजयसिंह सिद्धराज के सम्पर्क में थे, किंतु उनके जीवनवृत्त सेहमें ऐसा कोई संकेत-सूत्र नहीं मिलता कि उन्होंनेकभी भी सिद्धराज कोजैनधर्म का अनुयायी बनानेका प्रयत्न किया हो। मात्र यही नहीं, जयसिंह सिद्धराज के दरबार में रहतेहुए भी उन्होंनेकभी किसी अन्य परम्परा के विद्वान् की उपेक्षा या अवमानना की हो, ऐसा भी कोई उल्लेख नहीं मिलता।2 यद्यपि कथानकों में जयसिंह सिद्धराज के दरबार में उनके दिगम्बर जैन आचार्य के साथ हुए वाद-विवाद का उल्लेख

अवश्य है, परंतु उसमें भी मुख्य वादी के रूप में हेमचंद्र न होकर बृहद्गच्छीय वादिदेवसूरि ही थे। यह भी सत्य है कि हेमचंद्र सेप्रभावित होकर कुमारपाल नेजैनधर्मानुयायी बनकर जैनधर्म की पर्याप्त प्रभावना की, किंतु कुमारपाल के धर्म-परिवर्तन या उनकोजैन बनानेमें हेमचंद्र का कितना हाथ था, यह विचारणीय है। वस्तुतः हेमचंद्र के द्वारा न केवल कुमारपाल की जीव-रक्षा हुई थी, अपितु उसेराज्य भी मिला था। यह तोआचार्य के प्रति उसकी अत्यधिक निष्ठा ही थी, जिसनेउसेजैनधर्म की ओर आकर्षित किया। यह भी सत्य है कि हेमचंद्र नेउसके माध्यम सेअहिंसा और नैतिक मूल्यों का प्रसार करवाया और जैनधर्म की प्रभावना भी करवाई, किंतु कभी भी उन्होंनेराजा में धार्मिक कट्टरता का बीज नहीं बोया। कुमारपाल सम्पूर्ण जीवन में शैवों के प्रति भी उतना ही उदार रहा, जितना वह जैनों के प्रति था। यदि हेमचंद्र चाहतेतोउसेशैवधर्म सेपूर्णतः विमुख कर सकतेथे, पर उन्होंनेकभी ऐसा नहीं किया बल्कि उसेसदैव ही शैवधर्मानुयायियों के साथ उदार दृष्टिकोण रखनेका आदेश दिया। यदि हेमचंद्र में धार्मिक संकीर्णता होती तोवेकुमारपाल द्वारा सोमनाथ मंदिर का जीर्णोद्धार करा कर उसकी प्रतिष्ठा में स्वयं भाग क्यों लेते? अथवा स्वयं महादेवस्तोत्र की रचना कर राजा के साथ स्वयं भी महादेव की स्तुति कैसेकर सकतेथे? उनके द्वारा रचित महादेवस्तोत्र इस बात का प्रमाण है कि वेधार्मिक उदारता के समर्थक थे। स्तोत्र में उन्होंनेशिव, महेश्वर, महादेव आदि शब्दों की सुंदर और सम्प्रदाय निरपेक्ष व्याख्या करतेहुए अंत में यही कहा है कि संसार रूपी बीज के अंकुरों कोउत्पन्न करनेवालेराग और द्वेष जिसके समाप्त होगए हों उन्हें मैं नमस्कार करता हूं, चाहेवेब्रह्मा हों, विष्णु हों, महादेव हों अथवा जिन हों।3

धार्मिक सहिष्णुता का अर्थ मिथ्या-विश्वासों का पोषण नहीं

यद्यपि हेमचंद्र धार्मिक सहिष्णुता के समर्थक हैं, फिर भी वेइस संदर्भ में सतर्क हैं कि धर्म के नाम पर मिथ्याधारणाओं और अंधविश्वासों का पोषण न हो। इस संदर्भ में वेस्पष्ट रूप सेकहतेहैं कि जिस धर्म में देव या उपास्य रागद्वेष सेयुक्त हों, धर्मगुरु अब्रह्मचारी हों और धर्म में करुणा व दया के भावों का अभाव हो, ऐसा धर्म वस्तुतः अधर्म ही है। उपास्य के सम्बंध में हेमचंद्र कोनामों का कोई आग्रह नहीं, चाहेवह ब्रह्मा हो, विष्णु हो, शिव होया जिन, किंतु उपास्य होनेके लिए वेएक शर्त अवश्य रख देतेहैं, वह यह कि उसेराग-द्वेष सेमुक्त होना चाहिए। वेस्वयं कहतेहैं कि-

भवबीजांकुरजननरागद्याक्षयमुपागतास्य।

ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरोवा जिनोवा नमस्तस्मै ॥4

इसी प्रकार गुरु के संदर्भ में भी उनका कहना है कि उसेब्रह्मचारी या चरित्रवान होना चाहिए। वेलिखतेहैं कि-

सर्वाभिलाषिणः सर्व भोजिनः सपरिग्रहः।

अब्रह्मचारिणोमिथ्योपदेशाः गुरवोन तु ॥5

अर्थात् जोआकांक्षा सेयुक्त हो, भोज्याभोज्य के विवेक सेरहित हो, परिग्रह सहित और अब्रह्मचारी तथा मिथ्या उपदेश देनेवाला हो, वह गुरु नहीं होसकता। वेस्पष्ट रूप सेकहतेहैं कि जोहिंसा और परिग्रह में आकण्ठ डूबा हो, वह दूसरों कोकैसे तार सकता है। जोस्वयं दीन होवह दूसरों कोधनाढ्य कैसेबना सकता है।6 अर्थात् चरित्रवान, निष्परिग्रही और ब्रह्मचारी व्यक्ति ही गुरु योग्य होसकता है। धर्म स्वरूप के सम्बंध में भी हेमचंद्र का दृष्टिकोण स्पष्ट है। वेस्पष्ट रूप सेयह मानतेहैं कि जिस साधनामार्ग में दया एवं करुणा का अभाव हो, जोविषयाकांक्षाओं की पूर्त्ति कोही जीवन का लक्ष्य मानता हो, जिसमें संयम का अभाव हो, वह धर्म नहीं होसकता। हिंसादि सेकलुषित धर्म, धर्म न होकर संसार-परिभ्रमण का कारण ही होता है।7

इस प्रकार हेमचंद्र धार्मिक सहिष्णुता कोस्वीकार करतेहुए भी इतना अवश्य मानतेहैं कि धर्म के नाम पर अधर्म का पोषण नहीं होना चाहिए। उनकी दृष्टि में धर्म का अर्थ कोई विशिष्ट कर्मकाण्ड न होकर करुणा और लोकमंगल सेयुक्त सदाचार का सामान्य आदर्श ही है। वेस्पष्टतः कहतेहैं कि संयम, शील और दया सेरहित धर्म मनुष्य के बौद्धिक दिवालियेपन का ही सूचक है। वेआत्म-पीड़ा के साथ उद्घोष करतेहैं कि यह बड़े खेद की बात है कि जिसके मूल में क्षमा, शील और दया है, ऐसेकल्याणकारी धर्म कोछोड़कर मन्दबुद्धि लोग हिंसा कोभी धर्म मानतेहैं।8

इस प्रकार हेमचंद्र धार्मिक उदारता के कट्टर समर्थक होतेहुए भी धर्म के नाम पर आई हुई विकृतियों और चरित्रहीनता की समीक्षा करतेहैं।

सर्वधर्मसमभाव क्यों ?

हेमचंद्र की दृष्टि में सर्वधर्मसमभाव की आवश्यकता क्यों है, इसका निर्देश पं. बेचरदासजी नेअपने 'हेमचंद्राचार्य'9 नामक ग्रंथ में किया है। जयसिंह सिद्धराज

की सभा में हेमचंद्र नेसर्वधर्मसमभाव के विषय में जोविचार प्रस्तुत किए थे, वेपं.बेचरदासजी के शब्दों में निम्नलिखित हैं-

'हेमचंद्र कहतेहैं कि प्रजा में यदि व्यापक देश-प्रेम और शूरवीरता होकिंतु यदि धार्मिक उदारता न होतोदेश की जनता खतरेमें ही होगी, यह निश्चित ही समझना चाहिए। धार्मिक उदारता के अभाव में प्रेम संकुचित होजाता है और शूरवीरता एक उन्मत्तता का रूप लेलेती है। ऐसेउन्मत्त लोग खून की नदियों कोबहानेमें भी नहीं चूकतेऔर देश उजाड़ होजाता है। सोमनाथ के पवित्र देवालय का नष्ट होना इसका ज्वलन्त प्रमाण है। दक्षिण में धर्म के नाम पर जोसंघर्ष हुआ उनमें हजारों लोगों की जानेगईं। यह हवा गुजरात की ओर बहनेलगी है, किंतु हमें विचारना चाहिए कि यदि गुजरात में इस धर्मान्धता का प्रवेश होगया, तोहमारी जनता और राज्य कोविनष्ट होनेमें कोई समय नहीं लगेगा। आगेवेपुनः कहतेहैं कि जिस प्रकार गुजरात के महाराज्य के विभिन्न देश अपनी विभिन्न भाषाओं, वेशभूषाओं और व्यवसायों कोकरतेहुए सभी महाराजा सिद्धराज की आज्ञा के वशीभूत होकर कार्य करतेहैं, उसी प्रकार चाहेहमारेधार्मिक क्रियाकलाप भिन्न हों, फिर भी उनमें विवेक-दृष्टि रखकर सभी कोएक परमात्मा की आज्ञा के अनुकूल रहना चाहिए। इसी में देश और प्रजा का कल्याण है। यदि हम सहिष्णुवृत्ति सेन रहकर, धर्म के नाम पर यह विवाद करेंगेकि यह धर्म झूठा है और यह धर्म सच्चा है, यह धर्म नया है यह धर्म पुराना है, तोहम सबका ही नाश होगा। आज हम जिस धर्म का आचरण कर रहेहैं, वह कोई शुद्ध धर्म न होकर शुद्ध धर्म कोप्राप्त करनेके लिए योग्यताभेद के आधार पर बनाए गए भिन्न-भिन्न साम्प्रदायिक बंधारण मात्र हैं। हमें यह ध्यान रहेकि शस्त्रों के आधार पर लड़ा गया युद्ध तोकभी समाप्त होजाता है, परंतु शास्त्रों के आधार पर होनेवालेसंघर्ष कभी समाप्त नहीं होते, अतः धर्म के नाम पर अहिंसा आदि पांच व्रतों का पालन हो, संतों का समागम हो, ब्राह्मण, श्रमण और माता-पिता की सेवा हो, यदि जीवन में हम इतना ही पा सकें तोहमारी बहुत बड़ी उपलब्धि होगी।'

हेमचंद्र की चर्चा में धार्मिक उदारता के स्वरूप और उनके परिणामों का जोमहत्त्वपूर्ण उल्लेख है वह आज भी उतना ही प्रासंगिक है जितना कि कभी हेमचंद्र के समय में रहा होगा।

हेमचंद्र और गुजरात की सदाचार-क्रांति

हेमचंद्र नेसिद्धराज और कुमारपाल कोअपनेप्रभाव में लेकर गुजरात में जोसदाचार क्रांति की, वह उनके जीवन की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है और जिससेआज तक भी गुजरात का जनजीवन प्रभावित है। हेमचंद्र नेअपनेप्रभाव का उपयोग जनसाधारण कोअहिंसा और सदाचार की ओर प्रेरित करनेके लिए किया। कुमारपाल कोप्रभावित कर उन्होंनेइस बात का विशेष प्रयत्न किया कि जनसाधारण में सेहिंसकवृत्ति और कुसंस्कार समाप्त हों। उन्होंनेशिकार और पशु बलि के निषेध के साथ-साथ मद्यपान निषेध, द्यूतक्रीड़ा-निषेध के आदेश भी राजा सेपारित कराए। आचार्य नेन केवल इस सम्बंध में राज्यादेश निकलवाए, अपितु जन-जन कोराज्यादेशों के पालन हेतु प्रेरित भी किया और सम्पूर्ण गुजरात और उसके सीमावर्ती प्रदेश में एक विशेष वातावरण निर्मित कर दिया। उस समय के गुजरात की स्थिति का कुछ चित्रण हमें हेमचंद्र के महावीरचरित में मिलता है। उसमें कहा गया है कि 'राजा के हिंसा और शिकारनिषेध का प्रभाव यहां तक हुआ कि असंस्कारी कुलों में जन्म लेनेवालेव्यक्तियों नेभी खटमल और जूं जैसेसूक्ष्म जीवों की हिंसा बंद कर दी। शिकार बंद होजानेसेजीव-जंतु जंगलों में उसी निर्भयता सेघूमनेलगे, जैसेगौशाला में गायें। राज्य में मदिरापान इस प्रकार बंद होगया कि कुम्भारों की मद्यभाण्ड बनाना भी बंद करना पड़ा। मद्यपान के कारण जोलोग अत्यंत दरिद्र होगए थे, वेइसका त्याग कर फिर सेधनी होगए। सम्पूर्ण राज्य में द्यूतक्रीड़ा का नामोनिशान ही समाप्त होगया' 10 इस प्रकार हेमचंद्र नेअपनेप्रभाव का उपयोग कर गुजरात में व्यसनमुक्त संस्कारी जीवन की जोक्रांति की थी, उसके तत्त्व आज तक गुजरात के जनजीवन में किसी सीमा तक सुरक्षित हैं। वस्तुतः यह हेमचंद्र के व्यक्तित्व की महानता ही थी जिसके परिणामस्वरूप एक सम्पूर्ण राज्य में संस्कार क्रांति होसकी।

स्त्रियों और विधवाओं के संरक्षक हेमचंद्र

यद्यपि हेमचंद्र नेअपने 'योगशास्त्र' में पूर्ववर्ती जैनाचार्यों के समान ही ब्रह्मचर्य के साधक कोअपनी साधना में स्थिर रखनेके लिए नारी-निंदा की है। वेकहतेहैं कि स्त्रियों में स्वभाव सेही चंचलता, निर्दयता और कुशीलता के दोष होतेहैं। एक बार समुद्र की थाह पाई जा सकती है, किंतु स्वभाव सेकुटिल, दुश्चरित्र कामिनियों के स्वभाव की थाह पाना कठिन है।11 किंतु इसके आधार पर यह मान

लेना कि हेमचंद्र स्त्री जाति के मात्र आलोचक थे, गलत होगा। हेमचंद्र नेनारी जाति की प्रतिष्ठा और कल्याण के लिए जोमहत्त्वपूर्ण कार्य किया, उसके कारण वेयुगों तक याद किए जाएंगे। उन्होंनेकुमारपाल कोउपदेश देकर विधवा और निस्सन्तान स्त्रियों की सम्पत्ति कोराज्यसात किए जानेकी क्रूर-प्रथा कोसम्पूर्ण राज्य में सदैव के लिए बंद करवाया और इस माध्यम सेन केवल नारी-जाति कोसम्पत्ति का अधिकार दिलवाया,12 अपितु उनकी सामाजिक जीवन में प्रतिष्ठा भी की और अनेकानेक विधवाओं कोसंकटमय जीवन सेउबार दिया। अतः हम कह सकतेहैं कि हेमचंद्र नेनारी कोउसकी खोई हुई प्रतिष्ठा प्रदान की।

प्रजारक्षक हेमचंद्र

हेमचंद्र की दृष्टि में राजा का सबसेमहत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य अपनी प्रजा के सुख-दुःख का ध्यान रखना है। हेमचंद्र राजगुरु होकर जनसाधारण के निकट सम्पर्क में थे। एक समय वेअपनेकिसी अति निर्धन भक्त के यहां भिक्षार्थ गए और वहां सेसूखी रोटी और मोटा खुरदुरा कपड़ा भिक्षा में प्राप्त किया। वही मोटी रोटी खाकर और मोटा वस्त्र धारण कर वेराजदरबार में पहुंचे। कुमारपाल नेजब उन्हें अन्यमनस्क, मोटा कपड़ा पहनेदरबार में देखा, तोजिज्ञासा प्रकट की, कि मुझसेक्या कोई गलती होगई है? आचार्य हेमचंद्र नेकहा- 'हम तोमुनि हैं, हमारेलिए तोसूखी रोटी और मोटा कपड़ा ही उचित है, किंतु जिस राजा के राज्य में प्रजा कोइतना कष्टमय जीवन बिताना होता है, वह राजा अपनेप्रजा-धर्म का पालक तोनहीं कहा जा सकता। ऐसा राजा नरकेसरी होनेके स्थान पर नरकेश्वरी ही होता है। एक ओर अपार स्वर्ण-राशि और दूसरी ओर तन ढकनेका कपड़ा और खानेके लिए सूखी रोटी का अभाव, यह राजा के लिए उचित नहीं है।' कहा जाता है कि हेमचंद्र के इस उपदेश सेप्रभावित होराजा नेआदेश दिया कि नगर में जोभी अत्यंत गरीब लोग हैं, उनकोराज्य की ओर सेवस्त्र और खाद्य-सामग्री प्रदान की जाए।13

इस प्रकार हम देखतेहैं कि हेमचंद्र यद्यपि स्वयं एक मुनि का जीवन जीतेथे, किंतु लोकमंगल और लोककल्याण के लिए तथा निर्धन जनता के कष्ट दूर करनेके लिए वेसदा तत्पर रहतेथेऔर इसके लिए राजदरबार में भी अपनेप्रभाव का प्रयोग करतेथे।

समाजशास्त्री हेमचंद्र

स्वयं मुनि होतेहुए भी हेमचंद्र पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन की सुव्यवस्था के लिए सजग थे। वेएक ऐसेआचार्य थेजोजनसाधारण के सामाजिक जीवन के उत्थान कोभी धर्माचार्य का आवश्यक कर्त्तव्य मानतेथे। उनकी दृष्टि में धार्मिक होनेकी आवश्यक शर्त यह भी थी कि व्यक्ति एक सभ्य समाज के सदस्य के रूप में जीना सीखे। एक अच्छा नागरिक होना धार्मिक जीवन में प्रवेश करनेकी आवश्यक भूमिका है। अपनेग्रंथ 'योगशास्त्र' में उन्होंनेस्पष्ट रूप सेयह उल्लेख किया है कि श्रावकधर्म का अनुसरण करनेके पूर्व व्यक्ति एक अच्छे नागरिक का जीवन जीना सीखे। उन्होंनेऐसे35 गुणों का निर्देश किया है, जिनका पालन एक अच्छे नागरिक के लिए आवश्यक रूप सेवांछनीय है। वेलिखतेहैं कि - '1. न्यायपूर्वक धन-सम्पत्ति कोअर्जित करनेवाला, 2. सामान्य शिष्टाचार का पालन करनेवाला, 3. समान कुल और शील वाली अन्य गोत्र की कन्या सेविवाह करनेवाला, 4. पापभीरु, 5. प्रसिद्ध देशाचार का पालन करनेवाला, 6. निंदा का त्यागी, 7. ऐसेमकान में निवास करनेवाला जोन तोअधिक खुला होन अति गुप्त, 8. सदाचार व्यक्तियों के सत्संग में रहनेवाला, 9. माता-पिता की सेवा करनेवाला, 10. अशांत तथा उपद्रव युक्त सत्संग स्थान कोत्याग देनेवाला, 11. निंदनीय कार्य में प्रवृत्ति न करनेवाला, 12. आय के अनुसार व्यय करनेवाला, 13. सामाजिक प्रतिष्ठा एवं समृद्धि के अनुसार वस्त्र धारण करनेवाला, 14. बुद्धि के आठ गुणों सेयुक्त, 15. सदैव धर्मोपदेश का श्रवण करनेवाला, 16. अजीर्ण के समय भोजन का त्याग करनेवाला, 17. भोजन के अवसर पर स्वास्थ्यप्रद भोजन करनेवाला, 18. धर्म, अर्थ और काम इन तीनों वर्गों का परस्पर विरोध-रहित भाव सेसेवन करनेवाला, 19. यथाशक्ति अतिथि, साधु एवं दीन-दुःखियों की सेवा करनेवाला, 20. मिथ्या-आग्रहों सेसदा दूर रहनेवाला, 21. गुणों का पक्षपाती, 22. निषिद्ध देशाचार और कालाचार का त्यागी, 23. अपनेबलाबल का सम्यक् ज्ञान करनेवाला और अपनेबलाबल का विचार कर कार्य करनेवाला, 24. व्रत, नियम में स्थिर, ज्ञानी एवं वृद्धजनों का पूजा, 25. अपनेआश्रितों का पालन-पोषण करनेवाला, 26. दीर्घदर्शी, 27. विशेषज्ञ, 28. कृतज्ञ, 29. लोकप्रिय, 30. लज्जावान, 31. दयालु, 32. शांतस्वभावी, 33. परोपकार करनेमें तत्पर, 34. कामक्रोधादि अंतरंग शत्रुओं पर विजय प्राप्त करनेवाला

और 35. अपनी इंद्रियों कोवश में रखनेवाला व्यक्ति ही गृहस्थ धर्म के पालन करनेयोग्य है'।14

वस्तुतः इस समग्र चर्चा में आचार्य हेमचंद्र नेएक योग्य नागरिक के सारेकर्त्तव्यों और दायित्वों का संकेत कर दिया है और इस प्रकार ऐसी जीवनशैली का निर्देश किया है जिसके आधार पर सामंजस्य और शांतिपूर्ण समाज का निर्माण किया जा सकता है। इससेयह भी फलित होता है कि आचार्य हेमचंद्र सामाजिक और पारिवारिक जीवन की उपेक्षा करके नहीं चलते, वरन् वेउसेइतना ही महत्त्व देतेहैं जितना आवश्यक है और वेयह भी मानतेहैं कि धार्मिक होनेके लिए एक अच्छा नागरिक होना आवश्यक है।

हेमचंद्र की साहित्य साधना15

हेमचंद्र नेगुजरात की ओर भारतीय संस्कृति कोजोमहत्त्वपूर्ण अवदान दिया है, वमह मुख्यरूप सेउनकी साहित्यिक प्रतिभा के कारण ही है। इन्होंनेअपनी साहित्यिक प्रतिभा के बल पर ही विविध विद्याओं में ग्रंथ की रचना की। जहां एक ओर उन्होंनेअभिधान-चिन्तामणि, अनेकार्थसंग्रह, निघंटुकोष और देशीनाममाला जैसेशब्दकोषों की रचना की, वहीं दूसरी ओर सिद्धहेम-शब्दानुशासन-लिंगानुशासन, धातुपारायण जैसेव्याकरण ग्रंथ भी रचे। कोश और व्याकरण ग्रंथों के अतिरिक्त हेमचंद्र नेकाव्यानुशासन जैसेअलंकार ग्रंथ और छन्दोनुशासन जैसेछन्दशास्त्र के ग्रंथ की रचना भी की। विशेषता यह है कि इन सैद्धांतिक ग्रंथों में उन्होंनेसंस्कृत भाषा के साथ-साथ प्राकृत और अपभ्रंश के उपेक्षित व्याकरण की भी चर्चा की। इन सिद्धांतों के प्रायोगिक पक्ष के लिए उन्होंनेसंस्कृत-प्राकृत में द्वयाश्रय जैसेमहाकाव्य की रचना की है। हेमचंद्र मात्र साहित्य के ही विद्वान नहीं थे, अपितु धर्म और दर्शन के क्षेत्र में भी उनकी गति निर्बाध थी। दर्शन के क्षेत्र में उन्होंनेअन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका, अयोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका और प्रमाणमीमांसा जैसेप्रौढ़ ग्रंथ रचेतोधर्म के क्षेत्र में योगशास्त्र जैसेसाधनाप्रधान ग्रंथ की भी रचना की। कथा साहित्य में उनके द्वारा रचित त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित का अपना विशिष्ट महत्त्व है। हेमचंद्र नेसाहित्य, काव्य, धर्म और दर्शन जिस किसी विधा कोअपनाया, उसेएक पूर्णता प्रदान की। उनकी इस विपुल साहित्यसर्जना का ही परिणाम था कि उन्हें कलिकालसर्वज्ञ की उपाधि प्रदान की गई।

साहित्य के क्षेत्र में हेमचंद्र के अवदान कोसमझनेके लिए उनके द्वारा रचित ग्रंथों का किंचित् मूल्यांकन करना होगा। यद्यपि हेमचंद्र के पूर्व व्याकरण के क्षेत्र में पाणिनीय व्याकरण का अपना महत्त्व था, उस पर अनेक वृत्तियां और भाष्य लिखेगए, फिर भी वह विद्यार्थियों के लिए दुर्बोध ही था। व्याकरण के अध्ययन की नई, सहज एवं बोधगम्य प्रणाली कोजन्म देनेका श्रेय हेमचंद्र कोहै। वह हेमचंद्र का ही प्रभाव था कि परवर्तीकाल में ब्राह्मण परम्परा में इसी पद्धति कोआधार बनाकर ग्रंथ लिए गए और पाणिनि के अष्टाध्यायी की प्रणाली पठन-पाठन सेधीरे-धीरेउपेक्षित होगई। हेमचंद्र के व्याकरण की एक विशेषता तोयह है कि आचार्य नेस्वयं उसकी वृत्ति के कतिपय शिक्षा-सूत्रों कोउद्धृत किया है। उनके व्याकरण की दूसरी विशेषता यह है कि उनमें संस्कृत के साथ-साथ प्राकृत के व्याकरण भी दिए गए हैं। व्याकरण के समान ही उनके कोशग्रंथ, काव्यानुशासन और छन्दानुशासन जैसेसाहित्यिक सिद्धांत-ग्रंथ भी अपना महत्त्व रखतेहैं। त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित और परिशिष्टपर्व के रूप में उन्होंनेजैनधर्म की पौराणिक और ऐतिहासिक सामग्री का जोसंकलन किया है, वह भी निश्चय ही महत्त्वपूर्ण है। यहां उनकी योग शास्त्र, प्रमाणमीमांसा आदि सभी कृतियों का मूल्यांकन सम्भव नहीं है, किंतु परवर्ती साहित्यकारों द्वारा किया गया उनका अनुकरण इस बात कोसिद्ध करता है कि उनकी प्रतिभा सेन केवल उनका शिष्यमण्डल अपितु परवर्ती जैन या जैनेतर विद्वान् भी प्रभावित हुए। मुनि श्री पुण्यविजयजी नेहेमचंद्र की समग्र कृतियों का जोश्लोक-परिमाण दिया है, उससेपता लगता है कि उन्होंनेदोलाख श्लोक-परिमाण साहित्य की रचना की है जोउनकी सृजनधर्मिता के महत्त्व कोस्पष्ट करती है।

साधक हेमचंद्र

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि एक महान् साहित्यकार और प्रभावशाली राजगुरु होतेहुए भी मूलतः हेमचंद्र एक आध्यात्मिक साधक थे। यद्यपि हेमचंद्र का अधिकांश जीवन साहित्य-सृजन के साथ-साथ गुजरात में जैनधर्म के प्रचार-प्रसार तथा वहां की राजनीति में अपनेप्रभाव कोयथावत् बनाए रखनेमें बीता, किंतु कालांतर में गुरु सेउलाहना पाकर हेमचंद्र की प्रसुप्त अध्यात्मनिष्ठा पुनः जाग्रत होगई थी। कुमारपाल नेजब हेमचंद्र सेअपनी कीर्ति कोअमर करनेका उपाय पूछा तोउन्होंनेदोउपाय बताए- 1. सोमनाथ के मंदिर का जीर्णोद्धार और 2. समस्त देश कोऋणमुक्त करके विक्रमादित्य के समान अपना संवत् चलाना। कुमारपाल कोदूसरा

उपाय अधिक उपयुक्त लगा, किंतु समस्त देश कोऋणमुक्त करनेके लिए जितनेधन की आवश्यकता थी, उतना उसके पास नहीं था, अतः उसनेगुरु हेमचंद्र सेधन-प्राप्ति का उपाय पूछा। इस समस्या के समाधान हेतु यह उपाय सोचा गया कि हेमचंद्र के गुरु देवचंद्रसूरि कोपाटन बुलवाया जाए और उन्हें जोस्वर्णसिद्धि विद्या प्राप्त है, उसके द्वारा अपार स्वर्णराशि प्राप्त करके समस्त प्रजा कोऋणमुक्त किया जाए। राजा, अपनेप्रिय शिष्य हेमचंद्र और पाटन के श्रावकों के आग्रह पर देवचंद्रसूरि पाटण आए, किंतु जब उन्हें अपनेपाटण बुलाए जानेके उद्देश्य का पता चला तो, न केवल वेपाटण सेप्रस्थान कर गए, अपितु उन्होंनेअपनेशिष्य कोअध्यात्म साधना सेविमुख होलोकैषणा में पड़नेका उलाहना भी दिया और कहा कि लौकिक प्रतिष्ठा अर्जित करनेकी अपेक्षा पारलौकिक प्रतिष्ठा के लिए भी कुछ प्रयत्न करो। जैनधर्म की ऐसी प्रभावना भी जिसके कारण तुम्हारा अपना आध्यात्मिक विकास ही कुंठित होजाए तुम्हारेलिए किस काम की? कहा जाता है कि गुरु के इस उलाहनेसेहेमचंद्र कोअपनी मिथ्या महत्त्वाकांक्षा का बोध हुआ और वेअन्तर्मुख होअध्यात्म साधना की ओर प्रेरित हुए।16 येयह विचार करनेलगेकि मैंनेलोकैषणा में पड़कर न केवल अपनेआपकोसाधना सेविमुख किया, अपितु गुरु की साधना में भी विघ्न डाला। पश्चाताप की यह पीड़ा हेमचंद्र की आत्मा कोबराबर कचोटती रही, जोइस तथ्य की सूचक है कि हेमचंद्र मात्र साहित्यकार या राजगुरु ही नहीं थे, अपितु आध्यात्मिक साधक भी थे।

वस्तुतः हेमचंद्र का व्यक्तित्व इतना व्यापक और महान् है कि उसेसमग्रतः शब्दों की सीमा में बांध पाना सम्भव नहीं है। मात्र यही नहीं, उस युग में रहकर उन्होंनेजोकुछ सोचा और कहा था वह आज भी प्रासंगिक है। काश! हम उनके महान् व्यक्तित्व सेप्रेरणा लेकर हिंसा, वैमनस्य और संघर्ष की वर्त्तमान त्रासदी सेभारत कोबचा सकते।

संदर्भ -

1. हेमचंद्राचार्य (पं. बेचरदास जीवराज दोशी), पृ. 123.
2. आचार्य हेमचंद्र (वि.भा. मूसलगांवकर), पृ. 191.
3. देखें : महादेवस्तोत्र (आत्मानन्द सभा, भावनगर), पृ. 1-16
4. महादेवस्तोत्र, पृ. 44
5. योगशास्त्र, 2/9
6. वही, 2/10
7. वही, 2/13
8. वही, 1/40
9. हेमचंद्राचार्य, पृ. 53-56
10. देखें : महावीरचरित्र (हेमचंद्र), 65-75 (कुमारपाल के सम्बंध में महावीर की भविष्यवाणी)
11. योगशास्त्र, 2/84-85
12. हेमचंद्राचार्य, पृ. 77
13. वही, पृ. 101-104
14. योगशास्त्र, 1/47-56
15. देखें : आचार्य हेमचंद्र (वि.भा. मुसलगांवकर), अधाय 7
16. हेमचंद्राचार्य, पृ. 13-178.



प्राच्य विद्यापीठ : एक परिचय

डॉ. सागरमल जैन पारमार्थिक शिक्षण न्यास द्वारा सन् 1997 से संचालित प्राच्य विद्या पीठ, शाजापुर आगरा–मुम्बई मार्ग पर स्थित इस संस्थान का मुख्य उदेश्य भारतीय प्राच्य विद्याओं के उच्च स्तरीय अध्ययन, प्रशिक्षण एवं शोधकार्य के साथ–साथ भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों को पुनः प्रतिष्ठित करना है।

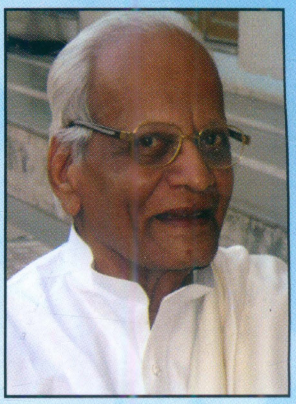
इस विद्यापीठ में जैन, बौद्ध और हिन्दु धर्म आदि के लगभग 12,000 दुर्लभ ग्रन्थ उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त 700 हस्तलिखित पाण्डुलिपियाँ भी है। यहाँ 40 पत्र पत्रिकाएँ भी नियमित आती है

इस परिसर में साधु–साध्वियों, शोधार्थियों और मुमुक्षुजनों के लिए अध्ययन–अध्यापन के साथ–साथ निवास, भोजन आदि की भी उत्तम व्यवस्था है।

शोधकार्य के मार्गदर्शन एवं शिक्षण हेतु डॉ. सागरमलजी जैन का सतत् सानिध्य प्राप्त है।

इसे विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन द्वारा शोध संस्थान के रुप में मान्यता प्रदान की गई है।

डॉ. सागरमल जैन



जन्म	:	दि. 22.02.1932
जन्म स्थान	:	शाजापुर (म.प्र.)
शिक्षा	:	साहित्यरत्न : 1954
		एम.ए. (दर्शन शास्त्र) : 1963
		पी–एच.डी. : 1969

अकादमिक उपलब्धियाँ :

प्रवक्ता (दर्शनशास्त्र) म.प्र. शास. शिक्षा सेवा:	1964–67
सहायक प्राध्यापक म.प्र. शास. शिक्षा सेवा :	1968–85
प्राध्यापक (प्रोफेसर) म.प्र. शास. शिक्षा सेवा :	1985–89
निदेशक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी	: 1979–1987 एवं 1989–1997
लेखन	: 49 पुस्तकें
सम्पादन	: 160 पुस्तकें
प्रधान सम्पादक	: जैन विद्या विश्वकोष (पार्श्वनाथ विद्यापीठ की महत्वाकांक्षी परियोजना)

पुरस्कार :

प्रदीपकुमार रामपुरिया पुरस्कार	: 1986 एवं 1998
स्वामी प्रणवानन्द पुरस्कार	: 1987
डिप्टीमल पुरस्कार	: 1992
आचार्य हस्तीमल स्मृति सम्मान	: 1994
विद्यावारधि सम्मान	: 2003
प्रेसीडेन्सीयल अवार्ड ऑफ जैना यू.एस.ए	: 2007
वागार्थ सम्मान (म.प्र. शासन)	: 2007
गौतम गणधर सम्मान (प्राकृत भारती)	: 2008
आर्चाय तुलसी प्राकृत सम्मान	: 2009
विद्याचन्द्रसूरी सम्मान	: 2011
समता मनीषी सम्मान	: 2012
सदस्य : अकादमिक संस्थाएँ	: पूर्व सदस्य – विद्वत परिषद, भोपाल विश्वविद्यालय, भोपाल सदस्य – जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ
	: पूर्व सदस्य – मानद निदेशक, आगम, अहिंसा, समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर।
सम्प्रति	: संस्थापक – प्रबंध न्यासी एवं निदेशक प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र) पूर्वसचिव:पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी
विदेश भ्रमण	: यू.एस.ए. , शिकागों, राले, ह्यूटन, न्यूजर्सी, उत्तरीकरोलीना, वाशिंगटन, सेनफ्रांसिस्को, लॉस एंजिल्स, फिनीक्स, सेंट लूईस, पिट्सबर्ग, टोरण्टों, (कनाड़ा) न्यूयार्क, लन्दन (यू.के.) और काटमाडूं (नेपाल)

Printed at Akrati Offset, UJJAIN Ph. 0734-2561720